आधुनिक हिन्दी-निबंध

सुरेशचंद्र गुप्त – कृष्णचंद्र विद्यालंकार

भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली

आधुनिक हिन्दी-निबन्ध

[उच्च कोटि के साहित्यिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा विचारपूर्ण मौलिक निबन्ध]

लेखक

प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त
देशबन्धु कॉलिज
कालका जी, नई दिल्ली

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार
सम्पादक
'सम्पदा', दिल्ली

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा — दिल्ली

स० चन्द एण्ड कम्पनी
सफअली रोड : नई दिल्ली
फव्वारा : दिल्ली
ला बाग : लखनऊ
माईरां गेट : जालन्धर

प्रथम संस्करण १९५६
द्वितीय संस्करण १९५७

मूल्य ४)

गौरीशंकर शर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
एवं राकेश प्रेस, अज़ीज़ गंज, दिल्ली, में मुद्रित

आधुनिक हिन्दी-निबन्ध

प्रथम खण्ड

साहित्यिक निबन्ध

दो शब्द

हिन्दी में निबन्ध-साहित्य का विकास आधुनिक युग की देन है। इससे पूर्व हिन्दी में गद्य-लेखन-शैली का अभाव होने के कारण हिन्दी लेखकों का निबन्ध रचना की ओर बहुत कम ध्यान गया था। भारतेन्दु-युग में हिन्दी साहित्यकार निबन्ध लिखने की ओर आकृष्ट हुए। तब से अब तक निबन्ध-साहित्य की ओर निरन्तर ध्यान दिया जा रहा है, यद्यपि उसकी प्रगति पर बहुत सन्तोष प्रकट नहीं किया जा सकता।

मानव-जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं और विभिन्न कमियों के कारण साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म, इतिहास आदि विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखे जाते हैं। इन निबन्धों से दो लाभ होते हैं। एक तो पाठक का सामान्य ज्ञान विविध विषयों के निबन्धों के पढ़ने से बहुत बढ़ जाता है और दूसरा यह कि पाठक को प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करने और लिखने की भी प्रेरणा प्राप्त होती है।

इससे पूर्व कई निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनमें कुछ तो केवल साहित्यिक निबन्धों के ही संग्रह है। परीक्षाओं में साहित्यिक निबन्धों के अतिरिक्त विभिन्न सामयिक विषयों पर भी निबन्ध पूछे जाते हैं। इस प्रकार की एक उपयोगी पुस्तक की कमी थी जो पाठक को साहित्यिक निबन्धों की जानकारी के साथ ही साथ आर्थिक, सामाजिक, राजनीनिक आदि आवश्यक विषयों का परिचय दे। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति के लिए तैयार कराई गई है। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि सब प्रमुख विषयों पर सामग्री आ जाय।

साहित्यिक निबन्ध की प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डों में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में ४६ निबन्ध दिए गए हैं। इस खण्ड के सभी लेख श्री सुरेशचन्द्र गुप्त ने लिखे है। आप स्थानीय देशबन्धु कॉलिज में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। आपके कई वर्षो से साहित्य-विषयक निबन्ध 'सरस्वती-संवाद', 'साहित्य-संदेश' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अब तक आपके कई समीक्षात्मक

लेखों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्य के व्यापक क्षेत्र को सामने रखकर साहित्यिक लेख लिखे गए हैं जो प्रायः पूछे जाते हैं। इन निबन्धों से हिन्दी-साहित्य के इतिहास और विशेषकर हिन्दी-काव्य के विकास और हिन्दी गद्य के विकास के बारे में विद्यार्थियों को पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

द्वितीय खण्ड में सामयिक तथा आवश्यक विषयों पर निबन्ध हैं। इस खण्ड के सभी लेख श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार के हैं। आप हिन्दी की आर्थिक विषयों से सम्बद्ध एकमात्र पत्रिका 'सम्पदा' के सम्पादक हैं और इससे पूर्व आप 'वीर अर्जुन' के दीर्घकाल तक सम्पादक रह चुके हैं। आपका सामयिक विषयों का ज्ञान व अनुभव असाधारण है। आपकी लेखन-शैली सरल और सुबोध है। आपके निबन्ध पाठकों को सामयिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विषयों पर अच्छी जानकारी देंगे। हमारा विश्वास है कि इन लेखों से आधुनिक गम्भीर प्रश्नों पर, जो आज विश्व या भारत के सामने उपस्थित हैं, प्रकाश पड़ेगा। हम भारतवर्ष के नागरिक हैं, इसलिए स्वभावतः भारत के संविधान, उसकी राजनीति, उसकी योजनाओं और उसकी संस्कृति के विषय में हमारी जानकारी का होना आवश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक प्रभाकर, इण्टर, बी. ए. तथा इनकी समकक्ष अन्य कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए समान रूप से उपयोगी हो इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है। साहित्यिक तथा सामयिक विषयों का ज्ञान पाठक को सुबोध तथा सरल भाषा में करना ही प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य ध्येय है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि 'आधुनिक हिन्दी-निबन्ध' के निबन्ध छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे एवं हिन्दी-भाषी जनता तथा अहिन्दी प्रान्तों के छात्रों के लिए भी उपयोगी होंगे। इस नये संस्करण में कई उपयोगी सामयिक निबन्धों का समावेश किया गया है। आशा है पहले संस्करण की अपेक्षा यह पुस्तक और भी उपयोगी सिद्ध होगी।

—प्रकाशक

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त

साहित्यिक निबन्ध

द्वितीय खण्ड : कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं विचारात्मक

: १ :

निबन्ध का स्वरूप

निबन्ध वह संक्षिप्त गद्य रचना है जिसमें किसी विशेष अनुभव अथवा विचारधारा का स्पष्ट रीति से प्रतिपादन किया जाय। उसमें लेखक को अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने का पूर्ण अवसर प्राप्त रहता है और वह आवश्यकता के अनुसार उसमें अपने व्यक्तित्व का समावेश करने के लिए भी स्वतन्त्र रहता है। हिन्दी में निबन्ध-साहित्य का प्रारम्भ आधुनिक युग में बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग में हुआ था। अतः उसके सम्बन्ध में आधुनिक युग से पूर्व के किसी भी विद्वान् की परिभाषा उपलब्ध नहीं होती। आधुनिक युग में निबन्ध के स्वरूप पर अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रकाश डाला गया है, तथापि परिभाषा-विस्तार का त्याग कर यहाँ हम वर्तमान युग के अग्रगण्य आलोचक और निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की संक्षिप्त तथा सारगर्भित परिभाषा उपस्थित करते है—

"यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"

भारतीय साहित्य में प्राप्त होने वाली निबन्ध सम्बन्धी प्राचीन व्याख्या के अनुसार उसमें अर्थ की निरन्तर स्थिति होनी चाहिए अर्थात् निबन्ध में पहले विषय का सूत्र-प्रणाली से कथन होना चाहिए और इसके पश्चात् उसका विस्तार किया जाना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने निबन्धों में प्रायः इसी सूत्र-शैली का आश्रय लिया है। और इस प्रकार उन्होंने अन्य लेखकों के लिए भी इस रचना-विधि का समर्थन किया है, किन्तु इस विषय पर विस्तृत विचार करने पर हम देखते है कि वर्तमान युग में निबन्ध इस प्राचीन सूत्र परम्परा के प्रभाव से मुक्त होकर अंग्रेजी के Essay शब्द का रूपान्तर हो गया है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्रसिद्ध फ्रांसीसी निबन्ध-लेखक मौण्टेन ने किया था। उन्होंने निबन्ध के विचारों को सहज रूप से प्रकाशित करने वाला

माना था। अन्य पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों में अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार जॉनसन ने निबन्ध की निम्नलिखित परिभाषा स्थिर की है—

"It is a loose sally of mind and a regular indigested piece, not a regular and orderly performance."

अर्थात् "यह (निबन्ध) मस्तिष्क (के विचारों की) केवल एक शिथिल तरंग है तथा एक नियमबद्ध एवं व्यवस्थापूर्ण रचना न होकर यह एक व्यवस्थित अपच रचना होता है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्ध सीमाबद्ध न होकर निर्बन्ध अर्थात् स्वतन्त्र होता है। इस स्थान पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में निबन्ध की सफलता के लिए उसमें विचारों के समावेश को आवश्यक माना गया है वहाँ आधुनिक साहित्यशास्त्र उसके निर्बन्ध रूप का समर्थन करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन दोनों विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से निम्नलिखित तर्क उपस्थित किया है—

"निबन्ध निबन्ध इसलिए है कि उसमें किसी भी दार्शनिक विषय का तात्विक, व्यवस्थित और गम्भीर विश्लेषण अपेक्षित नहीं होता। वह निबन्ध (विचार-बन्धन से युक्त) इसलिए है कि उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता विद्यमान रहती है। यह एकसूत्रता विचार, दृष्टिकोण, भावना अथवा कल्पना में से किसी से भी सम्बद्ध हो सकती है। इस एकसूत्रता का वर्तमान होना नितान्त आवश्यक है।"

निबन्ध के स्वरूप के उपर्युक्त अध्ययन के उपरान्त कतिपय हिन्दी-लेखकों के निबन्ध-विषयक विचारों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से शुक्ल जी के विचारों की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। आगे हम डा० श्यामसुन्दरदास और बाबू गुलाबराय द्वारा उपस्थित की गई निबन्ध की परिभाषाओं को उपस्थित करते हैं—

"निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक और पाण्डित्यपूर्ण विचार किया गया हो।"

—डा० श्यामसुन्दरदास

"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें किसी एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छता सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगीत और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

—बाबू गुलाबराय

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने पर हम कह सकते हैं कि 'निबन्ध' से हमारा तात्पर्य उस कलापूर्ण गद्य-कृति से है जिसमें किसी सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा इसी प्रकार की किसी अन्य विचारधारा को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया हो और इस प्रकार जो अपने संक्षिप्त आकार में स्वयं सम्पूर्ण हो। वास्तव में पाठक निबन्ध का अध्ययन इस उद्देश्य से करता है कि उसे कुछ मौलिक विचारों की प्राप्ति हो। अतः विषय की मौलिक चर्चा से शून्य निबन्ध का निश्चय ही कोई महत्त्व नहीं है। निबन्ध-लेखक की सफलता इस बात में है कि वह अपने निबन्ध में गम्भीर विचारों का स्पर्श करके भी अपनी शैली को गम्भीर न होने दे।

निबन्ध-रचना के विषय

जिस प्रकार साहित्य के अन्य अङ्गों को किसी विशेष विषय तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार निबन्ध भी पूर्णतः निबन्ध है। निबन्ध-रचना के लिए हम समाज, राजनीति, साहित्य, धर्म, दर्शनशास्त्र और इसी प्रकार अन्य अनेक क्षेत्रों में से किसी भी क्षेत्र से विषय चुन सकते हैं। विषय चुनते समय उसकी गम्भीरता अथवा उसमें निहित व्यंग्य आदि का निर्वाह करना लेखक की अपनी इच्छा पर निर्भर रहता है। तथापि किसी भी श्रेष्ठ निबन्ध की रचना के लिए यह आवश्यक है कि उसमें भावों अथवा विचारों की संगति, संगठन और एकसूत्रता पर पूरा ध्यान दिया जाय। इसी प्रकार जिन निबन्धों में अत्यधिक जटिल समस्याओं की चर्चा न की गई हो उनमें पाठक रोचकता और विशेष कुशलता के समावेश को भी देखना चाहता है।

निबन्ध-शैली

निबन्ध-लेखन और निबन्ध का अध्ययन दोनों ही शुष्क कार्य हैं। अतः निबन्ध लेखक का कर्तव्य है कि वह अपनी शैला को स्वाभाविक और सरस

बनाय रखे। उसकी भाषा को निबन्धों के विषयों के परिवर्तन के साथ-साथ बदलने वाली होना चाहिए अर्थात् उसे अपनी भाषा में विशेष सजीवता लाने के लिए यथास्थान मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। वैसे निबन्ध की रचना करते समय उसमें निम्नलिखित चार शैलियों में से किसी भी शैली को ग्रहण किया जा सकता है—

(१) व्यास शैली—

इस शैली के अनुसार निबन्ध में विषय का सरल रीति से विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाता है। अतः इसमें दीर्घ वाक्यों और समासों के प्रयोग के स्थान पर लघु वाक्यों में मार्मिक भावों अथवा विचारों के आयोजन का प्रयत्न रहता है।

(२) समास शैली—

इस शैली में लिखे गए निबन्धों में विषय का सरल, संक्षिप्त और सूत्र-बद्ध विवेचन उपस्थित किया जाता है। इसमें लेखक का समास-प्रयोग पर भी उचित ध्यान रहता है।

(३) विक्षेप शैली—

इस शैली से युक्त निबन्धों में मानव-भावनाओं के परस्पर सम्बद्ध और परस्पर असम्बद्ध रूपों को इकट्ठा करने का प्रयास रहता है अर्थात् इस शैली के प्रयोग द्वारा लेखक भावों में एकता की स्थापना करता है।

(४) धारा शैली—

इस शैली के निबन्धों में विषय को वेगपूर्ण आकर्षक अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है और निबन्ध-प्रवाह के खण्डित होने का अवसर नहीं आने दिया जाता।

निबन्ध के प्रकार

विषय-भेद से निबन्ध को अनेक भेदों में बाँटा जा सकता है, किन्तु मुख्य रूप से निबन्ध निम्नलिखित चार प्रकार के हो सकते है—

(१) वर्णनात्मक निबन्ध—

इस प्रकार के निबन्धों में किसी विशेष परिस्थिति अथवा दृश्य का सरल

और आकर्षक रीति से वर्णन किया जाता है। इनमें विषय-वर्णन के लिए व्यास-शैली का आधार लिया जाता है। इनकी साहित्यिक छवि की स्थिति इनकी सरलता में ही होती है।

(२) **विवरणात्मक निबन्ध—**

इस वर्ग के निबन्धों में किसी यात्रा अथवा साहसपूर्ण कृत्य का विवरण उपस्थित किया जाता है। इनमें मनोरंजन का समावेश होना चाहिए। इनमें निबन्ध के विषय के प्रत्येक अंग का विवरण उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है। इनकी रचना करते समय भी व्यास-शैली का उपयोग किया जाता है।

(३) **विचारात्मक निबन्ध—**

इस श्रेणी के निबन्ध गम्भीर मनन और बौद्धिक विवेचन से युक्त होते हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इनमें मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, आलोचनात्मक आदि किसी भी प्रकार के विषय को ग्रहण किया जा सकता है। इनकी रचना विषय के अनुकूल व्यास अथवा समास-शैलियों में से किसी भी शैली में की जा सकती है। इन निबन्धों के अध्ययन से पाठक को विशेष अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल सकती है और वह स्वयं भी पर्याप्त सीमा तक उसी प्रकार अथवा उससे कुछ भिन्न रीति से विचार करने लगता है।

(४) **भावात्मक निबन्ध—**

जो निबन्ध बौद्धिक जगत् की अपेक्षा हृदय-जगत् से विशेष रूप में सम्बद्ध होते है उन्हें 'भावपूर्ण निबन्ध' कहते हैं। इनमें लेखक अपने कथन को काव्यमय रूप प्रदान करने के लिए कवित्वपूर्ण वर्णन-प्रणाली का आश्रय ग्रहण करता है। शैली-प्रयोग की दृष्टि से इनमें विक्षेप और धारा नामक शैलियों में से किसी भी शैली को प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार के निबन्धों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) **रागात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्धों में हृदय-पक्ष से सम्बद्ध किसी विषय का भावात्मक प्रणाली से मार्मिक कथन किया जाता है। इनमें गम्भीरता और लेखक के व्यक्तित्व का प्रचुर मात्रा में समावेश रहता है। इनके अध्ययन से मन को विशेष उल्लास की प्राप्ति होती है।

(ख) **हास्य-व्यंगात्मक निबन्ध**—इस प्रकार के निबन्धों में रागात्मक निबन्धों की गम्भीरता नहीं होती। इनमें सजीव हास्य और मौलिक व्यंग्य की प्रभावशाली सृष्टि रहती है। इनके अध्ययन से एक ओर तो प्रतिपादित विषय पर साधारणतः अच्छे विचारों की प्राप्ति होती है और दूसरी ओर पाठक के हृदय की शुष्कता तथा बोझिलता का अन्त हो जाता है।

निबन्ध का माध्यम

साहित्य-रचना के लिए 'गद्य' तथा 'पद्य' नामक दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं। साहित्य के विभिन्न अंग इनमें से ही किसी एक प्रणाली के द्वारा उपस्थित किए जाते हैं, किन्तु कहीं-कहीं आवश्यकता होने पर इन दोनों को मिलाया भी जा सकता है। इस दृष्टि से निबन्ध-रचना के माध्यम पर विचार करने पर हम देखते हैं कि निबन्ध उपस्थित करने के लिए साधारणतः गद्य का ही आश्रय लिया जाता है, किन्तु कुछ निबन्धकारों ने समय-समय पर पद्यात्मक निबन्धों की भी रचना की है। इस दृष्टि से अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि पोप का (Essay on Man) शीर्षक निबन्ध तथा हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' शीर्षक पद्यात्मक निबन्ध उल्लेखनीय है। इस प्रकार के निबन्धों में सम्बद्ध विषय का पद्य में विचारपूर्ण चित्रण मिलता है। इसी प्रकार निबन्ध की गद्य में रचना करने पर भी उसमें आवश्यकता के अनुसार पद्य का समावेश किया जा सकता है।

निबन्ध की अन्य आवश्यकताएँ

निबन्ध-रचना के लिए लेखक को उपर्युक्त सावधानियों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों का भी ध्यान रखना होता है। इस दृष्टि से निबन्ध में सर्वप्रथम लेखक को अपने दृष्टिकोण को अवश्य स्पष्ट करना चाहिए। इसी प्रकार उसमें विषय की गम्भीरता के साथ-साथ लेखक की मानसिक प्रतिक्रिया के वर्णन का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। अन्यथा निबन्ध में आत्मीयता के गुण का संचार नहीं हो पाता। यह आत्मीयता निबन्ध के लिए अत्यधिक आवश्यक है और लेखक को गम्भीर से गम्भीर विषय में भी इसके समावेश के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ यह आधुनिक निबन्ध का मूल तत्त्व है, किन्तु इसके समावेश के लिए निबन्ध की गम्भीरता को किसी प्रकार की हानि

नहीं पहुँचायी जानी चाहिए । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ निबन्ध का उद्देश्य गम्भीर विचार-सामग्री प्रदान करना होता है वहाँ उसका एक उद्देश्य मनोरंजन की सृष्टि करना भी है । किसी भी श्रेष्ठ निबन्ध में इन सब बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

: २ :

कविता का स्वरूप

कविता के अध्ययन अथवा श्रवण से मानव-मन पर जो व्यापक प्रभाव पड़ता है उसको लक्षित करते हुए प्रत्येक देश के साहित्यकारों ने उसकी रचना की ओर अधिक ध्यान दिया है। कविता का उद्देश्य पाठक को आनन्द का अनुभव कराना है । उसके स्वरूप के विषय में समय-समय पर विद्वानों ने अनेक परिभाषाएँ उपस्थित की हैं, किन्तु उसे किसी एक परिभाषा के बन्धन में बाँध सकना सरल कार्य नहीं है । संस्कृत में आचार्य विश्वनाथ ने 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' कहकर काव्य में रस की अनिवार्य स्थिति मानी है, पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' कहकर काव्य में रमणीय अर्थ की स्थिति को अनिवार्य माना है और आचार्य मम्मट ने कविता में गुणों और अलंकारों के ग्रहण तथा दोषों के त्याग को आवश्यक कहा है ।

पाश्चात्य विद्वानों में मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की व्याख्या कहा है, वर्डस्वर्थ ने कविता को शान्ति के अवसर पर स्मृति में आई हुई विविध भावनाओं का प्रवाह माना है, मिल्टन ने कविता में प्रत्यक्षता और रागात्मकता की स्थिति का प्रतिपादन किया है, कॉलरिज ने कविता में उत्कृष्ट शब्द-विधान पर बल दिया है और जॉनसन कविता में छन्द-निर्वाह को आवश्यक मानते है । हिन्दी के विद्वानों में आचार्य केशवदास ने कविता में अलंकार-प्रयोग का अनिवार्य माना है, श्री रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को रस-सम्पन्न रखने पर बल दिया है और श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने कविता के मूल

में वेदना की स्थिति मानी है। इसी प्रकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, डॉ०-श्यामसुन्दरदास और सुश्री महादेवी वर्मा आदि ने भी कविता के विविध लक्षण उपस्थित किए हैं। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कविता की निम्नलिखित परिभाषा निर्धारित कर सकते हैं—

"कविता कवि की वह साधना है जो प्रकृति और जीवन के सत्य को स्वच्छ, सरस और संगीतमय रूप में उपस्थित करती है। वह मानव-भावनाओं का परिष्कार करते हुए मन में आनन्द का संचार करती है।"

कविता और मानव-जीवन

कविता में मानव-जीवन को सरस रूप में उपस्थित किया जाता है। उसमें जीवन के विविध अनुभवों को स्पष्ट रूप में उपस्थित करने पर बल दिया जाता है। वास्तव में इन दोनों का परस्पर अत्यन्त गहन सम्बन्ध है। यही कारण है कि मानव-जीवन की अभिव्यक्ति से शून्य कविता पढ़ने में कृत्रिम लगती है और कविता का अध्ययन करने वाले मनुष्य का जीवन भी शुष्क हो जाता है। आधुनिक युग में कुछ विद्वान् 'कला कला के लिए है' नामक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कविता में जीवन की व्याख्या को आवश्यक नहीं मानते है, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कविता में मानव-जीवन का चित्रण अवश्य होना चाहिए।

भारतीय विद्वानों ने कविता में लोक-हित से सम्बन्ध रखने वाली भावनाओं के समावेश पर अत्यधिक बल दिया है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री रामचन्द्र शुक्ल ने इनका विशेष समर्थन किया है। इसके लिए कवि को अपनी कविताओं में सत्य, शिव और सुन्दर के आयोजन की ओर ध्यान देना चाहिए। कविता का सत्य साधारण सांसारिक सत्य से भिन्न होता है। उसका आश्रय लेने पर कवि को प्रकृति की जड़ता में भी चेतनता का अनुभव होने लगता है। उसका सम्बन्ध लोक-हित से होता है और इसी कारण वह कभी नष्ट नहीं होता। फिर भी यह आवश्यक है कि कवि अपनी रचनाओं में न तो इतिहास के सत्य का विरोध करे और न ही असम्भव बातों की स्थापना करे। कविता में शिव-तत्त्व की योजना के लिए उसमें लोक-हित से सम्बन्धित भावनाओं का वर्णन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार उसे सुन्दर बनाने के लिए

उसमें भावनाओं और भाषा, शैली, अलंकार आदि कला के अंगों का उपयुक्त निर्वाह किया जाना चाहिए।

काव्य की आत्मा

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य की आत्मा के विषय में पर्याप्त चिन्तन किया है अर्थात् उन्होंने यह देखने का प्रयत्न किया है कि किस तत्त्व के कारण कविता में सौन्दर्य का अधिक संचार होता है। इस दृष्टि से भरत मुनि ने रस को, आचार्य वामन ने रीति (पद-रचना की विशेष प्रणाली) को, आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को और आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। इनका अध्ययन करने पर हम देखते है कि इनमें से रस-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय ही प्रमुख हैं। शेष सम्प्रदायों में से ध्वनि को रस में और वक्रोक्ति को रीति में मिलाया जा सकता है। वास्तव में रस-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय काव्य-रूपी पुरुष के लिए मन और शरीर के समान है। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर सहायक है। इनमें भी भावनाओं से सम्बन्धित होने के कारण रस का ही मुख्य स्थान है। अतः रस को ही काव्य की आत्मा कहा जाएगा।

कविता के तत्त्व

कविता की रचना करते समय कुछ विशेष तत्त्वों का पालन करने की आवश्यकता होती है। आगे हम इन तत्त्वों का पृथक्-पृथक् परिचय देंगे।

(१) कल्पना-तत्त्व—

कविता के भावों को और भी अधिक आकर्षक बनाने के लिए कवियों द्वारा कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। साधारण और शुष्क तत्त्वों को भी कल्पना की सहायता से विशेष रस प्रदान किया जा सकता है, किन्तु कल्पना में स्वाभाविकता का सदैव निर्वाह किया जाना चाहिए। असंगत कल्पनाओं का आश्रय लेने से काव्य में निर्जीवता आ जाती है।

(२) बुद्धि-तत्त्व—

कविता में बुद्धि-तत्त्व के समावेश से हमारा तात्पर्य उसमें विचारों को स्थान देने से है। कविता में सत्य के समावेश के लिए कवि को अनुभव और

चिन्तन, दोनों का आश्रय लेना होता है। विचार-तत्त्व के समावेश के लिए कविता में भावों की सरसता और शैली की मधुरता का योग भी आवश्यक होता है। इनसे रहित होने पर केवल विचारों की शुष्क अभिव्यक्ति से कविता के प्रवाह में बाधा पहुँचती है।

(३) भाव-तत्त्व—

कविता में भाव-तत्त्व को प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। ये ही भाव परिपक्व होने पर रस का रूप धारण कर लेते हैं। इनका सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा हृदय से होता है। अतः इनके समावेश से कविता में सरसता और प्रवाह का संचार अधिक मात्रा में होता है। भावों की योजना करते समय उनमें विविधता, विशदता, स्थिरता अथवा प्रौढ़ता तथा उचितता आदि विविध गुणों के समावेश की ओर उपयुक्त ध्यान दिया जाना चाहिए।

(४) शैली-तत्त्व—

इस तत्त्व से हमारा तात्पर्य कविता के कला-पक्ष से है। इसके अनुसार काव्य में भाषा, शैली, अलंकारों तथा छन्दों की योजना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया जाना चाहिए। ये सभी कविता की बाह्य शोभा का विधान करने वाले गुण हैं। अतः कवि का कर्त्तव्य है कि वह काव्य के विषय के अनुकूल प्रवाहपूर्ण भाषा-शली को अपनाते हुए अपने काव्य में छन्दों तथा अलंकारों की स्वाभाविक रूप में योजना करे। इस विषय में कृत्रिमता का आश्रय लेने से काव्य की शोभा नष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त तत्त्वों में से प्रथम तीन तत्त्वों का सम्बन्ध कविता के भाव-पक्ष से है और अन्तिम तत्त्व उसके कला-पक्ष का सौन्दर्य बढ़ाता है। भाव-पक्ष का महत्त्व स्पष्टतः कला-पक्ष से अधिक होता है, किन्तु कवि को इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

कविता के भेद

शैली के आधार पर कविता के प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य नामक दो भेद किए गए हैं। इनमें से प्रबन्ध काव्य में मानव-जीवन का पूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है और मुक्तक काव्य में मन में आने वाले किसी एक

भाव अथवा किसी अन्य संक्षिप्त घटना अथवा वस्तु-विशेष का चित्रण रहता है। इन दोनों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **प्रबन्ध काव्य—**

प्रबन्ध काव्य में कवि मानव-जीवन का विस्तृत अध्ययन उपस्थित करता है। इसके 'महाकाव्य' और 'खण्ड-काव्य नामक दो भेद होते हैं। महाकाव्य में जीवन को उसकी पूर्णता में चित्रित किया जाता है और इसके लिए कवि किसी प्रसिद्ध कथा का आधार लेता है। इस प्रकार की रचना अनेक अध्यायों में विभाजित होती है और इसकी रचना करते समय कवि को भावना तथा कला के सम्बन्ध में विविध नियमों का पालन करना होता है। खण्ड-काव्य में मानव-जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है। इसका आकार महाकाव्य से छोटा होता है और प्रायः इसमें भी किसी प्रसिद्ध कथा का ही चित्रण किया जाता है।

(२) **मुक्तक काव्य—**

इस प्रकार की काव्य-रचना में विस्तार के लिए अधिक अवकाश नहीं होता। इसे 'गीति-काव्य' और 'अगेय मुक्तक काव्य' नामक दो भेदों में विभाजित किया जाता है। गीति-काव्य में कवि मन में उठने वाली किसी भावना को संक्षेप में अत्यन्त मार्मिक रीति से उपस्थित करता है। हिन्दी में महाकवि सूरदास का काव्य गीति-काव्य के रूप में ही प्राप्त होता है। इस प्रकार के काव्य में संगीत के निर्वाह का निरन्तर ध्यान रखा जाता है। अगेय मुक्तक काव्य की रचना छन्दों में की जाती है। गीति-काव्य की अपेक्षा इसका कुछ अधिक विस्तार किया जा सकता है, किन्तु संक्षिप्तता और मार्मिकता इसके भी दो प्रमुख गुण हैं।

अन्त में हमें यही कहना है कि कविता का स्वरूप भावात्मक होता है। उसे कुछ विशेष नियमों में बाँधकर उपस्थित नहीं किया जा सकता। ये नियम अथवा गुण उसमें स्वयं अनायास ही आ जाते हैं। कवि की ओर से उनकी योजना का प्रयास नहीं किया जाता है। वैसा होने पर कविता में कृत्रिमता आ सकती है। उस स्थिति में पाठक को भी कविता का अध्ययन करते समय स्थान-स्थान पर अनावश्यक रूप में रुकना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि कविता

को भावावेग के अनुसार सहज-स्वाभाविक रूप में ही उपस्थित किया जाना चाहिए।

: ३ :

कला और जीवन

कला मनुष्य को आनन्द की ओर ले जाने वाली एक मधुर चेतना है। संसार की जिन वस्तुओं को सामान्य व्यक्ति उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, कलाकार उन्हीं में नवीन सौन्दर्य की खोज कर लेता है। स्वयं चेतनता से युक्त होने के कारण वह जड़ वस्तु में भी चेतना के दर्शन करता है। इसके लिए वह एक ओर तो मनोविज्ञान का आश्रय लेता है और दूसरी ओर रस-शास्त्र से प्रेरणा ग्रहण करता है। इतना स्पष्ट है कि कलाकार संसार के अन्य प्राणियों की अपेक्षा सौन्दर्य के एक भिन्न रूप में दर्शन करता है। इस स्थान पर 'कला' से हमारा तात्पर्य ललित कलाओं (वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला) और उनमें भी विशेष रूप से काव्य-कला से है। काव्य-कला में रंग, कूँची, प्रस्तर, छेनी, वाद्य आदि स्थूल वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। इनके बिना जीवन की स्वस्थ अभिव्यक्ति उपस्थित कर सकने के कारण अन्य कलाओं की तुलना में उसका अधिक महत्त्व है।

भारतीय आचार्यों ने कला का जीवन से सहज सम्बन्ध माना है। उनके अनुसार कलाकार को कला के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति करनी चाहिए। इसके विपरीत अभी कुछ वर्ष पूर्व से पश्चिम के कुछ विद्वान् कला को जीवन से पृथक् मानकर उसका केवल कला से ही सम्बन्ध स्थिर करने लगे हैं। यह दृष्टिकोण उचित नहीं है। वास्तव में कला का जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि जीवन से उपयुक्त सामग्री का संचय करने पर ही कोई कलाकार कला की सृष्टि कर सकता है। इसी प्रकार जीवन पर भी कला के सौन्दर्य का व्यापक

प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कला केवल दिखावे की वस्तु नहीं है। उसे उपस्थित करने के लिए कलाकार को अध्ययन और मनन की व्यापकता का ध्यान रखना चाहिए।

कला को केवल कला के लिए ही उपस्थित करने की आवश्यकता उस समय पडती है जब साहित्यकार के पास कहने के लिए कोई भी नई बात नहीं रह जाती। साहित्य की गति को बनाए रखने के लिए उसमें समय-समय पर नवीन भावों का प्रवर्तन आवश्यक होता है। इसके अभाव में साहित्य में एक ऐसी स्थिरता आ जाती है जो किसी भी अवस्था में पाठक को रुचिकर प्रतीत नहीं होती। ऐसे अवसर पर मौलिकता लाने के लोभ में कलाकारों का ध्यान कला की ओर भी जाता है और वह उसे नवीन रूपों में उपस्थित करने में ही सन्तोष का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार की स्थिति में कला-कृति में जीवन की अभिव्यक्ति का स्थान कम महत्त्वपूर्ण होता जाता है और अभिव्यक्ति की प्रणालियों को मुख्य स्थान मिलने लगता है।

संसार में जन्म लेने पर मनुष्य निरन्तर जीवन के रस को प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है। साहित्य के अध्ययन द्वारा भी वह इसे ही प्राप्त करने की इच्छा रखता है। कला साहित्य को जीवन के लिए और भी अधिक उपयोगी बनाने के उद्देश्य से उसे नवीन सौन्दर्य प्रदान करती है। उसे केवल कला के लिए मानने वाले व्यक्ति प्रायः वही होते हैं जो स्वस्थ दृष्टिकोण लेकर नहीं चलते है। ऐसे व्यक्ति प्रायः कला के आवरण में दूषित साहित्य की रचना किया करते हैं। उनकी यह अस्वस्थ दृष्टि साहित्य और समाज, दोनों ही के लिए घातक होती है। वास्तव में कला की सार्थकता इसी में है कि वह हमारे समक्ष जीवन की वास्तविकता को अपने सौन्दर्य द्वारा कल्याणकारी रूप में उपस्थित करे। इसके लिए कलाकार का कर्तव्य है कि वह कला को पूर्णतः उन्मुक्त न होने दे। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब उसका जीवन से सहज सम्बन्ध रहे।

कुछ व्यक्ति साहित्य में यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान करने से ही अपने कर्तव्य की समाप्ति समझ लेते हैं। वह यह भूल जाते है कि केवल यथार्थ को प्रकट कर देना ही कला नहीं है। कला का कार्य यथार्थ के कुरूप चित्र को भी आदर्श की भव्यता प्रदान करना है। कलाकार को जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति

के लिए शिव-तत्त्व तथा सौन्दर्य की सहायता लेनी चाहिए। उसका कार्य जीवन की उग्रता को स्वाभाविकता में बदलने का प्रयत्न करना है। उसे अपनी सूक्ष्म दृष्टि से जीवन की स्निग्धता को पहचान लेना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह अपनी कृति द्वारा दूसरों के शुष्क जीवन में भी सरसता का संचार करने में सफल हो सकेगा।

कला मनुष्य को यह परामर्श देती है कि वह जीवन को शान्त रीति से व्यतीत करे। मनुष्य को जीवन के सत्य से दूर रहकर केवल सौन्दर्य के बाह्य रूपों में उलझकर रह जाने का सन्देश प्रदान करना उसका लक्ष्य नहीं है। वह यथार्थ को कल्याणमय आदर्श की ओर ले जाने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। इस विषय में अपने विचारों को संकेत का सहारा लेकर उपस्थित करने में कलाकार को अधिक सफलता प्राप्त होती है। उस अवस्था में वह प्राचीन जर्जर संस्कारों का भी सहज ही विरोध कर सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि कला को जीवन से भिन्न रखकर नहीं देखना चाहिए। वह मानव-मन का संस्कार करने वाली मूल कृति है। उसे इस रूप में उपस्थित करने पर ही कलाकार को भी वास्तविक आनन्द का अनुभव हो पाता है अन्यथा उसे केवल कला के लिए ही उपस्थित करने पर वह अपने सामने ऐसा कोई ठोस सिद्धान्त नहीं पाता जो उसे जीवन का अन्तिम सुख प्रदान कर सके।

किसी भी कला-कृति में मानवतावाद का होना उसके भविष्य के गौरव की सूचना देता है। वस्तुतः कलाकार को लोक-व्यंजना उपस्थित करने के लिए एक निश्चित सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर चलना चाहिए। वह यथार्थ में कल्पना का मिश्रण कर उसे जीवन के लिए सरलता से अधिक उपयोगी बना सकता है। कला में जीवन को अभिव्यक्त करने की एक ही प्रणाली नहीं है। जिस प्रकार कला हमारे समक्ष अनेक रूपों में विद्यमान है उसी प्रकार जीवन को भी वहाँ अनेक प्रकार से उपस्थित किया गया है। सामान्यतः साहित्यकार जीवन के विविध अनुभवों को प्राप्त करने के बाद उन्हें विचार और कल्पना के आधार पर इस प्रकार उपस्थित करता है कि वे मानव-हित में अधिक से अधिक सहयोग दे सकें।

कला जीवन की अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित करती है। यदि उसका

जीवन से निकट का सम्बन्ध न होगा तो इसके लिए कोई संभावना नहीं रहेगी। कला को केवल कला-विकास के लिए ही उपस्थित करने का परिणाम यह होगा कि कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को कहीं भी शिथिल नहीं होने देगा। इसके लिए वह अपनी रचना में अभिव्यंजना की सूक्ष्मता को अधिक से अधिक स्थान देगा। इस प्रकार की रचना में जीवन के लिए उपयोगी भावों के स्थान पर अभिव्यंजना-सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह प्रवृत्ति साहित्य के उपयुक्त विकास के लिए घातक है। वास्तव में साहित्य में भावों की श्रेष्ठता का होना अधिक आवश्यक है। इस प्रकार के भावों को अपरिपक्व कला के माध्यम से उपस्थित नहीं किया जा सकता। अतः साहित्य में भावना और अभिव्यंजना में से किसी एक के प्रति मोह का प्रदर्शन करना और दूसरे के प्रति उपेक्षा दिखाना हानिकर है।

कला को किसी एक बंधन में बाँधकर रख सकना सम्भव नहीं है। वास्तव में उसे न तो अभिव्यक्ति की सीमा में ही बाँधा जा सकता है और न ही उसमें केवल आदर्शवादी विचारधारा को ही उपस्थित किया जा सकता है। उसमें सत्य, शिव और सुन्दर का सामंजस्य उपस्थित किया जाना चाहिए। इनमें से भी उसका सम्बन्ध मुख्य रूप से सौन्दर्य से ही रहता है। उसी के माध्यम से वह अपने स्वरूप में सत्य और शिव का भी समन्वय कर लेती है। उसका मूल कार्य संसार के अभावों और दोषों को दूर कर उसे पूर्णता की ओर ले जाना है। इस सम्बन्ध में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की निम्न-लिखित उक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

ललित कला, कुत्सित कुरूप
जग का, जो रूप करे निर्माण!

भारतीय साहित्य में मुख्य रूप से कला को जीवन-विकास में सहायता प्रदान करने वाले तत्त्व के रूप में उपस्थित किया गया है। इस देश की कला-कृतियों में संस्कृति के गौरव की पूर्ण रक्षा की गई है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमारे यहाँ 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का अनुकरण नहीं किया गया है। वास्तव में वर्तमान युग में भारतीय कला का एक काफी बड़ा भाग इसी सिद्धान्त का अनुयायी है। ऐसा केवल इसीलिए हुआ है कि हम पश्चिम की

प्रत्येक वस्तु को आँखें बन्द करके स्वीकार करने के आदी हो गए हैं। प्राचीन कला-कृतियों में जीवन का समावेश हमारी भक्ति-चेतना के कारण हुआ था। आज इस चेतना का रूप ही परिवर्तित होता जा रहा है। इसी कारण हम अपने साहित्य के परम्परागत श्रेष्ठ सिद्धान्त का पालन करने में भी अपने को असमर्थ पा रहे है।

: ४ :

सत्यम् शिवम् सुन्दरम्

साहित्य की सफलता उसकी मार्मिकता में निहित होती है। इस मार्मिकता की योजना के लिए लेखक साहित्य की अनेक रूपों में रचना करता है और उसमें अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का समावेश करता है। उसमें सत्य, शिव और सुन्दर की योजना भी उसके इसी प्रयास का परिणाम है। इन तीनों तत्त्वों को भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-रचनाओं में व्यापक स्थान प्राप्त है और इनके स्वरूप के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं।

सत्य

साहित्य में सत्य के समावेश से हमारा तात्पर्य लेखक के अनुभवों को वाणी प्रदान करने से है। जीवन के सामान्य सत्य और काव्य के सत्य में मौलिक अन्तर होता है। जीवन का सत्य कोरा यथार्थवाद होता है, किन्तु साहित्य में उसे ज्यों का त्यों उपस्थित नहीं किया जा सकता। वहाँ उसे जीवन-विकास के लिए अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया जाता है। साहित्य का लक्ष्य अपूर्ण को पूर्ण करना होता है। अतः वहाँ सत्य का समावेश जीवन मे इसी पूर्णता को लाने के लिए किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्य में सत्य-कथन से हमारा तात्पर्य यथार्थ का आदर्शात्मक चित्रण करने से है। यह कथन विभिन्न रूपो में किया जा सकता है और साहित्य के प्रत्येक रूप में इसकी अभिव्यक्ति की प्रणाली में कुछ न कुछ अन्तर आ जाता है।

उदाहरणार्थ जहाँ गीति-काव्य में लेखक इस सत्य को अपनी ओर से प्रकट करता है वहाँ प्रबन्ध काव्य में वह ऐसा किसी पात्र से भी करा सकता है।

काव्य में सत्य की योजना के लिए लेखक को अपने दृष्टिकोण का विस्तार करना होता है। इसके कारण ही वह जड़ तत्त्वों में भी चेतना के दर्शन करने में सफल हो पाता है। यह दृष्टि साधारण व्यक्तियों के पास नहीं होती। सत्य का प्रतिपादन दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों द्वारा भी किया जाता है, किन्तु उसका सम्बन्ध क्रमशः बौद्धिक तथा भौतिक जगत् से होता है। इसके विपरीत काव्य के सत्य में भावना तथा कल्पना के योग के कारण हृदय को प्रभावित करने की शक्ति होती है। वह हमारी चेतना का परिष्कार कर हमें विशेष आनन्द प्रदान करता है। अभाव में भाव की कल्पना करने की शक्ति केवल उसी के पास होती है। यही कारण है कि जो सत्य दर्शनशास्त्र और विज्ञान में शुष्क रूप में स्थित रहता है वही काव्य में आने पर सरस हो उठता है।

शिव

साहित्य में शिव-तत्त्व के समावेश से हमारा तात्पर्य उसमें कल्याणकारी भावनाओं के संचय से है। वहाँ शिव लोक-हित का पर्याप्त है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें आदर्श-कथन की प्रणाली को अपनाया जाता है। यह तत्त्व साहित्य को अमरता प्रदान करने वाला है और इसके कारण ही साहित्य का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को मानसिक शान्ति की प्राप्ति हो पाती है। श्रेय तत्त्व से युक्त होने के कारण यह मानव-मन को उन्नयन की ओर ले जाता है। इसकी योजना के लिए कविगण प्रायः अनुभव और चिन्तन का आश्रय लेते है। इन दोनों की सहायता से वर्णन के विषय को एक निश्चित आकार देने के उपरान्त वे आवश्यकता के अनुसार उसे कल्पना के माध्यम से विशेष सौन्दर्य भी प्रदान करते हैं। जो साहित्य शिव-तत्त्व से शून्य होता है उसका समाज-विकास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं होता।

भारतीय साहित्य में शिव-तत्त्व आदि से अन्त तक व्याप्त रहा है। भारतीय विद्वानों ने साहित्य को जीवन से अनिवार्यतः सम्बन्धित मानकर उसमें लोक-हित की योजना का निरन्तर ध्यान रखा है। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य

में 'कला कला के लिए' नामक सिद्धान्त के प्रचलन के कारण कहीं-कहीं साहित्य में शिव-तत्त्व का अभाव हो गया है। इस तत्त्व की उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं है, किन्तु इतना आवश्यक है कि इसकी योजना करते समय सत्य की उपेक्षा न की जाए। शिव-तत्त्व के अन्तर्गत काल्पनिक आदर्शवाद की सृष्टि कभी भी प्रशंसनीय नहीं होती।

सुन्दर

साहित्य में सौन्दर्य के संचार के विषय में कोई भी व्यक्ति विपरीत मत नहीं रख सकता। साहित्य के प्रारम्भ से अब तक लेखक उसे अधिकाधिक सुन्दर रूप में उपस्थित करने का प्रयास करते आए हैं और विभिन्न साहित्य-सिद्धान्त भी उनकी इसी प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। इस सौन्दर्य की योजना के लिए सामान्यतः लेखक निम्नलिखित दो प्रणालियों का आश्रय लेते हैं—

(१) भावात्मक सौन्दर्य—

साहित्य में भावों का महत्त्व वही है जो मानव-शरीर में आत्मा का होता है। अतः लेखक अपने भावों को सुन्दर और प्रभावशाली रूप में उपस्थित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। इसके लिए वे अनुभव के अतिरिक्त कल्पना का भी आधार ग्रहण करते हैं। साधारण रूप से काव्य के विषय प्रकृति, मानव-जगत् और भक्ति से सम्बन्धित रहते हैं। अतः कवि इन विषयों को सुन्दरतम् अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कल्पना का यथास्थान प्रयोग करते हैं। काव्य में भावात्मक सौन्दर्य का अभाव होने पर उसका प्रभाव लगभग समाप्त हो जाता है।

(२) कलात्मक सौन्दर्य—

भावों की भाँति काव्य में उन्हें उपस्थित करने की रीति को भी आकर्षक रूप प्रदान करने की आवश्यकता होती है। अतः कवि भाषा, शैली, अलंकार आदि विविध कलात्मक उपकरणों की सहायता से अपने काव्य को कला-सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

भावना और कला के योग से साहित्य में जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है वह अनुपम होता है। यह सौन्दर्य मन को विशेष आनन्द प्रदान करने वाला

होता है और पाठक की थकी हुई चेतना को विश्राम प्रदान करता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में सौन्दर्य की खोज करने में लीन रहता है। अतः काव्य में भी सौन्दर्य का समावेश होने पर ही पाठक को सन्तोष प्राप्त होता है।

तुलनात्मक अध्ययन

साहित्य में सत्य, शिव और सुन्दर को एक दूसरे से पृथक् रखकर नहीं देखा जा सकता। वे तीनों परस्पर अन्तर्ग्रथित हैं और एक-दूसरे के लिए पूरक का कार्य करते हैं। जब साहित्य में इन तीनों को सम्मिश्रित रूप में उपस्थित किया जाता है तभी उसमें वास्तविक प्रभाव का संचार हो पाता है। इसी कारण इन्हें न्यूनाधिक रूप में विश्व की सभी भाषाओं की रचनाओं में ग्रहण किया जाता है। इन तीनों के मूल में आदर्शवाद की स्थिति रहती है अर्थात् साहित्यकार अपनी रचनाओं में इन्हें उपस्थित करते समय इन्हें अधिक से अधिक आदर्श रूप प्रदान करने की चेष्टा करते हैं।

काव्य का मूल आधार सत्य होता है। जब कवि को संसार के सत्य का ज्ञान हो जाता है तभी वह काव्य की रचना कर पाता है। सत्य को अधिक प्रभावशाली बनाने और उसके महत्त्व को चिरस्थायी रखने के लिए साहित्यकार उसमें शिव-तत्त्व और सौन्दर्य का मिश्रण करता है। इन दोनों से रहित होने पर सत्य का स्वरूप शुष्कता से युक्त रहता है। यद्यपि सत्य का स्वरूप व्यापक होता है, किन्तु शिव-तत्त्व से युक्त होने पर व्यापकता में वृद्धि हो जाती है। उस अवस्था में सत्य कटु प्रतीत नहीं होता और वह एक प्रकार से मानवतावाद का रूप धारण कर लेता है।

शिव-तत्त्व का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक सौन्दर्य से है। उसका स्वरूप विशेष प्रभावशाली होता है। इसी कारण सत्य से संयुक्त होने पर वह उसके स्थूल रूप को कल्याणकारी रूप में परिवर्तित कर देता है। जो बात लोक-हित से सम्बन्धित होती है उसे सत्य से दूर नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार ऐसी बात में सौन्दर्य का अभाव भी नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाए तो शिवत्व को सौन्दर्य का मापदण्ड ही कहना चाहिए। ऐसी अवस्था में सत्य और

सौन्दर्य का आश्रय लेते हुए यदि साहित्य में शिव-तत्त्व का त्याग किया जाएगा तो उससे साहित्य का गौरव कम ही होगा। जो रचना जन-हित के प्रश्न को सब से प्रमुख नहीं मानती उसका जनता द्वारा उचित सम्मान कदापि नहीं किया जा सकता।

काव्य में सौन्दर्य-योजना के लिए कवि शेष दोनों तत्त्वों की उपेक्षा नहीं कर सकता। सत्य और सौन्दर्य के सम्बन्ध पर विचार करने पर हम देखते हैं कि जहाँ सत्य किसी ठोस धरातल पर खड़ा होता है वहाँ सौन्दर्य की आधार-भूमि कल्पना होती है। सत्य और कल्पना एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। अतः साहित्यकार को अपनी कृति में कल्पना को अधिक उन्मुक्त नहीं होने देना चाहिए। केवल कल्पना-विलास को उपस्थित करना साहित्य का लक्ष्य नहीं है। साहित्य में कल्पना का प्रयोग तभी तक करना चाहिए जब तक वह पाठक को स्वाभाविक प्रतीत हो। सौन्दर्य का शिव-तत्त्व से अधिक निकट का सम्बन्ध है। जो भाव कल्याण-रहित होता है वह सौन्दर्य की सृष्टि करने में भी असमर्थ रहता है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि साहित्य में इन तीनों तत्त्वों को मिलाकर उपस्थित किया जाना चाहिए। इस ओर उचित ध्यान न देने से साहित्य में कृत्रिमता, अश्लीलता, कुरुचि और शुष्कता आदि विविध दोषों का किसी न किसी रूप में समावेश होने लगता है। जो लेखक इनमें जितनी ही अधिक कुशलता से सामंजस्य स्थापित करता है उसकी रचना उतनी ही अधिक मार्मिक हो जाती है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने पर हम उसके वीरगाथा काल में इस सामंजस्य का अभाव पाते हैं। भक्ति काल में यह सामंजस्य अपने पूर्ण विकसित रूप में उपलब्ध होता है। इसके उपरान्त रीति काल में इसकी फिर से स्थापना न हो सकी है। आधुनिक काल में इस सामंजस्य को स्थापित रखने का यथासम्भव ध्यान रखा जाता रहा है, किन्तु प्रगतिवादी, हालावादी और प्रयोगवादी साहित्य में इसका स्पष्ट अभाव है।

: ५ :

यथार्थवाद और आदर्शवाद

साहित्यकार साहित्य की रचना करते समय उसमें मानव-जीवन का चित्रण करने की ओर सर्वाधिक ध्यान देता है। अतः यह स्पष्ट है कि अपनी रचना को स्वाभाविक रखने के लिए वह उसमें जीवन के वास्तविक और आदर्शात्मक, दोनों ही रूपों को यथास्थान ग्रहण करता है। जीवन की वास्तविकता साहित्य में यथार्थवाद के रूप में उभरकर आती है और उसके आदर्श रूप को आदर्शवाद कहा जाता है। जीवन के इन दोनों सिद्धान्तों में महान् अन्तर है। जहाँ यथार्थवादी साहित्यकार जीवन के किसी भी पक्ष को न छिपाकर उसे ज्यों का त्यों अभिव्यक्त कर देता है वहाँ आदर्शवादी लेखक उसके अभावों को निरन्तर पूर्णता की ओर ले जाने का प्रयास करता है। प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष पहले जीवन का यथार्थ स्वरूप आता है और उसके उपरान्त वह उसकी आदर्श रूपरेखा को तैयार करता है। अतः साहित्य में भी प्रायः यथार्थ का किसी न किसी रूप में चित्रण करने के अनन्तर ही साहित्यकार उसे आदर्श के रूप में उभारकर लाता है।

साहित्य का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस कारण उसमें समाज को अवनति की ओर ले जाने वाले विषयों का चित्रण कभी भी अपेक्षित नहीं होता। यथार्थवाद और आदर्शवाद की उपयोगिताओं को आँकने के लिए हमें इस बात को निरन्तर ध्यान में रखना होगा। इस दृष्टि से यथार्थवादी साहित्य में जीवन की यथार्थता को अपूर्ण रूप में चित्रित नहीं किया जाना चाहिए। मानव का स्वभाव है कि वह अच्छाई की अपेक्षा बुराई की ओर अधिक शीघ्रता से दौड़ता है। इस कारण यथार्थवाद से अनुप्राणित साहित्य अधिकांश पाठकों को प्रारम्भ में शिक्षा देने के स्थान पर उन्हें उस प्रकार के कार्यों में भाग लेने की प्रेरणा ही प्रदान करता है। इस स्थान पर यह स्मरणीय है कि उग्रता और तीखेपन से युक्त होने के साथ-साथ जब साहित्य किसी विशेष जीवन-धारा के प्रत्येक पहलू को खोलकर सामने रख देता है तब पाठक अनिवार्य रूप से उसके विषय में विचार करता है। वह

उसे केवल तभी ग्रहण करता है जब उसके द्वारा उसे अपने जीवन में किसी विशेष लक्ष्य की सिद्धि की आशा होती है अन्यथा वह साहित्य में चित्रित उस विशेष जीवन-क्रम से उदासीन हो जाता है।

यथार्थवाद की भाँति साहित्य में आदर्शवाद के चित्रण की भी कुछ परिसीमाएँ होती है। आदर्शवादी साहित्य देश-विशेष की संस्कृति पर आधारित रहता है। प्रत्येक देश की संस्कृति में कुछ न कुछ मौलिक अन्तर होता है। अतः उनके आदर्श भी किसी न किसी रूप में भिन्न हुआ करते हैं। भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश है। यहाँ की जनता नैतिकता और ईश्वर-भक्ति में विशेष रुचि रखती है। ये दोनों भावनाएँ जीवन को शान्ति की ओर ले जाने वाली हैं। अतः भारतीय साहित्य में आदर्शवाद का मुख्य लक्ष्य मानव-जीवन को शान्ति की ओर उन्मुख करना रहा है। इस स्थान पर यह स्मरणीय है कि अपने अहंकार के कारण प्राय. मनुष्य उपदेशों की ओर अधिक रुचि नहीं रखता है। इस कारण आदर्शवादी साहित्य में उपदेश देने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। लेखक को आदर्शों की ओर संकेत मात्र करना चाहिए। इतने ही से मर्मज्ञ पाठकों को उसके उद्देश्य का पता चल जाएगा।

इस स्थान पर यह प्रश्न उठता है कि जब मनुष्य अपने जीवन में आदर्शों के संचार को ही सफलता का मूल तत्त्व मानता है तब साहित्य में यथार्थवाद की आवश्यकता ही क्या है? साधारणतः यथार्थवादी साहित्य में स्थूलता का आग्रह इतना प्रबल हो जाता है कि वह कुत्सित रुचि के पाठकों को ही परितृप्ति प्रदान करता है। वस्तुतः यथार्थवाद का चित्रण करते समय लेखक को स्थूलता में सूक्ष्मता का संचार करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह साहित्य में अधिक आदर प्राप्त कर सकता है। इतना होने पर भी हम साहित्य से यथार्थवाद का बहिष्कार नहीं कर सकते। इसका कारण स्पष्ट है। उसके बहिष्कार से आदर्शवाद के स्वरूप में भी शिथिलता आने की संभावना हो जाएगी। सत्य तो यह है कि साहित्य में आदर्शवाद को इतना महत्त्व इसीलिए प्रदान किया जाता है कि वह यथार्थ की उग्रता का विरोध करता है। अतः मानव-भावनाओं में सामंजस्य स्थापित रखने के लिए साहित्य में इन दोनों की स्थिति आवश्यक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद एक दूसरे पर आधारित हैं। एक के अभाव में दूसरे का उपयुक्त विकास हो सकेगा, इस विषय में तुरन्त ही शंका उठ खड़ी होती है। ऐसी स्थिति में रचना-कार्य की सरलता के लिए साहित्यकारों ने एक मध्यम मार्ग खोज निकाला है। इसे आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद कहा जाता है। इसके अनुसार साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद को मिलाकर उपस्थित किया जाता है अर्थात् साहित्यकार जीवन की यथार्थता को आदर्श रूप में उपस्थित करता है। ऐसा करते समय वह न तो यथार्थ की ही उपेक्षा करता है और न आदर्श की ओर ही आवश्यकता से अधिक ध्यान देता है। इस प्रणाली को अपनाने से साहित्यकार हमारे समक्ष अपने विचारों को पूर्णतः सन्तुलित रीति से उपस्थित कर सकता है।

साहित्य में आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद को उपस्थित करने के लिए किसी भी युग की विचारधारा को अपनाया जा सकता है। लेखक अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी युग के विचारों को उपस्थित कर सकता है। इन दोनों सिद्धान्तों की योजना करते समय उसे हृदय और बुद्धि, दोनों पर समान रूप से ध्यान देना होता है अर्थात् उसे भावना और विचार, दोनों को ग्रहण करना होता है। सामान्यतः किसी भी सिद्धान्त का सम्बन्ध विचार से होता है, किन्तु आदर्शवाद और यथार्थवाद की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उनमें मधुर भावनाओं का भी समावेश किया जाता है। इसके लिए इन दोनों को ही स्पष्ट करते समय लेखक आवश्यकता के अनुसार छोटी-छोटी कथाओं का उपयोग कर सकता है। आदर्शवाद की रक्षा के लिए भारतीय साहित्य में प्राप्त होने वाली पुराणों की कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

हिन्दी-साहित्य में स्थिति

आदर्श और यथार्थ की स्थिति प्रत्येक साहित्य में रहती है और युग की प्रवृत्तियों के अनुसार ये क्रमशः मुख्य होते रहते हैं। जब किसी साहित्य में आदर्शवादी विचार प्रमुख होने लगते हैं तब वहाँ कुछ समय के लिए यथार्थवाद अपना स्थान बना लेता है। इसके उपरान्त आदर्शवाद फिर से अपना स्थान बना लेता है। इन दोनों के मध्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की धारा भी

नरन्तर चलती रहती है। हिन्दी-साहित्य में भी हमें ये तीनों ही स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से वीरगाथा-काल में हमें यथार्थ को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इस युग के कवियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों की वीरता का वर्णन करने में सत्य और कृत्रिमता, दोनों का आश्रय लिया है। इसके उपरान्त भक्ति-काल में आदर्शवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस युग के कवियों ने भक्ति और नीति के क्षेत्रों में आदर्श विचारों को उपस्थित किया है। यह भक्ति उस समय की यथार्थता भी थी। अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक दो युगों में आदर्शवाद को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ, किन्तु यथार्थ की पूर्ण उपेक्षा किसी भी युग में नहीं हुई। इनमें से भक्ति-काल के आदर्श वीरगाथा-काल के आदर्शों से अधिक श्रेष्ठ हैं।

हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस युग के कवियों ने राधा और कृष्ण के चरित्रों को स्पष्ट करने के माध्यम से तत्कालीन स्थिति को ही अपने काव्य में व्यक्त किया है। उस समय शासन और जनता, दोनों ही विलासिता की ओर उन्मुख थे। अतः रीतिकालीन कवियों ने अधिकतर शृंगार रस को ही विभिन्न रूपों में उपस्थित किया है। इसके उपरान्त आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग में यथार्थ और आदर्श को समान रूप में उपस्थित किया जाता रहा। इस युग में धर्म, शासन और समाज-व्यवस्था आदि विभिन्न विषयों को साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ। इस युग में आदर्शवाद यथार्थवादी विचारों के अंचल में पोषित होता रहा।

रीति-काल के यथार्थवाद का विरोध करने के लिए द्विवेदी-युग में आदर्शवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ। इस युग में कवियों ने साहित्य को सर्वत्र आदर्शों से युक्त रखा और कहीं-कहीं उनके आदर्श अत्यन्त स्थूल भी हो गए। इस स्थूल आदर्शवादिता की प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद का जन्म हुआ है। इस काव्यधारा में आदर्शवाद के सूक्ष्म रूप को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस सूक्ष्मता के विरोध में इसके उपरांत प्रगतिवाद का आविर्भाव हुआ। इसके अन्तर्गत भोजन और वस्त्र आदि की दैनिक जीवन की समस्याओं को लेकर उनका उग्र यथार्थवादी शैली में चित्रण किया गया। इस काल में यथार्थ की अभि-

व्यक्ति प्रमुखतम रही है। इसके उपरान्त हिन्दी में हालावाद और प्रयोगवाद के नाम से दो नवीन काव्य-धाराएँ आरम्भ हुई। इन दोनों में भी यथार्थवाद और स्थूल की अभिव्यक्ति को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। तथापि वर्तमान युग का हिन्दी-काव्य केवल यथार्थवादी नहीं है। इस समय का काव्य अनेक धाराओं में विभाजित है और उनमें से आदर्शवाद को स्थान देने वाले काव्य-विषय ही अधिक हैं। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि सन्तुलित दृष्टि से अध्ययन करने पर यथार्थवाद और आदर्शवाद, दोनों ही मानव-जीवन के विकास में उपयोगी हो सकते हैं। इन चिन्ता-धाराओं के अपने गुण-दोष इतने नहीं हैं जितने अस्पष्ट प्रतिपादन और अपूर्ण अध्ययन के कारण वे प्रतीत होते हैं।

अन्त में हम यही कहेंगे कि यथार्थ और आदर्श में परस्पर गहन सम्बन्ध है। जिस प्रकार यथार्थ के अभाव में आदर्श की आवश्यकता ही नहीं पड़ती उसी प्रकार आदर्श के अभाव में यथार्थ का स्वरूप भी निरन्तर विकृत होता चला जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में आदर्शों का स्वरूप बदल जाता है, तथापि साहित्य उनमें जीवन की एकता और सौंदर्य का संचार करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है।

: ६ :

साहित्य और समाज

साहित्य अनादि है और मानव सदा से ही उसके अध्ययन के लिए उत्सुकता का अनुभव करता आया है। सफल साहित्य में मानव-कल्याण की भावना का निश्चित रूप से समावेश होता है। साहित्य को आकर्षक बनाने के लिए लेखक उसे विभिन्न रूपों में उपस्थित करते हैं। साहित्य की रचना स्पष्ट रूप से समाज के लिए की जाती है और ये दोनों समय-समय पर एक-दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं। साहित्य में अनुभव को मुख्य स्थान

प्राप्त रहता है। इस अनुभव का संग्रह समाज के क्षेत्र से ही किया जाता है। साहित्यकार इस अनुभव को चिन्तन के आधार पर मानव के लिए कल्याणकारी रूप में उपस्थित करता है। अतः साहित्य का प्रचार होने पर एक ओर तो समाज की स्थिति अधिक दृढ़ हो जाती है और दूसरी ओर समाज-सुधार के लिए भी अधिक सुविधा प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्य की रचना समाज पर आधारित रहती है। समाज के विभिन्न रूपों से प्रेरणा प्राप्त करने के पश्चात् ही साहित्यकार साहित्य की रचना करता है। जिस प्रकार समाज से पृथक् रहकर उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं की जा सकती उसी प्रकार समाज भी साहित्य से पृथक् नहीं रह सकता। साहित्य में समाज के यथार्थ को जो आदर्शवादी अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है उसके अभाव में समाज में यथार्थ की स्थिति निरन्तर विकृत हो सकती है। वास्तव में समाज साहित्य से प्रेरणा लेकर अपना सुधार करता रहता है। इन दोनों के इस सम्बन्ध में कभी भी कोई अन्तर नहीं आने पाता। यह स्थिति सभी देशों में एक ही समान रही है।

वर्तमान युग में 'कला कला के लिए है' नामक सिद्धान्त का समर्थन करने वाले व्यक्ति साहित्य और समाज के सम्बन्ध की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार साहित्य समाज से पृथक् रहकर भी विकास प्राप्त कर सकता है, किन्तु यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित नहीं है। वास्तव में साहित्य और समाज के सम्बन्ध के कारण ही आज हमें विभिन्न देशों के साहित्य-ग्रन्थों में विभिन्न विशेषताएँ प्राप्त होती है। भारतीय साहित्य में अध्यात्म-तत्त्व और यूनानी साहित्य में शौर्य की स्थिति का यही कारण है। समाज से पृथक् रहने पर साहित्य में देश विशेष की संस्कृति को इस प्रकार कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता था।

साहित्य में समाज की प्रत्येक स्थिति के पूर्ण चित्र उपस्थित किए जाते हैं। ऐसा होने पर ही हम उसे अध्ययन से अपने जीवन के लिए कुछ प्रेरणा ले सकते है। जीवन के किसी भी पक्ष के अस्पष्ट चित्र उपस्थित करना साहित्य का गुण नहीं है। यह मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है कि अपने दोषों को जानते हुए भी वह उन्हें तब तक नहीं छोड़ता जब तक उसे कोई गम्भीर

प्रेरणा प्राप्त न हो। साहित्य भी इसी प्रकार की प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति रखता है। उसके अध्ययन से पाठक को अपने ही समान गुण-दोषों से युक्त किसी अन्य प्राणी के चरित्र को देखने का अवसर मिलता है। तब वह अपने जीवन में भी उन्हीं सब बातों को आते हुए देखने लगता है। यदि उस साहित्यिक पात्र का जीवन सुखद होता है तो उसे प्रसन्नता होती है, अन्यथा वह अपने जीवन से उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है जो अन्त में दुःख की ओर ले जाते हैं।

साहित्य समाज की बिखरी हुई इकाइयों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है। अपने अनुभव और लोक-दर्शन के आधार पर साहित्यकार अपनी रचना में किसी भी ऐसी बात को नहीं छोड़ता जो मानव के हित के लिए आवश्यक हो। सत्य तो यह है कि साहित्य में समाज के सौन्दर्य की भाँति ही उसकी कुरूपता का भी सुन्दर रूप में चित्रण किया जाता है। इसके लिए साहित्यकार कल्पना का आश्रय लेकर असुन्दरता में भी सुन्दरता की कल्पना कर लेता है। इस प्रकार वह हमारे समक्ष कुरूप तत्त्वों को भी किसी ऐसे रूप में उपस्थित करता है कि उनमें भी हमें कोई न कोई अच्छाई दिखाई देने लगती है। यह कार्य साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है और इसे कोई प्रतिभा वाला व्यक्ति ही कर सकता है। साहित्यकार में यह प्रतिभा पूर्ण रूप से वर्तमान रहती है और वह समाज-हित के लिए अपनी रचनाओं में अनुभव, चिन्तन तथा कल्पना का सुन्दर योग उपस्थित करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्य, शिव और सुन्दर से युक्त होने के कारण साहित्य का समाज-कल्याण की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यद्यपि यह सत्य है कि कभी-कभी ऐसी रचनाएँ भी उपस्थित की जाती है जो समाज में विकार लाने वाली होती है, किन्तु उन्हें साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जाता। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का कुछ अंश भी इसी प्रकार का है और उसकी भरपूर निन्दा की गई है। इसी प्रकार की अनेक रचनाएँ ऐसी है जिन्हें साहित्य से पृथक् रखा गया है। इन्हें लिखने की प्रेरणा भी समाज से ही प्राप्त होती है, किन्तु इनमें साहित्यकार की प्रतिभा के दर्शन नहीं होते। इसी कारण इन्हें आदर प्राप्त नही हो पाता। वास्तव में समाज के यथार्थ का चित्रण करते हुए भी लेखक को ऐसी स्पष्ट और तीखेपन से युक्त शैली

अपनानी चाहिए जो पाठक को स्वयं भी उस यथार्थ के विषय में विचार करने के लिए विवश कर दे। जो साहित्य पाठक के मन में इस विचार-शक्ति को नहीं जगा सकता वह समाज की भलाई की दृष्टि से व्यर्थ है।

जिस प्रकार समाज साहित्य से पर्याप्त लाभ उठाता है उसी प्रकार साहित्य की रचना भी समाज के सहयोग से ही होती है। जो साहित्य लोक-चेतना से युक्त नहीं होता उसका महत्त्व भी चिरस्थायी नहीं होता। आज हिन्दी-साहित्य में कविवर मैथिलीशरण गुप्त का इतना ऊँचा स्थान इसीलिए है कि उनके काव्य में युग की पूर्ण प्रतिध्वनि उपलब्ध होती है। श्री सियारामशरण गुप्त तथा श्री सोहनलाल द्विवेदी के काव्य में भी गान्धीवादी युग का पूर्ण और निष्पक्ष चित्रण मिलता है। इसी प्रकार हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि श्रीयुत् सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'भिक्षुक' शीर्षक कविता में समाज के एक विशेष वर्ग के दर्शन होते है। उनकी 'कुकुँरमुत्ता' तथा 'नये पत्ते' नामक रचनाओं में भी दलित वर्ग के प्रति पूरी सहानुभूति प्राप्त होती है।

समाज से पृथक् रहकर साहित्य अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। प्रारम्भ में साहित्य का निर्माण समाज की प्रेरणा से ही हुआ था और अब भी समाज साहित्य के बिना नहीं रह सकता है। ऐसी अवस्था में यदि साहित्य द्वारा समाज की उपेक्षा की जाएगी तो जिस प्रकार उसने उसकी रचना की प्रेरणा दी थी उसी प्रकार वह उसे समाप्त भी कर सकता है। इस समय हिन्दी में काव्य-रचना के क्षेत्र में जो गतिरोध आ गया है, उसके मूल में हमें इसी बात की झलक मिलती है। वास्तव में साहित्यकार अपने साहित्य के संस्कार के लिए समाज से ही आलोक ग्रहण करता है। समाज भी प्रत्येक सम्भव रीति से उसकी प्रगति में योग देने का प्रयास करता है। इतना होने पर भी कभी-कभी दुर्भाग्य से परिस्थितियाँ इससे सर्वथा भिन्न हो जाती हैं। ऐसी परिस्थितियों में साहित्यकार समाज के लिए उपयोगी साहित्य की रचना करता है, किन्तु उसे समाज की ओर से प्रोत्साहन के स्थान पर उपेक्षा प्राप्त होती है। इस प्रकार का वातावरण साहित्य के विकास के लिए घातक होता है। अतः साहित्य और समाज को परस्पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखना चाहिए।

समाज के लिए उपयोगी साहित्य की रचना के लिए साहित्यकार को पूरी

सावधानी रखनी चाहिए। वास्तव में समाज के उपयुक्त विकास का विधान करने वाला एकमात्र साधन साहित्य ही है। 'रामचरितमानस' जैसी सुन्दर साहित्यिक रचना द्वारा भारतीय समाज को आज तक जो प्रेरणा उपलब्ध होती रही है, उसे सब जानते हैं। इसी प्रकार सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद' और वृन्दावनलाल वर्मा आदि सभी उत्कृष्ट साहित्यकारों की रचनाओं में समाज-हित का पूरा ध्यान रखा गया है। इन सबके साहित्य का अध्ययन करने पर हम साहित्य में समाज का चित्रण करने की निम्नलिखित तीन प्रणालियाँ पाते हैं—

(१) समाज का पूर्ण चित्रण—

इस प्रणाली के अनुसार साहित्य में समाज को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। ऐसा करते समय साहित्यकार अपनी ओर से अधिक मौलिक चिन्तन उपस्थित नहीं करता है।

(२) समाज का सुधारात्मक चित्रण—

इसके अनुसार साहित्यकार समाज की बुराइयों का चित्रण करने के लिए साहित्य में आदर्शवादी प्रणाली को अपनाता है। ऐसे साहित्य में समाज को किसी विशेष आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें नीति को मुख्य स्थान प्राप्त रहता है।

(३) समाज का क्रान्तिमय चित्रण—

इस रीति के अनुसार साहित्य समाज की रूढ़ियों का विरोध करते हुए क्रान्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन करता है। इसमें समाज के ढाँचे को पूर्ण रूप से बदलने का सन्देश दिया जाता है।

उपर्युक्त रीतियों के अतिरिक्त साहित्यकार अपनी रचनाओं में समाज को अन्य रूपों में भी उपस्थित कर सकता है। आवश्यकता केवल यही है कि वह जिस प्रणाली को भी अपनाए उसके द्वारा समाज को किसी न किसी श्रेष्ठ गुण की ओर ले जाने का प्रयत्न करे। साहित्य को मानव-जीवन का संस्कार करने वाला मानकर चलना साहित्यकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साहित्य की रचना का यही मुख्य उद्देश्य है। इस समय हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद, हालावाद, प्रयोगवाद, स्वच्छन्दतावाद आदि अनेक सिद्धान्तों को मानने वाले

साहित्यकार इस ओर उपर्युक्त ध्यान नहीं दे रहे हैं। साहित्य की इन सभी धाराओं में जीवन को और अधिक निकट से देखने की आवश्यकता है।

: ७ :

हिन्दी-कविता का विकास

मन की रागात्मक चेतना का स्पर्श करने के कारण कविता सदैव व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करती रही है। हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ भी कविता से ही हुआ है। विषय-प्रसार की दृष्टि से हम उसे साधारणतः चार युगों में विभक्त कर सकते हैं। इन युगों के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं—

(१) वीरगाथा काल
(२) भक्ति काल
(३) रीति काल
(४) आधुनिक काल

हिन्दी-कविता के विकास को हृदयंगम करने के लिए हमें स्पष्टतः इन युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करना चाहिए। अतः आगे हम इन सब का पृथक्-पृथक् परिचय उपस्थित करते हैं।

वीरगाथा काल

काल-क्रम की दृष्टि से वीरगाथा काल की अवधि को सामान्यतः सम्वत् १०५०-१३७५ तक नियत किया गया है। इस समय यवन-आक्रमण के फल-स्वरूप भारतवर्ष में सर्वत्र युद्ध का वातावरण उपस्थित रहता था और कविगण अपने आश्रयदाता नरेशों को उत्साह प्रदान करने के लिए वीर-रसात्मक कविताओं की रचना किया करते थे। इस युग के काव्य की रचना प्रायः प्रबन्ध काव्य के रूप में हुई है, तथापि मुक्तक काव्य की पद्धति के अन्तर्गत भी कुछ कवियों ने वीर-गीतों एवं स्वतन्त्र छन्दों को उपस्थित किया है।

वीरगाथा काल की प्रबन्धात्मक काव्य-रचनाओं में कविवर चन्दवरदाई का

'पृथ्वीराज रासो' और वीरगीतात्मक कृतियों में कविवर नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' और जगनिक का 'आल्हा-खण्ड' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इस युग के अन्य कवियों में कवि श्री दलपति विजय, भट्ट केदार और शार्ङ्गधर का भी अच्छा काव्य प्राप्त होता है। कविवर नरपति नाल्ह के अतिरिक्त इन सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में वीर रस को मुख्य स्थान प्रदान करते हुए शौर्य-भाव की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है। यद्यपि भाषा तथा छन्द-प्रयोग की दृष्टि से इन कृतियों का स्थान गौण ही है, तथापि वीर-भावों की दृष्टि से ये अनुपम हैं और इनका चिरकालीन महत्त्व है।

भक्ति काल

वीरगाथा युग के पश्चात् हमारे समक्ष भक्ति युग (सम्वत् १३७५-१७००) का शान्त वातावरण आता है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रहीम एवं रसखान जैसे हिन्दी के सर्वप्रसिद्ध कवियों ने इसी युग में काव्य-रचना की थी। इस युग के कवियों ने साधना-प्रणाली के भेद से अपनी भावनाओं को चार रूपों में उपस्थित किया है। भक्ति के 'निर्गुण' एवं 'सगुण' नामक दो रूपों को स्वीकार करते हुए इस युग में निर्गुण भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने वाले कवियों ने अपनी भावनाओं को ज्ञान-प्रणाली एवं प्रेम-प्रणाली के आधार पर विभाजित किया है। इसी प्रकार सगुण-भक्ति-शाखा के कवियों ने भगवान् राम और कृष्ण की उपासना की है।

निर्गुण-भक्ति-परम्परा

निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी पक्ष का समर्थन करने वाले कवि ब्रह्म को ज्ञान-साधना द्वारा प्राप्त करने की विधि पर बल देते थे। उनके काव्य में सामान्यतः एकेश्वरवाद, धार्मिक मत-मतान्तारों की रूढ़ियों का विरोध, अन्ध-विश्वासों की समाप्ति, संसार की क्षणिकता और हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम आदि विषयों की चर्चा हुई है। इस धारा के कवि प्रायः अशिक्षित थे और उन्होंने मज्जन-सत्संग एवं हृदय की एकनिष्ठता के आधार पर भक्ति-भावों का प्रतिपादन किया है। उनके काव्य में कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष विशेष समृद्ध रहा है। इस धारा के कवियों में महात्मा कबीर का स्थान सर्वप्रमुख है और उनके पदों तथा दोहों का संग्रह 'बीजक' नामक ग्रंथ में हुआ है। उनके अतिरिक्त

सर्वश्री धर्मदास, दादूदयाल, मलूकदास, गुरु नानक, सुन्दरदास और पीपा आदि कवियों ने भी साधारणतः श्रेष्ठ नीतिपरक तथा भक्तिमय काव्य की रचना की है। इस धारा के काव्य के सामान्य परिचय के लिए महात्मा कबीर के काव्य का अध्ययन पर्याप्त है।

निर्गुण भक्ति में प्रेम-पक्ष का समावेश करने वाले कवियों में जायसी का प्रमुख स्थान है। उनके अतिरिक्त इस धारा को विकासोन्मुख रखने में कुतुबन, मंझन, शेख नबी, नूर मुहम्मद आदि अन्य कवियों ने योग प्रदान किया है। इन्होंने निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन करते समय उसमें ज्ञान-तत्त्व के स्थान पर प्रेम-तत्त्व को स्थान दिया है। सामान्यतः इन्होंने आत्मा की पति तथा परमात्मा की पत्नी के रूप में कल्पना करते हुए अपने काव्य में एक आध्यात्मिक रूपक की स्थापना की है। इन्होंने प्रचलित हिन्दू-जन-कथाओं के माध्यम से अध्यात्म-तत्त्व का स्पष्टीकरण किया है। इन काव्यों की रचना अवधी भाषा में चौपाई तथा दोहा नामक छन्दों में हुई है। इनमें 'पद्मावत', 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'इन्द्रावती' उल्लेखनीय हैं। इनके अध्ययन से भारतीय दार्शनिक विचार-धारा के अतिरिक्त फारसी के प्रेम-काव्य का साधारण परिचय भी मिल जाता है।

सगुण-भक्ति-परम्परा

सगुण-भक्ति-धारा को भी सामान्यतः राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है। राम-भक्ति शाखा के कवियों में गोस्वामी तुलसीदास का प्रमुख स्थान है। उनके सहयोगी कवियों ने प्राय: उनका ही अनुकरण किया है। गोस्वामीजी की रचनाओं में 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' और 'कवितावली' प्रमुख हैं। उन्होंने राम-भक्ति में शील और मर्यादा का समावेश करते हुए उसे अत्यन्त आदर्श रूप प्रदान किया है। उनके काव्य में शान्त रस का भव्य रूप प्राप्त होता है। भावना के अतिरिक्त कला-क्षेत्र मे भी उन्होने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। अवधी और ब्रजभाषा दोनो पर उनका समान अधिकार रहा है।

सगुण-मार्ग के कृष्ण-भक्त कवियों मे कविवर सूरदास का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उनके अतिरिक्त अष्टछाप के नन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, परमानन्द-

दास आदि अन्य कवियों तथा मीरा एवं रसखान ने भी उत्कृष्ट भक्ति-पदों की रचना की है। इन सभी कवियों का काव्य मुक्तक रूप में प्राप्त होता है। इन्होंने ब्रजभाषा को अत्यन्त सरस रूप में उपस्थित किया है। इस धारा की कृतियों में भक्त सूरदास की 'सूर-सागर' तथा कविवर नन्ददास की 'रास-पंचाध्यायी' एवं 'भँवरगीत' नामक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इस धारा के कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र के वात्सल्य, शृंगार एवं शान्त नामक रसों से सम्बद्ध पक्षों को अत्यन्त सरस रूप में उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति-युग की कृतियों में सन्त कबीर का 'बीजक', जायसी का 'पद्मावत', सूरदास का 'सूर-सागर', गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' और मीराबाई का 'पदावली-साहित्य' प्रमुख हैं। इन सभी रचनाओं में भक्ति और नीति के स्वर प्रमुख रहे हैं और प्राय: भाषा तथा भावना में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की गई है।

रीति काल

भक्ति युग के अनन्तर हमारे समक्ष रीति युग (सम्वत् १७००–१९००) का शृंगारिक वातावरण आता है। इस अवधि में कवि-कर्म के साथ-साथ काव्य-रचना के नियमों की चर्चा करने का कार्य भी समानान्तर रीति से हुआ है। प्राय: एक ही व्यक्ति ने कवि और आचार्य, दोनों रूपों में उपस्थित होने की चेष्टा की है। इस प्रकार के कवियों में सर्वश्री केशवदास, भूषण, देव, चिन्तामणि, मतिराम एवं भिखारीदास प्रमुख हैं। इन कवि-आचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि के आधार पर रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय अथवा ध्वनि-सम्प्रदायों में से किसी एक का अपने काव्य-शास्त्रों तथा कविताओं में समर्थन किया है।

इनके अतिरिक्त केवल कवि-कर्म में लीन व्यक्तियों में कविवर बिहारीलाल, वृन्द, घनानन्द और लाल के नाम मुख्य हैं। बिहारी की 'सतसई' रीति काल के शृंगार-काव्य में सर्वश्रेष्ठ रचना है। शृंगार रस के अतिरिक्त इसमें कतिपय भक्ति और नीति-सम्बन्धी दोहों द्वारा शान्त रस का भी समुचित समावेश हुआ है। वीररस की दृष्टि से इस युग में महाकवि भूषण ने 'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी', और 'छत्रसाल-दशक'; लाल ने 'छत्र-प्रकाश'; और सूदन ने

'सूदन-रत्नावली' नामक ग्रन्थ उपस्थित किये हैं। इसके अतिरिक्त इस युग के प्रमुख काव्यशास्त्रों तथा काव्य-ग्रन्थों में महाकवि केशवदास के 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'; देव के 'सुजान-बोध' और 'भवानी-विलास'; घनानन्द के 'घनानन्द-ग्रन्थावली'; वृन्द के 'वृन्द-सतसई' और भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' उल्लेखनीय है।

आधुनिक काल

रीति युग के उपरान्त हमारा प्रवेश सीधे आधुनिक काल में होता है। काल-क्रम की दृष्टि से इस युग का प्रारम्भ सम्वत् १९०० से होता है। भावों की विभिन्नता और व्यापकता की दृष्टि से इस युग का अपना पृथक् महत्त्व है। इस अवधि की काव्य-रचनाओं को हम मूलतः भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग और प्रसादोत्तर-युग में विभाजित कर सकते हैं। इस श्रेणी-विभाजन के अनुसार विचार करते समय सर्वप्रथम हमारे समक्ष भारतेन्दु-युग आता है। इस युग में शृंगार रस की तीव्रता का विरोध करते हुए उसका भक्ति के साथ सह-भाव स्थापित किया गया और राष्ट्र-प्रेम की कविताओं की रचनाओं की आवश्यकता के संकेत उपस्थित किये गये। इस युग के कवियों में सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र और सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रमुख हैं। इन सभी कवियों ने प्रायः कृष्ण-भक्ति, शृंगार रस, राष्ट्र-प्रेम और हास्य रस को लेकर काव्य-रचना की है।

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य-धारा को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और कविगण ब्रजभाषा के क्षेत्र से विमुख होकर खड़ी बोली में काव्य-रचना करने लगे। भावनाओं की दृष्टि से भी इस युग में प्राचीन विचारधारा का परित्याग कर नवीन विचारों के प्रति उत्साह प्रदर्शित किया गया। इस युग में स्फुट कविताओं के अतिरिक्त अनेक उत्कृष्ट महाकाव्यों तथा खण्ड-काव्यों की भी रचना की गई। इन कृतियों में 'साकेत', 'जयद्रथ-वध', 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-वनवास', 'पथिक', 'मिलन', 'कादम्बिनी' और 'भारत-भारती' मुख्य है। इस युग के कवियों में सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और गोपालशरण-सिंह उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ कवि आज भी काव्य-साधना में लीन हैं।

प्रसाद-युग में हिन्दी-कविता के क्षेत्र में 'छायावाद' के शीर्षक से एक नवीन काव्य-धारा का प्रारम्भ हुआ। इसमें प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया गया और कविगण कल्पना के आधार पर अव्यक्त को भी व्यक्त रूप प्रदान करने के लिए सचेष्ट रहने लगे। इन कवियों में श्री जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा प्रमुख हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में छायावाद को प्रमुख अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'प्रसाद' जी का 'कामायनी' नामक महाकाव्य भी इस युग में लिखा गया और पन्त जी ने अपने 'पल्लव' तथा 'निराला' जी ने अपने 'परिमल' की रचना भी इसी समय की। इसी युग के आस-पास सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी 'यामा' नामक काव्य-रचना द्वारा तथा डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी विभिन्न कविताओं के माध्यम से छायावाद के साथ-साथ रहस्य-वाद की भी सरस व्याख्या उपस्थित की।

प्रसादोत्तर युग के अधिकांश कवि प्रसाद-युग से ही सम्बन्धित हैं अर्थात् उनका काव्य-रचना-काल उसी युग में प्रारम्भ हो गया था। तथापि इस युग में सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'दिनकर' उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा और सोहनलाल द्विवेदी आदि अनेक नवीन कवियों ने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। काव्य-धारा की दृष्टि से इस अवधि में श्रीयुत् हरिवंशराय 'बच्चन' ने हालावाद और कविवर सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने प्रयोगवाद का प्रवर्तन किया। इन दोनों नवीन काव्य-धाराओं का कुछ आलोचकों द्वारा समर्थन किया गया है और कुछ ने इनके प्रति विरोध प्रदर्शित किया है। इन दोनों के मध्य में पर्याप्त समय तक साम्यवाद के सिद्धान्तों पर आधारित प्रगतिवाद को भी प्रमुख स्थान प्राप्त रहा, किन्तु अब उसकी ओर कवियों का अधिक ध्यान नहीं रहा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्त्तमान हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता, सामा-जिकता और प्रकृति-प्रेम का व्यापक आधार पर समावेश किया गया है। कला-क्षेत्र में छन्दोबद्ध कविताओं के अतिरिक्त काव्य में प्रबन्धात्मकता, गीति-तत्त्व, मुक्त-छन्द-प्रणाली और अतुकान्त रचना का समावेश किया गया है। नवीन काव्य-विषयों में सबसे अधिक उल्लेखनीय विषय कविताओं में ग्राम-

गीतों की भावनाओं का समावेश करना है। भारतीय ग्राम-गीतों में विविध पारिवारिक आदर्शों तथा मानव-स्नेह का जो सहज समावेश उपलब्ध होता है, उससे समन्वित होने पर हिन्दी-कविता निश्चित ही विशेष गौरव को प्राप्त कर सकेगी। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के काव्य के हिन्दी-अनुवाद और उनसे प्रेरणा लेकर काव्य लिखने की भी आज अत्यन्त आवश्यकता है।

: ८ :

हिन्दी का वीरगाथाकालीन काव्य

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ सम्वत् १०५० से माना जाता है। तब से लेकर अब तक उसका अनेक रूपों में विकास हुआ है। मुख्य-मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर उसे वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल में विभाजित किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम वीरगाथा काल के काव्य-विकास का अध्ययन उपस्थित करेंगे। इस युग की स्थिति सम्वत् १३७५ तक रही। इस युग की राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का स्वरूप इस प्रकार है।

राजनैतिक अवस्था

हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव और विकास के समय हमारे देश की राजनैतिक अवस्था अत्यन्त अनिश्चित थी। सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के कारण गुप्त-युग का सम्पूर्ण वैभव नष्ट हो चुका था। देश की एकता खण्डित हो गई थी और वह अनेक भागों में बँट गया था। उस समय कन्नौज, दिल्ली और अजमेर आदि के रूप में विभिन्न खण्ड-राज्य पृथक्-पृथक् स्थित थे। उनमें प्राय: पारस्परिक द्वेष की अवस्था रहती थी। इस प्रकार के प्रत्येक भू-खण्ड का स्वामी अपने आस-पास के राज्यों की विदेशों में गणना करता था। सामूहिक प्रतिष्ठा के स्थान पर उस समय व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को अधिक महत्त्व दिया जाता था। इस कारण प्रत्येक नरेश सम्पूर्ण देश की अपेक्षा अपने राज्य की

उन्नति की ओर अधिक ध्यान देता था। इस समय भारत पर यवनों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो चुके थे, किन्तु यहाँ के नरेश उन्हें पराजित करने के स्थान पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को पारस्परिक युद्धों में ही समाप्त कर देते थे। इसके साथ ही विदेशी शक्ति का सामना करने के लिए वे प्रायः परस्पर संगठित भी न होते थे। इसके फलस्वरूप प्रत्येक आक्रमण के पश्चात् उनमें से एक या दो नरेशों का राज्य समाप्त हो जाता था। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से तत्कालीन वातावरण आन्तरिक और बाह्य संघर्षों के कारण अत्यन्त विक्षुब्ध हो गया था।

सामाजिक अवस्था

सांस्कृतिक दृष्टि से भी वीरगाथा काल में पारस्परिक संघर्ष की स्थिति ही मुख्य रहती थी। उस समय विवाह, मेले और उत्सव आदि समस्त सामाजिक कार्य अन्त में युद्ध अथवा संघर्ष में बदल जाते थे। तात्पर्य यह है कि उस समय प्रेम के स्थान पर वैर-साधन का भाव ही मुख्य हो गया था। इस प्रकार के वातावरण के कारण समाज के नैतिक बन्धन भी पर्याप्त शिथिल हो गये थे। यहाँ तक कि केवल स्त्रियों की प्राप्ति के विषय को लेकर ही उस समय बड़े से बड़े युद्ध हो जाते थे। उस समय की सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण ही युद्ध की भावना को लेकर होता था। इस विषय में अन्य सभी प्रकार के आदर्श प्रायः लुप्त हो गये थे। यदि इस युद्ध-भावना का किसी एक ही राष्ट्रीय आधार पर संगठन किया गया होता तब भी ठीक होता, किन्तु यहाँ स्थिति सर्वथा विपरीत थी। राष्ट्र का अर्थ केवल किसी एक राज्य-विशेष से ही लिया जाने लगा था। इस प्रकार इस युग की संस्कृति हमारी शौर्य-भावना का तो प्रतिनिधित्व करती थी, किन्तु हमारी परम्परागत शान्ति की भावना का वहाँ सर्वथा लोप था।

साहित्यिक अवस्था

वीरगाथा काल का साहित्य मूलतः वीर रस पर आधारित रहा है। उसमें अन्य रसों का प्रयोग प्रायः गौण रूप से हुआ है और उन्होंने सर्वत्र वीर रस को ही उत्कर्ष प्रदान किया है। इस युग के ग्रन्थों की रचना चारण कवियों ने राज्याश्रय में की थी। अतः इस प्रकार के अधिकांश काव्य राजकीय

संग्रहालयों में सुरक्षित रहते थे। कुछ कृतियाँ उनकी वंश-परम्परा में जीविकोपार्जन के लिए भी प्रयुक्त होती थीं। अनेक व्यक्तियों के व्यवहार में आने के कारण उनके मूल रूप में अन्तर भी आ जाता था, किन्तु प्रारम्भ में ही इस दोष को समाप्त करने का प्रयत्न किसी ने भी न किया। 'आल्हा-खण्ड' एक इसी प्रकार की रचना है। सदियों से उत्तर भारत के गाँवों में प्रचलित रहने के कारण इसके अनेक रूप प्राप्त होते हैं। (इसी प्रकार इस युग के प्रायः सभी काव्यों में पाठ-भेद की स्थिति भी रही है। इसके अतिरिक्त बाद के कवि भी अपनी ओर से काव्य-रचना कर उसे मूल कवि के नाम से ही उसके काव्य में समाविष्ट कर देते थे।(वे प्रायः अपने आश्रयदाताओं के विषय में काव्य-प्रकरण लिखते थे और उन्हें प्रसन्न करने के लिए इन प्राचीन प्रतिष्ठित काव्यों में उनका समावेश कर देते थे। वीर-काव्य का विश्लेषण करते समय इस प्रकार की प्रक्षिप्त सामग्री भी पर्याप्त असुविधा उत्पन्न कर सकती है। (अस्तु, रस-निर्बाह और सामान्य प्रवृत्ति की दृष्टि से ये सभी काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। ये प्रायः 'रासो' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी उत्पत्ति सम्भवतः 'रसायण' शब्द से हुई है। इस युग के प्रमुख वीर-काव्यों का परिचय इस प्रकार है—

(१) खुमान रासो—

इस काव्य की रचना कविवर दलपति विजय ने की थी। यह एक प्रबन्ध काव्य है और इसमें चित्तौड़ राज्य के खुमाण द्वितीय (सम्वत् ८७०-९००) के राज्य-काल का वर्णन किया गया है। इसके रचयिता के विषय में कुछ विद्वान् सन्देह प्रकट करते हुए इसे ब्रह्मभट्ट नामक कवि की रचना मानते हैं। इसमें वीर रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस समय इसकी कोई भी शुद्ध प्रति प्राप्त नहीं होती।

(२) बीसलदेव रासो—

यह एक वीर गीतात्मक काव्य है। इसकी रचना नरपति नाल्ह नामक कवि ने की थी। इसमें कवि ने महाराज विग्रहराज चतुर्थ 'बीसलदेव' के राज्य-काल का वर्णन किया है। भाव-पक्ष की दृष्टि से यह काव्य अपने युग की अन्य कृतियों से भिन्न है। इसमें वीर रस के स्थान पर शृंगार रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इसकी रचना चार खण्डों में हुई है। भाव-योजना की दृष्टि

से कवि को इसकी रचना में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। अपने युग के अन्य काव्यों की तुलना में इसमें प्रक्षिप्तता (अन्य कवियों द्वारा बाद में जोड़े गए छन्द) का अंश भी अधिक नहीं है।

(३) पृथ्वीराज रासो—

यह वीरगाथा काल की सर्वश्रेष्ठ रचना है। हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव भी इसे ही प्राप्त है। इस समय इसकी कोई भी शुद्ध प्रति नहीं मिलती। इसकी रचना कविवर चन्दबरदाई ने की है। उन्होंने इसमें अपने आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज की जीवन-घटनाओं का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। इसमें वीर रस को प्रमुख और शृंगार रस को गौण स्थान प्राप्त हुआ है। अन्य रसों का प्रयोग इसमें वीर रस के सहायक रसों के रूप में हुआ है। इस काव्य में डिङ्गल भाषा का प्रयोग हुआ है, तथापि इसमें अरबी, फारसी, तुर्की और संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के शब्द भी प्राप्त होते हैं। इसमें छन्दों एवं अलङ्कारों का व्यापक प्रयोग हुआ है। प्रक्षिप्त अंशों के समावेश के कारण इस कृति का अधिकांश भाग अप्रामाणिक है। रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वान इसे अप्रामाणिक मानते हैं और पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबन्धु तथा डॉ० श्यामसुन्दरदास आदि इसे प्रामाणिक मानते हैं।

(४) आल्हा-खण्ड—

इस काव्य के रचयिता कविवर जगनिक महोबे के चन्देल राजा परमाल के राज-कवि थे। उन्होंने इसमें राजा परमाल के दो सामन्तों आल्हा और ऊदल की जीवन-घटनाओं और उनके द्वारा किये गये युद्धों का विस्तृत वर्णन किया है। कुछ ऐतिहासिक पात्रों के होने पर भी इसके अधिकांश पात्र अनैतिहासिक हैं और इसमें प्रक्षिप्त घटनाओं का बाहुल्य रहा है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह कृति अत्यन्त सजीव बन पड़ी है। आल्हा का दृढ़ और ऊदल का भावुक चरित्र इसका प्रमाण है। वास्तव में इस कृति में ओज और उत्साह को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इसकी भाषा नितान्त व्यावहारिक है। समय के साथ-साथ उसमें परिवर्त्तन हुए हैं और आज उसने १२वीं शताब्दी की भाषा की अपेक्षा आधुनिक कन्नौजी बोली का रूप धारण कर लिया है। यह

वीरगीतात्मक कृति है और प्रयोग की अधिकता के कारण इसकी प्रतियों में एकरूपता उपलब्ध नहीं होती।

(५) **अन्य काव्य—**

इन प्रमुख रचनाओं के अतिरिक्त वीरगाथा काल मे कविवर भट्ट केदार की 'जयचन्द प्रकाश' और श्रीधर कवि की 'रणमल्ल छन्द' नामक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस युग के कुछ काव्य इस समय प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार की रचनाओं में मधुकर कवि की 'जयमयंक-जस-चन्द्रिका' और शार्ङ्गधर की 'हम्मीर रासो' नामक रचनाओं का उल्लेख मिलता है। वीर रस के अतिरिक्त इस युग में अमीर खुसरो तथा विद्यापति का मुक्तक काव्य भी उपलब्ध होता है, किन्तु उसका उल्लेख इस निबन्ध के विषय से बाहर है।

विश्लेषण

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्यिक रूप में इस युग की परिस्थितियाँ अत्यन्त धनी है। इस समय के सम्पूर्ण साहित्य की रचना चारण कवियो द्वारा हुई है। ये कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता और ख्याति का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। इन वर्णनों में ओज की अत्यधिक मात्रा रहती थी। इस युग का वातावरण ही इस प्रकार का था कि वीर रस के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की रचना सम्भव न थी। यही कारण है कि इस समय के साहित्य में नीति तथा शृंगार आदि से सम्बन्धित स्वतन्त्र छन्दों का प्रायः अभाव ही है। चारण कवि मुक्तक तथा प्रबन्ध, दोनों ही प्रकार के काव्य की रचना किया करते थे। उनके काव्य का भाव-पक्ष अधिकाश में प्रत्यक्ष रूप से देखी गई घटनाओं पर आधारित रहता था और कल्पना का उपयोग प्रायः इन घटनाओं को अतिरंजना देने के लिए ही किया जाता था। ये वीर-काव्य प्रबन्ध तथा वीरगीत, दोनों ही रूपों में अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। इन सभी में कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की अत्युक्तिपूर्ण चर्चा की है, कल्पना का अतिरंजित प्रयोग किया है, सरसता के लिए शृंगार का पुट दिया है और युद्धों का ओजस्वी वर्णन किया है।

वीरगाथा काल की सार्थकता यही है कि राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विक्षुब्ध होने पर ही इस युग ने हमें 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हा-

खण्ड' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रदान किए है। इस प्रकार के वातावरण में जनता में निराशा का फैल जाना स्वाभाविक था, किन्तु चारण कवियों ने स्थिति को समझते हुए इस विषय में अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन किया। यद्यपि यह सत्य है कि इन कवियों ने शौर्य को प्राय: अतिरंजित रूप में उपस्थित किया है, किन्तु तत्कालीन वातावरण में जनता की रुचि को इस ओर प्रेरित करने के लिए यही आवश्यक भी था। उस समय की धार्मिक स्थिति को देखते हुए इस साहित्य का महत्त्व हमारे लिए और भी अधिक बढ़ जाता है। इस युग में सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों के योगी अपने उपदेशों द्वारा जनता को कर्म से विरक्त कर जड़ता की ओर उन्मुख कर रहे थे। इस स्थिति में उनके प्रभाव को नष्ट करने में वीरगाथाकालीन साहित्य ने निश्चित रूप से युगान्तरकारी योग दिया। इस साहित्य की सार्थकता यही है कि यह मानव के मन में अखण्ड विश्वास की ज्योति को जगा सका और उसके लिए एक निश्चित कल्याणमय कर्म-पथ की ओर निर्देश कर सका। चेतना के लाभ और विकास की यह अवस्था किसी भी साहित्य के लिए निश्चित रूप से नितान्त गौरव की वस्तु है।

: ६ :

भक्ति काल की निर्गुण-भक्ति-धारा

भक्ति काल में निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति के रूप में ईश्वर की उपासना की दो प्रणालियाँ प्राप्त होती है। इनमें से निर्गुण भक्ति में ईश्वर के निराकार स्वरूप की भक्ति की गई है और सगुण भक्ति में ईश्वर के अवतार-रूप की उपासना हुई है। निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत ईश्वर के रहस्य को प्राप्त करने के लिए ज्ञान और प्रेम की दो प्रणालियों को अपनाया गया है। इन भक्ति-प्रणालियों को क्रमश: 'ज्ञानाश्रयी' और 'प्रेमाश्रयी' कहते हैं। आगे हम इन दोनों का पृथक्-पृथक् परिचय देंगे।

ज्ञानाश्रयी भक्ति-शाखा

इस शाखा के कवियों ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए ज्ञान का आश्रय लिया है। इनके मत को 'सन्त-मत' भी कहा जाता है। जिस समय इन्होंने काव्य-रचना की उस समय भारत पर मुसलमानों का शासन स्थापित हो चुका था। हिन्दुओं और मुसलमानों के भक्ति-मार्ग भिन्न-भिन्न थे। उनमें एकता लाने के लिए यह आवश्यक था कि उनकी भक्ति-पद्धति को एक-जैसा रखा जाय। अतः ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने गोरख-पन्थ के हठयोग, वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफीमत की प्रेम-भावना और वैष्णवों के अहिंसा आदि विविध सिद्धान्तों को मिलाकर एक नवीन भक्ति-मार्ग की स्थापना की। इन्होंने व्यक्तिगत साधना पर विशेष बल दिया है। इन्होंने गुरु की सहायता से ईश्वर को प्राप्त करने की विधि का प्रतिपादन किया है और रूढ़िवाद, मिथ्या आडम्बरों तथा जाति-भेद का तीव्र विरोध किया है।

इस भक्ति-धारा को प्रारम्भ करने का श्रेय महात्मा कबीर को है। अतः ये सभी सिद्धान्त उनके काव्य में सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। आगे हम इस धारा के सभी कवियों के काव्य पर प्रकाश डालेंगे।

(१) महात्मा कबीर—

महात्मा कबीर अशिक्षित थे, किन्तु सज्जनों के सत्संग से उन्होंने पर्याप्त ज्ञान का संचय किया था। उनकी वाणी का संग्रह 'बीजक' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। यह कृति रमैनी, सबद एवं साखी नामक तीन भागों में विभक्त है। महात्मा कबीर ने अपने काव्य को साधारण भाषा में उपस्थित किया है। उन्होंने अपने युग में प्रचलित धार्मिक पाखण्डों तथा जाति-भेद का तीव्र विरोध किया है। उन्होंने भक्ति में स्वार्थ के न होने को आवश्यक माना है और सन्तों को शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने का सन्देश दिया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना दोहों और गेय पदों के रूप में की है। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों ने उनके नाम से 'कबीर-पन्थ' की स्थापना की, जो अभी तक प्रचलित है।

(२) सन्त धर्मदास—

महात्मा कबीर के पश्चात् ज्ञानाश्रयी भक्ति-परम्परा में सन्त धर्मदास का

नाम उल्लेखनीय है। वह महात्मा कबीर के शिष्य थे। उन्होंने अपने काव्य को अपने गुरु के काव्य के समान ही उपस्थित किया है, किन्तु वह उनकी खण्डन-मण्डन की पद्धति से यथेष्ट पृथक् रहे हैं। उनका काव्य पूर्वी हिन्दी-भाषा में प्राप्त होता है।

(३) सन्त रविदास—

सन्त रविदास ने अपने काव्य की रचना मुक्तक-रूप में की है। उनके काव्य में ज्ञानाश्रयी शाखा के सभी प्रमुख सिद्धान्त प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि वह जाति के चमार थे, तथापि उन्होंने भक्ति-भावना से ओत-प्रोत मार्मिक पदों की रचना की है।

(४) गुरु नानक—

सन्त-मत की परम्परा में गुरु नानक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने एकेश्वरवाद की स्थापना करते हुए मूर्त्ति-पूजा और हिन्दू-मुस्लिम-भेद का तीव्र विरोध किया है। उनकी वाणी का संग्रह 'गुरु ग्रन्थ साहब' में प्राप्त होता है। वह कबीर के समान अपनी बात का कट्टरता के साथ समर्थन नहीं करते थे। उनके काव्य की भाषा मूल रूप से पंजाबी है, किन्तु उसमें खड़ी बोली, ब्रज-भाषा तथा कुछ अन्य देशी भाषाओं के शब्द भी प्राप्त होते हैं।

(५) दादूदयाल—

सन्त दादूदयाल ने अपने काव्य में सन्त मत की सभी विशेषताओं को ग्रहण किया है। उनके काव्य पर सूफीमत का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके काव्य में ईश्वर-भक्ति के ज्ञान-पक्ष के अतिरिक्त आत्मा के परमात्मा के प्रति प्रेम एवं विरह के मार्मिक चित्र भी प्राप्त होते है। उनके काव्य में कबीर जैसी सुधार-भावना का अभाव रहा है। उनकी भाषा मारवाड़ी और गुजराती के शब्दों से युक्त पश्चिमी हिन्दी है। उनके नाम से 'दादू-पन्थ' अभी तक प्रचलित है।

(६) सुन्दरदास—

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों में महात्मा सुन्दरदास ने सबसे परिष्कृत काव्य की रचना की है। सुशिक्षित होने के कारण उनकी भाषा-शैली इस धारा के कवियों से पर्याप्त भिन्न रही है। फिर भी उनकी विचारधारा

सन्त-मत के अनुकूल ही है। उनके काव्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। उनका 'सुन्दर-विलास' नामक ग्रन्थ इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

(७) मलूकदास—

सन्त मलूकदास ने आत्म-बोध, वैराग्य, ईश्वरीय प्रेम आदि विभिन्न विषयों को लेकर सुन्दर काव्य-रचना की है। उनकी भाषा अनेकरूप होते हुए भी सुव्यवस्थित है। उनकी 'रत्न-खान' और 'ज्ञान-बोध' नामक दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

उपर्युक्त प्रमुख सन्त कवियों के अतिरिक्त सर्वश्री अक्षर अनन्य, शेख इब्राहीम, वीर भानु, लालदास और हरिदास आदि कतिपय अन्य कवियों ने भी ज्ञानाश्रयी काव्य-धारा के विकास में पर्याप्त योग प्रदान किया है।

प्रेमाश्रयी भक्ति-शाखा

इस धारा के कवियों ने ईश्वर के रहस्य को प्राप्त करने के लिए प्रेम और मधुर भावनाओं का आश्रय लिया है। इसके अतिरिक्त इनसे पूर्व ज्ञानमार्गी सन्तों ने खण्डन-मण्डन की पद्धति को अपनाते हुए जिस हिन्दू-मुस्लिम-संगठन का प्रयत्न किया था, उसे भी उन्होंने नवीन रूप में उपस्थित किया। इस धारा के विकास में योग देने वाले प्रायः सभी कवि मुसलमान थे। अतः इन्होंने हिन्दुओं की प्रसिद्ध लोक-कथाओं में सूफी मत के सिद्धान्तों का समावेश करते हुए उनमें सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किए। इस धारा के सभी कवियों को हिन्दू-धर्म, हिन्दी-भाषा और भारतीय काव्य-पद्धति का अत्यन्त साधारण ज्ञान था। फिर भी इनके प्रयत्न की प्रशंसा ही की जायगी।

प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने अपने काव्यों की रचना फारसी की मसनवी शैली के अनुसार की है। इसी कारण इन्होंने काव्य-कथा को आरम्भ करने से पूर्व ईश्वर-वन्दना, पैगम्बर-स्तुति और अपने समय के बादशाह की प्रशंसा आदि की परम्परा का पालन किया है। इन्होंने आत्मा को पति तथा परमात्मा को पत्नी के रूप में चित्रित करते हुए लौकिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम को उपस्थित किया है। इन्होंने शोक आदि विविध मानवीय भावों की मार्मिक व्यंजना उपस्थित की है। सूफी सन्तों के अनुसार आत्मा

और परमात्मा के मिलन में शैतान (माया) द्वारा बाधाएँ उपस्थित की जाती हैं। प्रस्तुत धारा के कवियों ने भी इसी साधना-प्रणाली को ग्रहण किया है।

इस धारा के काव्यों में विविध साहित्यिक विशेषताएँ ज्ञानाश्रयी धारा के काव्यों की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्राप्त होती हैं। इनमें महात्मा कबीर के साधनात्मक रहस्यवाद के स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद को स्थान प्राप्त हुआ है। इस धारा के काव्य प्रबन्धात्मक रूप में लिखे गए हैं और इनमें कथानक की रमणीयता की ओर बराबर ध्यान दिया गया है। इनकी रचना अवधी भाषा में दोहा और चौपाई नामक छन्दों में हुई है। इस धारा के प्रमुख कवियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) कुतुबन—

कविवर कुतुबन का 'मृगावती' नामक काव्य इस धारा का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें चन्द्रनगर के राजकुमार तथा कंचनपुर की राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है। इसका कथानक सरल और आकर्षक है तथा इसमें साधक के त्याग और कष्ट-सहन का सुन्दर वर्णन हुआ है। इसकी रचना अवधी भाषा में हुई है।

(२) मंझन—

कविवर मंझन ने अवधि भाषा में 'मधुमालती' नामक काव्य लिखा है। यह काव्य इस समय खण्डित रूप में प्राप्त होता है। इसमें कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन किया गया है। इसमें तिलस्म और जादू के कुछ मनोरंजक दृश्यों का भी समावेश हुआ है। इनमें कवि ने अनेक स्थानों पर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। इसमें कल्पना को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है और इसकी वर्णन-शैली मार्मिक तथा हृदयग्राही है।

(३) जायसी—

महाकवि जायसी का प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने 'पद्मावत', 'अखरावट' तथा 'आखिरी कलाम' नामक तीन काव्यों की रचना की है। इनमें से 'पद्मावत' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन तथा सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन

किया गया है। अन्य सूफी-काव्यों की भाँति यह भी एक रूपक-काव्य है और इसमें आध्यात्मिकता को स्पष्ट किया गया है। इसमें कवि की मौलिकता का स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है। जहाँ उनके सहयोगी कवियों ने अपने काव्यों में कल्पना का आश्रय लिया है वहाँ उन्होंने 'पद्मावत' के उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिकता का भी समावेश किया है। इसी प्रकार जहाँ अन्य सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में केवल कोमल भावनाओं को ही स्थान दिया है वहाँ उन्होंने उत्साह, क्रोध तथा युद्ध आदि का चित्रण उपस्थित कर जीवन की अनेकरूपता को स्पष्ट किया है।

(४) उसमान—

कविवर उसमान ने महाकवि जायसी के 'पद्मावत' के अनुसरण पर 'चित्रावली' नामक काव्य की रचना की है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम का वर्णन किया गया है। इसकी कथा पूर्णतः कवि-कल्पित है। इसमें विरह और षट्ऋतुओं का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।

(५) शेख नबी—

कविवर शेख नबी ने 'ज्ञानदीप' नामक काव्य की रचना की है। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है। प्रेमाश्रयी धारा के ग्रन्थों के मूल सिद्धान्तों का इनमें साधारण रूप में समावेश हुआ है।

उपर्युक्त प्रमुख कवियों के अतिरिक्त इस धारा के विकास में श्री कासिम-शाह और नूर मुहम्मद ने भी योग दिया है। इन्होंने क्रमशः 'हंस जवाहिर' और 'इन्द्रावती' नामक काव्यों की रचना की है, किन्तु इन कृतियों का विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। अतः इस काव्य-धारा की समाप्ति कविवर शेख नबी के काव्य के साथ ही माननी चाहिए।

: १० :

भक्ति काल की राम-भक्ति-धारा

सगुण भक्ति से हमारा तात्पर्य ईश्वर के साकार रूप की उपासना से है। इस दृष्टि से भक्ति काल में श्री राम और श्रीकृष्ण की भक्ति की गई है। भक्ति के इन दोनों पक्षों को हिन्दी-साहित्य में 'राम-भक्ति-शाखा' तथा 'कृष्ण-भक्ति-शाखा' के रूप में विभाजित किया गया है। भारतवर्ष में भगवान् राम की उपासना प्राचीन काल से प्रचलित है। वैष्णव-भक्ति के अन्तर्गत राम-भक्ति को कृष्ण-भक्ति से अधिक प्राचीन कहा गया है। उत्तरी भारत में श्री राम की भक्ति का प्रचार मुख्य रूप से स्वामी रामानन्द ने किया था। वह रामानुजाचार्य के भक्ति-सिद्धांतों से प्रभावित थे। उन्होंने वैष्णव धर्म के तत्कालीन स्वरूप में सुधार करते हुए एक ओर तो लोक-मर्यादा के अनुकूल सदाचार से युक्त राम-भक्ति पर बल दिया, दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र से जाति-भेद को दूर किया और तीसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में संस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा को अपनाया।

स्वामी रामानन्द सगुण भक्ति की भाँति निर्गुण भक्ति का भी प्रचार किया करते थे। ज्ञानाश्रयी शाखा के महात्मा कबीर उन्हें अपना गुरु मानते थे। उन्होंने स्वामीजी के उपदेशों से प्रेरणा लेकर सगुण राम की भक्ति को निर्गुण राम की उपासना में बदल दिया, किन्तु कुछ समय पश्चात् यह प्रणाली समाप्त हो गई। आगे चल कर रामानन्दजी की शिष्य-परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना द्वारा राम-भक्ति का जनता में सबसे अधिक प्रचार किया। स्वामी रामानन्द के समकालीन भक्तों में नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में तथा सदन और वैनी ने उत्तर भारत में श्री राम की भक्ति का व्यापक प्रचार किया।

हिन्दी में राम-भक्ति काव्य की रचना करने वाले व्यक्तियों में सर्वप्रथम भूपति का नाम आता है। उन्होंने बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में दोहों और चौपाइयों में राम-कथा का वर्णन किया था। उनके पश्चात् पन्द्रहवीं

शताब्दी में कवि मुनिलाल ने काव्य के विभिन्न अंगों के अनुसार राम-कथा से सम्बन्धित एक काव्य की रचना की थी। भक्ति-काल की राम-भक्ति शाखा का विकास इन दोनों कवियों के पश्चात् हुआ था। अतः आगे हम इस शाखा के मुख्य कवियों का परिचय देंगे।

(१) गोस्वामी तुलसीदास—

तुलसीदासजी ने अपने काव्य की रचना सोलहवीं शताब्दी में की थी। उन्होंने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा और अवधी में की थी। उनकी रचनाओं में 'रामचरितमानस', 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' और 'कवितावली' मुख्य हैं। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा श्री राम की भक्ति का व्यापक प्रचार किया है। लोक-संग्रह की भावना से युक्त होने के कारण उनके काव्य में भक्ति के अतिरिक्त नीति की भी अनेक सुन्दर उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उनकी रचनाओं में 'रामचरितमानस' की रचना प्रबन्ध-काव्य के रूप में हुई है और शेष कृतियाँ मुक्तक काव्य के रूप में प्राप्त होती हैं।

मुसलमानों का शासन होने के कारण गोस्वामी तुलसीदास के युग में हिन्दू-धर्म की व्यवस्था बिगड़ गई थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में राम-भक्ति का प्रचार कर धार्मिक व्यवस्था की फिर से सफल स्थापना की। उन्होंने समाज की भलाई के लिए अनेक आदर्शों को सरल रूप में उपस्थित किया और जनता द्वारा इन आदर्शों का अब तक पहले की भाँति सम्मान किया जाता है। उनका 'रामचरितमानस' भावना और कला, दोनों ही दृष्टियों से एक उत्तम काव्य बन पड़ा है। उनके काव्य से इस शाखा के सभी कवियों ने प्रेरणा ग्रहण की है। सत्य तो यह है कि राम-भक्ति का गान करने वाले अब तक के सभी कवियों में उनका प्रतिनिधि स्थान है और कोई भी अन्य कवि उनके काव्य की समता नहीं कर सकता है।

(२) स्वामी अग्रदास—

स्वामी अग्रदास का 'राम-ध्यान-मंजरी' नामक काव्य प्राप्त होता है। वह श्री कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। उनके काव्य में भक्ति-भावना का तो उचित समावेश हुआ है, किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है।

(३) नाभादास—

नाभादासजी स्वामी अग्रदास के शिष्य थे। उन्होंने अपने राम-काव्य की रचना स्वतन्त्र पदों के रूप में की है। वह ब्रजभाषा के अधिकारी विद्वान् थे, किन्तु उनका राम-काव्य अवधी भाषा में प्राप्त होता है। उनकी रचनाओं में 'भक्तमाल' विशेष प्रसिद्ध है। इसमें उस समय के मुख्य भक्तों के जीवन-चरित्र दिए गए हैं।

(४) प्राणचन्द चौहान—

चौहानजी की 'रामायण महानाटक' नामक कृति प्राप्त होती है। इस रचना में काव्य-सौन्दर्य का स्पष्ट अभाव रहा है, किन्तु राम-काव्य में नाटकों की शैली का समावेश करने के कारण इसका अपना पृथक् महत्त्व है।

(५) हृदयराम—

कविवर हृदयराम की 'हनुमन्नाटक' शीर्षक कृति प्राप्त होती है। इसमें भी नाटकीय शैली का आश्रय लिया गया है। इसकी रचना संस्कृत के हनुमन्नाटक शीर्षक ग्रन्थ के आधार पर सवैया छन्द में हुई है। प्राणचन्द चौहान की रचना की तुलना में इस कृति को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इसका कारण इसमें प्राप्त होने वाली काव्य-सौन्दर्य की अधिकता ही है।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त बाबा रामचरनदास, रघुनाथदास एवं रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह ने राम-भक्ति-शाखा के विकास में योग दिया है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि कुछ कवियों ने हनुमान-भक्ति को राम-भक्ति का एक अंग मानते हुए भी काव्य-रचना की है। इस दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास की 'हनुमान-बाहुक' तथा कवि रायमल पाण्डे की 'हनुमच्चरित' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

विश्लेषण

भक्ति-काल के राम-भक्ति-काव्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें काव्य-रचना की विविध शैलियाँ प्राप्त होती है। जहाँ उस युग के कृष्ण-काव्य की रचना केवल मुक्तक पदों के ही रूप में हुई है वहाँ राम-काव्य को प्रबन्ध-काव्य शैली के अनुसार भी उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार उसमें गीति-काव्य और नाटकीयता की शैलियों का भी निर्वाह हुआ है। भाव-

वर्णन की दृष्टि से इस धारा के काव्य में राम-भक्ति का पूर्ण विकास हुआ है। भक्ति की पूर्णता के लिए उसमें श्रद्धा और प्रेम, दोनों की स्थिति होनी चाहिए। राम-भक्ति-काव्य में हमें ये दोनों ही विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। जीवन में सदाचार और मर्यादा के महत्त्व को इस काव्य में पूर्ण रूप से स्पष्ट किया गया है। इतना होने पर भी हिन्दी में राम-काव्य का उतना विकास न हो सका, जितना कृष्ण-काव्य का हुआ। इसके निम्नलिखित कारण है :—

(१) भगवान् राम का चरित्र मर्यादा, गम्भीरता आदि दिव्य गुणों से युक्त है। उसमें कृष्ण-चरित्र में प्राप्त होने वाली मधुरता एवं कोमलता के लिए उतना स्थान नहीं है। इस प्रकार उनके हृदय में लोक-संग्रह एवं लोक-रक्षा के भाव तो अवश्य है, किन्तु लोक-रंजक तत्त्वों का वहाँ पर्याप्त अभाव है।

(२) गोस्वामी तुलसीदास ने राम-काव्य की अत्यन्त प्रौढ़ रूप में रचना की है। उनके काव्य का अध्ययन करने पर उस युग के अन्य कवियों को इस विषय पर लिखने का अधिक साहस ही न हुआ। इसके अतिरिक्त जनता को भी तुलसी के काव्य के समक्ष किसी अन्य कवि का काव्य आकर्षित न कर सका।

(३) कृष्ण-काव्य का लोकप्रिय होना भी राम-काव्य के विकास में बाधक सिद्ध हुआ, क्योंकि अधिकाँश कवि उसी की रचना की ओर उन्मुख हो गए।

(४) 'रामचरितमानस' की रचना अवधी भाषा में हुई है। अतः राम-काव्य की सफल रचना के लिए अवधी भाषा को सर्वश्रेष्ठ माना गया। इसी कारण ब्रजभाषा में अवधी की तुलना में श्रेष्ठ राम-काव्य की रचना न की जा सकी। अतः जब अवधी साहित्य की भाषा न रही तब राम-काव्य की रचना पर भी प्रतिबन्ध लग गया।

: ११ :

भक्ति काल की कृष्ण-भक्ति-धारा

जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी स्वामी रामानन्द ने राम-भक्ति का प्रचार किया था उसी प्रकार निम्बार्काचार्य,

मध्वाचार्य और विष्णु स्वामी के आदर्शों को सम्मुख रख कर चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार किया। यद्यपि श्रीराम एवं श्रीकृष्ण में देवत्व की भावना का समावेश लगभग साथ-साथ ही हुआ था, तथापि माधुर्य-भाव से युक्त होने के कारण कृष्ण-भक्ति को ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। हिन्दी में कृष्ण-भक्ति का प्रचार श्री वल्लभाचार्य ने किया। उन्होंने 'भागवत पुराण' के आधार पर प्रेम-लक्षणा भक्ति को अपनाया है। इस प्रकार की भक्ति में आत्म-चिन्तन की अपेक्षा आत्म-समर्पण की भावना को मुख्य स्थान प्रदान किया जाता है।

अष्टछाप के कवि

वल्लभाचार्यजी ने शुद्धाद्वैतवाद और पुष्टिमार्ग नामक भक्ति के दो सिद्धान्तों की स्थापना की है। इनके द्वारा उन्होंने भक्त को ईश्वर का अनुग्रह (पुष्टि) प्राप्त करने की सरल विधि बतलाई है। इस कारण उनके समुदाय में अनेक वैष्णवों ने दीक्षा ली और इस प्रकार कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ। उनके सिद्धान्तों को मान कर कृष्ण-भक्ति का विकास करने वाले कवियों में अष्टछाप के कवि प्रमुख है। अष्टछाप की स्थापना गोस्वामी विट्ठलनाथ ने की थी। इसके कवियों के नाम सर्वश्री सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्द-स्वामी हैं। आगे हम इन सबके काव्य का पृथक्-पृथक् परिचय देंगे।

(१) सूरदास—

महात्मा सूरदास का भक्ति काल की कृष्ण-भक्ति शाखा में सबसे प्रमुख स्थान है। अष्टछाप के कवियों में भी वही सबसे श्रेष्ठ हैं। यद्यपि उन्होंने अपने काव्य की रचना करते समय भागवत से प्रेरणा ली है, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण के चरित्र को मौलिक रूप में उपस्थित किया है। यही कारण है कि जहाँ भागवत के कृष्ण शक्ति के प्रतीक है वहाँ सूर के कृष्ण के चरित्र में प्रेम और मधुरता को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने काव्य में कृष्ण के जीवन के अन्तिम भाग का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने अपने काव्य में वात्सल्य रस, शृंगार रस और शान्त रस का सुन्दर प्रयोग किया है। उनके काव्य में गोचारण युग की संस्कृति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है।

इसीलिए उन्होंने नन्द, यशोदा, कृष्ण, राधा तथा गोपियों के चरित्रों को उसी संस्कृति के अनुसार उपस्थित किया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना गाये जाने योग्य मुक्तक पदों के रूप में की है। उनकी शैली सर्वत्र प्रवाह-पूर्ण रही है और उन्होंने सरल ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है। उनके पदों का संग्रह 'सूर-सागर' के नाम से उपलब्ध होता है।

(२) नन्ददास—

कविवर नन्ददास अष्टछाप के एक प्रमुख कवि हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण के विषय में सरस और मधुर काव्य की रचना की है। इस दृष्टि से उन्होंने कृष्ण की रास-लीला और भ्रमरगीत के प्रसंगों को लेकर 'रासपंचाध्यायी' तथा 'भँवरगीत' नामक रचनाएँ उपस्थित की हैं। उन्होंने अपने भावों को संक्षिप्त और मार्मिक रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने अपना काव्य मुक्तक रूप में ब्रजभाषा में लिखा है। उनकी भाषा स्वच्छ, मधुर और साहित्यिक है। उनकी शैली भी चुभती हुई, आकर्षक और प्रवाहपूर्ण है। उनकी भाषा के विषय में निम्नलिखित उक्ति प्रसिद्ध है—

और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।

(३) कृष्णदास—

कविवर कृष्णदास ने राधा और कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार रस के पद लिखे हैं। वह जाति के शूद्र थे, किन्तु फिर भी कृष्ण-भक्त कवियों में उनका ऊँचा स्थान है। उन्होंने अपने काव्य की रचना मुक्तक रीति के अनुसार की है। भावों की दृष्टि से उनके काव्य को साधारण ही कहा जायेगा। उनकी 'जुगलमान-चरित्र' 'भ्रमरगीत' तथा 'प्रेम-तत्त्व-निरूपण' नामक कृतियाँ प्राप्त होती हैं।

(४) परमानन्ददास—

भक्तवर परमानन्ददास ने तन्मयता से भरे हुए आकर्षक भक्ति-पद लिखे हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण को लेकर शृंगार रस और विनय-भाव से सम्बन्धित सरस काव्य की रचना की है। उनके मुक्तक पदों का संग्रह 'परमानन्द-सागर' नामक ग्रन्थ में हुआ है।

(५) कुम्भनदास—

भक्त कुम्भनदास ने कृष्ण-कथा के वात्सल्य रस और शृंगार रस से

सम्बन्धित प्रकरणों को लेकर मुक्तक पदों के रूप में काव्य-रचना की है। वह परम कृष्ण-भक्त कवि थे और संसार से विमुख रहकर भक्ति में लीन रहा करते थे।

(६) चतुर्भुजदास—

भक्त कुँभनदास के पुत्र चतुर्भुजदास भी कृष्ण-भक्त कवि थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला का गान किया है। उन्होंने अपने काव्य में नित्य-प्रति व्यवहार में आने वाली ब्रजभाषा का व्यवस्थित प्रयोग किया है। इस समय उनके 'भक्ति-प्रताप', 'द्वादश-यश' और 'हित जू को मंगल' नामक काव्य-ग्रन्थ तथा कुछ मुक्तक पद भी प्राप्त होते हैं।

(७) छीतस्वामी—

श्रीकृष्ण के महत्त्व का तन्मयता के साथ शान्त प्रतिपादन करने वाले कवियों में छीतस्वामी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला का गान करने के अतिरिक्त विनय-भाव के भी सुन्दर पद लिखे हैं। ब्रज-भूमि और ब्रज में रहने वालों के प्रति उन्होंने विशेष अनुराग दिखाया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना मधुर ब्रजभाषा में की है और वह मुक्तक पदों के रूप में प्राप्त होता है।

(८) गोविन्दस्वामी—

कविवर गोविन्दस्वामी ने श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का सरस वर्णन किया है। उन्होंने यशोदा के पुत्र-प्रेम का अच्छा चित्रण किया है, तथापि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उनका काव्य साधारण कोटि का ही है। काव्य के अतिरिक्त वह संगीत-कला में भी पारंगत थे। अतः उनके काव्य की रचना मुक्तक गेय पदों के रूप में ही हुई है।

इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि ब्रजभाषा-साहित्य में अष्टछाप के कवियों का मुख्य स्थान है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा वैष्णव धर्म के प्रचार में पर्याप्त योग दिया है। उनके काव्य में ब्रजभाषा का अपूर्व माधुर्य प्राप्त होता है और भावना तथा कला, दोनों ही की दृष्टि से उन्होंने अपने बाद के कवियों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है।

अन्य कृष्ण-भक्त कवि

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त श्री हितहरिवंश, मीराबाई, गदाधर भट्ट, स्वामी हरिदास, सूरदास मदनमोहन एवं रसखान आदि कुछ अन्य कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति-काव्य की रचना की है। इनमें मीराबाई का सब से मुख्य स्थान है। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार करते हुए माधुर्य भाव की भक्ति की है। उन्होंने श्रीकृष्ण के सौन्दर्य और उनकी लीलाओं का सरस गान किया है। उनका काव्य मुक्तक रूप में मिलता है और उन्होंने उसकी रचना राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में की है। उनके सभी पद गाये जा सकते हैं और उनकी शैली प्रवाहपूर्ण, सरल तथा आकर्षक है। हिन्दी की स्त्री-लेखिकाओं में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सामान्य विश्लेषण

भक्ति काल के सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति-काव्य का अध्ययन करने पर हमें उसमें निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती है—

(१) इस काव्य में भक्ति को ज्ञान के बन्धन से मुक्त रखते हुए उसमें कीर्तन के आकर्षण का समावेश किया गया है।

(२) कृष्ण-भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के लोक-रंजक रूप का वर्णन किया है। उन्होंने केवल प्रेम-लक्षणा (माधुर्य भाव से युक्त) भक्ति को अपनाया है। उनके काव्य में भक्ति के लिए आवश्यक श्रद्धा-भाव अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं होता।

(३) इस काव्य-धारा के किसी भी कवि ने प्रबन्ध-काव्य की रचना नहीं की है। अतः इसमें जीवन की अनेकरूपता का समावेश नही हो सका है।

(४) इस काव्य में ब्रजभाषा की मधुरता का उत्कृष्ट समावेश हुआ है। यद्यपि इसकी रचना मुक्तक रूप में हुई है, तथापि गेय होने के कारण इसका हिन्दी-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

: १२ :

रीतिकालीन हिन्दी-काव्य

रीति काल में हिन्दी-काव्य की रचना मुख्य रूप से शृंगार रस को लेकर ही हुई है। इस युग के कवियों ने कृष्ण-भक्ति का सहारा लेकर श्रीकृष्ण का राधा तथा अन्य गोपियों से प्रेम-सम्बन्ध दिखाया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना मुक्तक काव्य के रूप में की है। राधा-कृष्ण-प्रेम को लेकर जितना साहित्य इस युग में लिखा गया उतना इससे पूर्व कभी नहीं लिखा गया था। श्रीकृष्ण की बाल-लीला की इस काव्य में पूर्ण रूप से उपेक्षा की गई है, किन्तु विनय-भाव से युक्त शुद्ध भक्ति के छन्द कहीं-कहीं उपलब्ध हो जाते हैं। आगे हम इस युग के कवियों और उनके काव्य की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

(१) कविवर केशवदास—

केशव ने अपने काव्य में अलंकारों को प्रमुख स्थान दिया है। उन्होंने राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति, दोनों की ओर समान ध्यान दिया है। उनकी रचनाओं में 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' सब से मुख्य हैं। 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य है और शेष दोनों रचनाएँ मुक्तक रूप में लिखी गई हैं। स्वतन्त्र मुक्तक काव्य लिखने के अतिरिक्त उन्होंने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में अलंकारों और रसों आदि के उदाहरण देने के लिए भी कविताएँ लिखी है, किन्तु प्राय: ऐसे छन्द काव्य-कला की दृष्टि से अधिक सुन्दर नहीं बन सके है। उनके काव्य में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु उन्होंने अन्य रसों को भी अपने काव्य में पर्याप्त स्थान दिया है।

(२) कविवर चिन्तामणि—

चिन्तामणि ने काव्य की रचना करने के अतिरिक्त आचार्य के रूप में भी अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने भी काव्य के विभिन्न अंगों के उदाहरण उपस्थित करने के लिए काव्य-रचना की है। उनके काव्य में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। यही कारण हैं कि उन्होंने अपने

काव्य में श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं के अनेक सूक्ष्म तथा स्थूल चित्र उपस्थित किए हैं। उन्होंने अपने काव्य की रचना मधुर ब्रजभाषा में की है।

(३) महाकवि बिहारीलाल—

बिहारी सौन्दर्यवादी कवि थे। उन्होंने 'बिहारी-सतसई' नामक ग्रंथ की रचना की है। हिन्दी के सतसई-काव्यों में इस कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें श्रृंगार रस को मुख्य स्थान दिया गया है और उसके संयोग तथा वियोग के चित्रों को अनेक रूपों में उपस्थित किया गया है। इसमें कवि ने नायिका-भेद के अनुसार नायिका की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख किया है। इसमें भावों का सूक्ष्म रूप से प्रतिपादन किया गया है। यह श्रृंगार रस की सर्वश्रेष्ठ रचना है, किन्तु इसमें नीति और भक्ति के अनेक दोहों के कारण शान्त रस का भी सुन्दर समावेश हुआ है। बिहारी ने दोहे के समान छोटे छन्द में व्यापक भावों का समावेश कर अपनी प्रतिभा का प्रशंसनीय परिचय दिया है। भाव-पक्ष की भाँति उनके काव्य का कला-पक्ष भी अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ा है। आगे हम उनका प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी एक सुन्दर दोहा उद्धृत करते हैं—

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौर-ठौर झौंरत-झँपत, भौंर-झौंर मधु अंध॥

(४) कविवर मतिराम—

मतिराम ने कवि के अतिरिक्त आचार्य के रूप में भी साहित्य-सेवा की है। उन्होंने श्रृंगार रस को लेकर सरस काव्य की रचना की है। उनकी 'सतसई' में श्रृंगार रस के दोहों के अतिरिक्त भक्ति और नीति-सम्बन्धी दोहों का भी अच्छा संग्रह हुआ है। श्रृंगार रस के अन्तर्गत उन्होंने जहाँ संयोग श्रृंगार के छविपूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं वहाँ विरह का भी उपयुक्त चित्रण किया है। उनके काव्य में भावना और कला, दोनों ही की दृष्टि से स्वाभाविकता की ओर पूरा ध्यान दिया गया है।

(५) महाकवि देव—

देव ने भी कवि और आचार्य, दोनों के रूप में अपनी कुशलता दिखाई है। उन्होंने श्रृंगार रस को लेकर अनेक सरस कवित्तों की रचना की है। उनकी कविताओं में मौलिकता को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने

काव्य में कल्पना को भी पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। । यह कल्पना कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप में प्राप्त होती है। उन्होंने शृंगार रस के अनेक स्वच्छ चित्र उपस्थित किए हैं। उनके काव्य की बिहारी के काव्य से प्रायः तुलना की जाती है। मिश्रबन्धु, पं० कृष्णबिहारी मिश्र और डा० नगेन्द्र ने उनके काव्य की विशेष रूप से प्रशंसा की है।

(६) कविवर पद्माकर—

पद्माकर ने भी कवि और आचार्य, दोनों के रूप में काव्य-साधना की है। उनकी कविताओं में कृत्रिमता का स्पष्ट अभाव रहा है। उन्होंने अपने भावों को स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया है और यथास्थान कल्पना का भी उपयोग किया है। भावों के अनुसार उनकी भाषा भी अनेक रूपों में बदलती रही है। इसी कारण कहीं वह कोमल रूप में प्राप्त होती है और कहीं उसमें ओज का समावेश हो गया है।

(७) महाकवि घनआनन्द—

घनआनन्द ने अपने काव्य में प्रेम की सुन्दर व्यंजना उपस्थित की है। उन्होंने प्रेम की गम्भीरता का अच्छा उद्घाटन किया है। उनके काव्य का सम्बन्ध भी कृष्ण की प्रेम-लीलाओं से ही रहा है। शृंगार रस के अन्तर्गत उन्होंने संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग शृंगार का अधिक मार्मिक वर्णन किया है। रीति काल के कवियों में उनकी भाषा सबसे अधिक मधुर तथा स्वच्छ रही है। वैसे भी भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा के कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त रीति काल में सेनापति, भिखारीदास, रसलीन, प्रतापसाहि, ग्वाल और बेनी प्रवीण ने भी अच्छे काव्य की रचना की है।

सामान्य विश्लेषण

रीति काल के काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें शृंगार रस के विभिन्न अंगों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। उसमें प्रेम की गम्भीरता के स्थान पर रसिक कृष्ण के चंचल प्रेम-भावों को

अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। कृष्ण का यह रूप रीति काल से पूर्व भक्ति काल के राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में प्रवेश पा चुका था। अतः इसके लिए केवल रीतिकालीन कवियों की ही निन्दा उचित नहीं है। आधुनिक युग के अनेक आलोचकों ने शृंगार रस की अधिकता और उसके स्थूल चित्र उपस्थित करने के कारण रीति काल के शृंगार-काव्य का विरोध किया है। इस स्थान पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस युग में केवल शृंगार रस के स्थूल चित्र ही नहीं मिलते, अपितु कुछ कवियों ने उसे सूक्ष्म रूप में भी उपस्थित किया है। इन कवियों में बिहारी और देव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने काव्य में नायिका के रूप के ऐसे अनेक उज्ज्वल और प्रभावशाली चित्र उपस्थित किए हैं जिनकी किसी भी अवस्था में उपेक्षा नहीं की जा सकती। शृंगार रस के प्रेम-भाव को मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः केवल उसका चित्रण करने के कारण ही किसी व्यक्ति के साहित्य की निन्दा नहीं की जा सकती। रीति काल के कवियों की भूल यह है कि उन्होंने इस प्रेम-भाव का सर्वत्र श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं से सम्बन्ध दिखाया है। यदि इसके स्थान पर उन्होंने शृंगार रस का स्वतन्त्र चित्रण किया होता और उसमें भक्ति को मिलाने का प्रयत्न न किया होता तो उन्हें अधिक सफलता मिलती।

इस स्थान पर यह भी उल्लेखनीय है कि रीति काल में शृंगार-काव्य के अतिरिक्त वीर-काव्य और नीति-काव्य की भी रचना की गई थी। वीर-काव्य की रचना करने वाले कवियों में भूषण, लाल और सूदन प्रमुख है। इनमें भी भूषण का स्थान सब से मुख्य है। उन्होंने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व का भी निर्वाह किया है। अपनी 'शिवराजभूषण' शीर्षक रचना में उन्होंने आचार्यत्व और कवित्व का साथ-साथ समावेश किया है। यह एक अलंकार-ग्रन्थ है और इसमें शिवाजी के महत्त्व को स्पष्ट करने वाले छन्दों को अलंकारों के उदाहरणों के रूप में उपस्थित किया गया है। इसके अतिरिक्त उनके 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' नामक दो अन्य काव्य-ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है। इनमें क्रमश. महाराज शिवाजी और महाराज छत्रसाल के शौर्य का ओजस्वी वर्णन किया गया है।

नीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों में कविवर वृन्द का नाम उल्लेखनीय है। उनके अतिरिक्त बिहारी और मतिराम आदि अन्य कवियों ने भी नीति-विषयक कुछ स्फुट छन्दों की रचना की है। वृन्द कवि ने अपनी 'वृन्द-सतसई' में केवल नीति-विषयक विचारधारा का ही समावेश किया है। हिन्दी में नीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने काव्य की रचना दोहा छन्द में ब्रजभाषा में की है। नीति के समावेश की दृष्टि से उनके अधिकांश छन्द मार्मिक तथा श्रेष्ठ बन पड़े हैं।

: १३ :

रीति काल के आचार्य

हिन्दी-साहित्य में रीति काल की स्थिति सम्वत् १७०० से १६०० तक रही है। इस अवधि में काव्य लिखने के अतिरिक्त कुछ कवियों ने उसके स्वरूप और रचना-प्रणाली आदि के विषय में भी विचार उपस्थित किए है। रीति काल के आचार्यों से हमारा तात्पर्य इन्हीं कवियों से है। इस युग को 'रीति काल' इसी कारण कहा जाता है कि इसमें काव्य-रीति का वर्णन किया गया है। अत: यह स्पष्ट है कि रीति काल के आचार्यों ने काव्य और उसके विभिन्न अंगों के विषय में लक्षण तथा उदाहरण उपस्थित किए हैं। इसके लिए उन्होंने संस्कृत के काव्य-शास्त्र का आधार लिया है। फिर भी इस विषय पर संस्कृत की मौलिक और सबसे श्रेष्ठ रचनाओं से उन्होंने सहायता नहीं ली है। इसका कारण यह है कि इन रचनाओं का अध्ययन करने में उन्हें पर्याप्त श्रम करना पडता। अपने कार्य को सरल रखने के लिए वह काव्य-शास्त्र के किसी विवाद में नहीं उलझे है और उन्होंने साधारण संस्कृत-ग्रन्थों का ही आधार लिया है। मौलिकता के आधार पर हम रीति काल के आचार्यों के कार्य को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

(१) गम्भीर शास्त्र-विवेचन—

इस वर्ग के आचार्यों ने संस्कृत के 'काव्य-प्रकाश' और साहित्य-दर्पण' के आधार पर काव्य के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने इन दोनों कृतियों का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया है और रस काव्य-रचना की रीति, ध्वनि, अलंकार तथा नायिका-भेद आदि विविध विषयों की गम्भीर चर्चा की है। इनमें से काव्य के प्रत्येक अंग के स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद उन्होंने इनके उदाहरण भी उपस्थित किए हैं। ये उदाहरण स्वयं उन्हीं के बनाए हुए हैं। इतना होने पर भी इस वर्ग के आचार्य अपने काव्य-विवेचन में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। उनके द्वारा उपस्थित की गई बातें प्रायः अस्पष्ट और अपूर्ण रह गई हैं)। इस वर्ग की रचनाओं में चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक' नामक ग्रन्थों, कुलपति के 'रस-रहस्य', देव के 'शब्द-रसायन', श्रीपति के 'काव्य-सरोज', भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय', प्रतापसाहि के 'काव्य-विलास' और सोमनाथ के 'रस-पियूषिणी' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इस वर्ग के आचार्यों ने मौलिकता का परिचय नहीं दिया है, तथापि कुलपति, भिखारीदास और प्रतापसाहि ने कहीं-कहीं अच्छी मौलिकता दिखाई है।

(२) रस-सम्बन्धी शास्त्र-विवेचन—

इस वर्ग के आचार्यों ने शृंगार रस को रसराज माना है। अतः शृंगार रस का विवेचन उपस्थित करने में ही उन्होंने अधिक रुचि दिखाई है। इस विषय में उनका आग्रह इतना प्रबल रहा है कि केशव और बेनी प्रवीण ने शेष रसों को भी शृंगार रस में मिलाकर ही देखा है। रस-विवेचन की यह प्रणाली उचित नहीं है। इस वर्ग के काव्य-शास्त्रों में केशवदास के 'रसिक-प्रिया', मतिराम के 'रसराज', देव के 'रस-विलास' भिखारीदास के 'रस-निर्णय' और बेनी प्रवीण के 'नवरस-तरंग' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इन कृतियों में कहीं भी प्रशंसा के योग्य मौलिकता का परिचय नहीं दिया गया है।

(३) अलंकार-सम्बन्धी शास्त्र-विवेचन—

इस वर्ग के आचार्यों ने दो प्रकार से अंलकारों की चर्चा की है : एक ओर

तो उन्होंने संस्कृत के 'चन्द्रालोक' नामक ग्रन्थ के आधार पर केवल प्रसिद्ध अलंकारों के स्वच्छ लक्षण और उदाहरण दिए हैं और दूसरी ओर प्रसिद्ध अलंकारों की चर्चा करते हुए भी उनके लक्षणों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया है और केवल उदाहरण ही सुन्दर रखे है। इनमें से प्रथम श्रेणी के अलंकार-ग्रन्थों में जसवन्तसिंह के 'भाषा-भूषण', सूरत मिश्र के 'अलंकार-माला', भूपति के 'कण्ठाभूषण' और रामसिंह के 'अलंकार-दर्पण' और पद्माकर के 'पद्माभरण' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में अलंकारों के विस्तृत और मौलिक विवेचन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। द्वितीय श्रेणी के अलंकार-ग्रन्थों में मतिराम का 'ललित ललाम', दूलह का 'कविकुल-कण्ठाभरण', भूषण का 'शिवराज-भूषण' और ग्वाल का 'रसिकानन्द' मुख्य हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रीति काल के आचार्यों ने अलंकार-विवेचन में मौलिकता का परिचय नहीं दिया है।

काव्य, रस और अलंकार के अतिरिक्त रीति काल के आचार्यों ने नायिका-भेद के विवेचन की ओर भी ध्यान दिया है। इस क्षेत्र में उन्होंने संस्कृत के आचार्यों की अपेक्षा अधिक कार्य किया है, किन्तु गम्भीर आलोचना के अभाव में वह इस दिशा में भी प्रशंसा-योग्य कार्य नहीं कर सके हैं। इस क्षेत्र में केवल देव, भिखारीदास और रसलीन ने ही अवस्था, गुण और वय के आधार पर नायिका-भेद का सन्तोषप्रद विवेचन किया है, तथापि कहीं-कहीं वह भी व्यर्थ के भेदों में उलझ कर रह गए है। उनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने प्रायः नायिका-भेद का असंगत विवेचन किया है और प्रकृति के अनुसार नायिका-भेद (गधी-नायिका, चील-नायिका आदि) तथा आयुर्वेद के अनुसार नायिका-भेद (वात, पित्त एवं कफ-प्रधान नायिकाएँ) करके अपने अविवेकी होने का परिचय दिया है।

सामान्य विश्लेषण

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि रीति काल के आचार्यों ने आलोचना के क्षेत्र में कहीं भी मौलिकता का परिचय नहीं दिया है। उन्होंने अपने काव्य-विवेचन को केवल संस्कृत के काव्य-शास्त्र पर आधारित रखा है। यह एक गम्भीर भूल है। यदि उन्होंने हिन्दी-काव्य का अध्ययन कर उसे दृष्टि में

रखते हुए संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों को हिन्दी में लिखा होता तो उन्हें कहीं अधिक सफलता मिल सकती थी। उस अवस्था में उन्हें मौलिक चिन्तन के लिए पूर्ण सुविधा मिलती और वह अपने विचारों को अधिक दृढ़ता के साथ कह सकते थे। ऐसा न करके उन्होंने अपनी प्रगति के मार्ग को स्वयं ही रोक लिया और वे केवल साधारण बातें ही कह सके। तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके काव्य का कोई महत्त्व ही नहीं है। उनसे पूर्व हिन्दी में काव्य-शास्त्र के अध्ययन की ओर किसी भी व्यक्ति का ध्यान नहीं गया था। अतः इस दिशा में प्रयत्न कर रीतिकाल के आचार्यों ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति की। इस दिशा में साधारण कार्य करके भी उन्होंने एक परम्परा की स्थापना कर दी।

रीति काल के आचार्यों में से मतिराम, पद्माकर तथा बेनी प्रवीण ने शृंगार रस का अच्छा विवेचन किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उनमें मौलिकता का अभाव है, किन्तु जो कुछ उन्होंने कहा है उसमें प्रायः कृत्रिमता, अस्पष्टता तथा अपूर्णता नहीं है। इसी प्रकार जसवन्तसिंह ने भी 'भाषा-भूषण' में अलंकारों को स्वच्छ रूप में उपस्थित किया है। अन्य आचार्यों में भिखारीदास और श्रीपति ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वास्तव में रीतिकाल के आचार्यों की इस असफलता के कई कारण हैं। इनमें से सबसे बड़ा कारण उस युग की परिस्थितियों का अनुकूल न होना है। उस समय भारतवर्ष पर मुसलमानों का राज्य था और वह अपने अधिकार को अच्छी तरह फैला चुके थे। इस कारण उनके साहित्य और संस्कृति का भी हिन्दुओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था। जो हिन्दू राजा मुसलमान शासकों का प्रभुत्व मान चुके थे उनकी राज्य-सभाओं में मुगल-दरबार की विलासिता आ चुकी थी। इस कारण राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवि उन्हें प्रसन्न करने के लिए शृंगार रस की कविताएँ लिखा करते थे। ऐसी स्थिति में काव्य-शास्त्र जैसे गम्भीर विषय की चर्चा करना उनके वश की बात नहीं थी। यदि वे इस ओर कुछ अधिक परिश्रम भी करते तो उन्हें किसी भी ओर से अपने कार्य के लिए प्रशंसा और प्रोत्साहन की आशा नहीं थी।

इसके अतिरिक्त रीति काल के आचार्यों की दूसरी विवशता का सम्बन्ध गद्य के अभाव से था। रसों और अलंकारों के लक्षणों को केवल पद्य में

लिखना कोई सरल कार्य नहीं था। गद्य के न होने के कारण इस युग के अधिकांश आचार्य प्रतिभा के होने पर भी अपने अभिप्राय को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके है। यदि उस समय गद्य की स्थिति रही होता तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनकी स्थिति अधिक दृढ़ होती। इतना होने पर भी इस युग का काव्यशास्त्र उपेक्षा के योग्य नहीं है। गम्भीर अध्ययन करने पर हमें उसमें भी कुछ ऐसी बातें प्राप्त होती है जिनका इस समय विकास किया जा सकता है। इस युग में आचार्यों ने ऐसी अनेक बातें लिखी हैं जिनसे आज हमें अच्छी प्रेरणा प्राप्त हो सकती है।

: १४ :

भारतेन्दु-युग की हिन्दी-कविता

आधुनिक हिन्दी-कविता का प्रारम्भ कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविताओं से होता है। उन्होंने स्वयं उत्कृष्ट काव्य की रचना करने के अतिरिक्त अपने युग के अन्य कवियों को भी नवीन विषयों पर कविता लिखने की प्रेरणा प्रदान की। इसी कारण उनके नाम से 'भारतेन्दु-युग' प्रचलित है। इस युग की स्थिति सम्वत् १९०० से १९४२ तक रही। इस समय भारतवर्ष पर अंग्रेजों का राज्य था और उनके साहित्य तथा संस्कृति का यहाँ धीरे-धीरे प्रचार हो रहा था। अंग्रेजों की उन्नति को देखकर भारतवर्ष की जनता भी प्रगति की इच्छा रखने लगी थी। इस प्रकार की परिस्थितियों के कारण भारतेन्दु-युग में नये दृष्टिकोण से साहित्य की रचना की गई। आगे हम इस युग के काव्य की प्रमुख विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

(१) भारतेन्दु-युग से पूर्व रीति काल की कविता में श्रृंगार रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ था। भारतेन्दु-युग के कवियों ने इसके स्थान पर देश की उन्नति, समाज-विकास और जाति-सुधार आदि विषयों को लेकर काव्य-रचना की। उन्होंने आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपने काव्य में

उस समय के लोक-जीवन का सुन्दर चित्रण किया है ।

(२) इस युग के कवियों का मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय जागरण की कविताओं को लिखना था । उन्होंने एक ओर तो अंग्रेजों के शासन में प्राप्त होने वाली सुख-सुविधाओं के लिए उनकी प्रशंसा की है और दूसरी ओर देश की भलाई के विरुद्ध किए जाने वाले कार्यों के लिए उनकी निन्दा की है । उन्होंने अपनी कविताओं में नवीन आदर्श समाज और आदर्श शासन की माँग को निरन्तर सामने रखा है ।

(३) भारतेन्दु-युग के कवियों ने अपने काव्य में शृंगार रस का पूर्णतः त्याग नहीं किया है । भक्ति की ओर ध्यान देते हुए उन्होंने मुख्य रूप से राधा-कृष्ण की भक्ति की है । उनके काव्य में नीति की भी अनेक सुन्दर उक्तियाँ प्राप्त होती हैं । इस प्रकार उनके काव्य में शान्त रस को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है । इस युग में हास्य और व्यंग्य की कविताओं की भी पर्याप्त मात्रा में रचना की गई है । इससे पूर्व हिन्दी-काव्य में इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था ।

(४) इस युग के कवियों ने प्रकृति-चित्रण की ओर भी अधिक ध्यान दिया है । इसी प्रकार उन्होंने कल्पना का भी व्यापक प्रयोग किया है ।

(५) इस युग के कवियों का उद्देश्य हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य का विकास करना था । इसी कारण उन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना तथा उपन्यास आदि साहित्य के विविध अंगों की रचना की ओर ध्यान दिया है ।

(६) इस युग के काव्य की रचना अधिकतर ब्रजभाषा में हुई है, किन्तु कुछ कवियों ने खड़ीबोली में भी काव्य लिखा है । उनके काव्य की भाषा सरलता और सजीवता से युक्त रही है । उन्होंने प्रबन्ध-काव्यों की रचना नहीं की है, किन्तु मुक्तक काव्य के क्षेत्र में उन्होंने गीतों और छन्दों दोनों का ही सहारा लिया है । इसी प्रकार उनके काव्य में अलंकारों का भी स्वाभाविक रूप में समावेश हुआ है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग में हिन्दी-काव्य को नवीन रीति से उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है । आगे हम इस युग के प्रमुख कवियों का परिचय देंगे ।

(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सम्वत् १६०७ में और मृत्यु सम्वत् १६४१ में हुई थी। वह इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उनके काव्य में इस युग की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। उनकी रचनाओं में भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति तीव्र अनुराग वर्त्तमान रहा है। उन्होंने अपने काव्य में राष्ट्रीय भावना, भक्ति, प्रेम, विरह, कृष्ण-लीला, प्राकृतिक सौन्दर्य और हास्य रस का सुन्दर समावेश किया है। वह काव्य में मानव-जीवन के समावेश को आवश्यक मानते थे। उनकी रचनाओं में अनुभव, चिन्तन और कल्पना का सुन्दर समावेश हुआ है। वह हिन्दी-भाषा के प्रबल समर्थक थे। अतः पद्य की भाँति गद्य की रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया था। उनकी भाषा सरल, सजीव और स्वाभाविक है। वह अपनी शैली को विषय के अनुसार परिवर्त्तित कर लेते थे। उनकी भाषा और भक्ति-भावना का एक उदाहरण देखिए—

> **रहैं क्यों एक म्यान असि दोय ?**
> **जिन नैननि में हरि-रस छायो, तहँ भावै किमि कोय ?**

(२) पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—

'प्रेमघन' जी भारतेन्दु बाबू के सबसे महत्त्वपूर्ण सहयोगी थे। उनकी कविताओं का संग्रह 'प्रेमघन-सर्वस्व' शीर्षक ग्रन्थ के पहले भाग में हुआ है। उसके दूसरे भाग में उनके गद्य-लेखों का संग्रह मिलता है। उन्होंने राष्ट्र-प्रेम, श्रृंगार रस, भक्ति, सामाजिक अवस्था और करुण रस आदि को लेकर अनेक विषयों की कविताएँ लिखी हैं। वह हिन्दी-भाषा के प्रवल प्रेमी थे। उन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध और आलोचना उपस्थित कर अपने युग के साहित्य-विकास में उपयुक्त योग दिया है। उनके काव्य में सरलता और मधुरता का सुन्दर समावेश हुआ है। संगीत-प्रेमी होने के कारण उन्होंने गेय पदों की भी रचना की है।

(३) बाबू राधाकृष्णदास—

बाबू राधाकृष्णदास ने मुख्य रूप से मुक्तक पदों में राधाकृष्ण की भक्ति को उपस्थित किया है। इस दिशा में उन्होंने भक्ति काल और रीति काल में

प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण के स्वरूप को मिलाकर उपस्थित किया है। अतः उनके काव्य में शान्त रस और शृंगार रस का सफल प्रयोग हुआ है। अनेक स्थानों पर उन्होंने नीति की श्रेष्ठ उक्तियाँ भी उपस्थित की हैं। काव्य के कला-पक्ष की दृष्टि से उन्होंने मधुर, साहित्यिक और प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इसी प्रकार छन्दों और अलंकारों के प्रयोग में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

(४) पं० प्रतापनारायण मिश्र—

मिश्रजी का जन्म सम्वंत् १९१३ में और मृत्यु सम्वत् १९५१ में हुई थी। उन्होंने देश-प्रेम, भक्ति, हास्य, व्यंग्य और हिन्दी की उन्नति के सम्बन्ध में काव्य-रचना की है। उनके काव्य में भक्ति के निर्गुण और सगुण, दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं। उन्होंने नीति के भी अनेक सुन्दर छन्द लिखे हैं। काव्य के कला-पक्ष की अपेक्षा उन्होंने उसके भाव-पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसी कारण कहीं-कहीं उनकी भाषा में व्याकरण की दृष्टि से अशुद्धियाँ मिलती हैं। कविता के अतिरिक्त उन्होंने नाटकों और निबन्धों की भी अच्छी रचना की है। इसके अतिरिक्त वह 'ब्राह्मण' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकाला करते थे।

(५) पं० श्रीधर पाठक—

पाठकजी ने अपनी कविताओं में प्रकृति-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने प्रकृति के अनेक शुद्ध और स्वतन्त्र चित्र उपस्थित करते हुए कहीं-कहीं उनमें कल्पना का भी सुन्दर उपयोग किया है। मौलिक कविताएँ लिखने के अतिरिक्त उन्होने अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ के तीन काव्यों का 'ऊजड़ गाँव', 'एकान्तवासी योगी' और 'श्रान्त पथिक' के नाम से अनुवाद भी किया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों में ही की है। उनकी भाषा सरल तथा स्वाभाविक रही है।

(६) पं० अम्बिकादत्त व्यास—

व्यासजी भारत की प्राचीन संस्कृति में गहन आस्था रखते थे। उन्होंने अपने काव्य में पाश्चात्य सभ्यता के दोषों पर तीव्र व्यंग्य किए हैं। उन्होंने काव्य की रचना ब्रजभाषा में की है, किन्तु उनकी भाषा पर संस्कृत का स्पष्ट

प्रभाव रहा है। उन्होंने स्वतन्त्र कविताएँ लिखने के अतिरिक्त महाकवि बिहारी के कुछ दोहों को कुण्डलिया छन्द में उपस्थित किया है। यह छन्द 'दोहा' और 'रोला' नामक छन्दों के योग से बनता है। अतः उन्होंने बिहारी के दोहे में अपना रोला जोड़ दिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग में हिन्दी-काव्य को पर्याप्त गति प्राप्त हुई। इस युग के कवियों ने अपने काव्य की रचना करते समय बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविताओं से पर्याप्त प्रेरणा ली है। इस युग में हिन्दी-काव्य को भाव-पक्ष की दृष्टि से नवीन रूप प्रदान किया गया, किन्तु कला-पक्ष की ओर इस युग के कवि अधिक ध्यान न दे सके। इस दिशा में उन्होंने गद्य-रचना के लिए खड़ी बोली को स्वीकार करते हुए भी भाषा की शुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया है। जिन कवियों ने काव्य-रचना के लिए खड़ी-बोली को अपनाया उनमें भी पं० श्रीधर पाठक को छोड़कर अन्य कवियों को विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। इस अभाव को भारतेन्दु-युग के पश्चात् आने वाले द्विवेदी-युग में पूरा कर दिया गया।

: १५ :

द्विवेदी-युग की हिन्दी-कविता

द्विवेदी-युग से पूर्व हिन्दी में भारतेन्दु-युग की स्थिति थी। उस युग के काव्य की रचना अधिकतर ब्रजभाषा में हुई है और उस समय के कवियों ने अपनी कविताओं में रीति काल की परम्पराओं का पालन करते हुए नवीन सामाजिक और राष्ट्रीय जाग्रति को भी जन्म दिया है। द्विवेदी-युग से हमारा तात्पर्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन कवियों के युग से है। इस युग के काव्य की विभिन्न विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य-धारा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय जागरण के अतिरिक्त इस युग के काव्य में समाज-सुधार की आवश्यकता की ओर भी सकेत किए गए। वर्त्तमान युग की विभिन्न

सामाजिक समस्याओं को दूर करने के लिए इस युग के कवियों ने भारत की प्राचीन संस्कृति के आदर्शों से प्रेरणा ली है। अतः यह स्पष्ट है कि इस युग के हिन्दी-काव्य में सुधारवादी चेतना मिलती है।

(२) इस युग के कवियों ने ब्रजभाषा का मोह छोड़कर खड़ी बोली में काव्य-रचना की है। काव्य की भाषा के बदल जाने के कारण इस युग की कविताओं में कहीं-कहीं प्राचीन भावनाएँ भी नवीन के समान प्रतीत होती हैं।

(३) इस युग में प्राचीन काव्य की रूढ़ियों का त्याग कर नवीन विचारों के प्रति उत्साह दिखाया गया। इस दृष्टि से इस काव्य में रीति काल में प्राप्त होने वाले स्थूल शृंगार रस का विरोध करते हुए भक्ति और राष्ट्रीयता का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

(४) इस युग में साधारण विषयों को लेकर भी काव्य लिखा गया। प्रकृति-चित्रण की ओर इस युग के कवियों ने भी पर्याप्त ध्यान दिया है। इस युग में गेय कविताओं की अधिक रचना नहीं हुई है और कवियों ने अधिकतर वर्णनात्मक शैली को अपनाया है।

(५) इस युग की भाषा और भावों, दोनों को सरल रूप में उपस्थित किया गया है। मुक्तक कविताओं के अतिरिक्त इस युग में अनेक श्रेष्ठ महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों की भी रचना की गई है। अलंकार-प्रयोग के क्षेत्र में भी इस युग के कवियों ने स्वाभाविकता का पूरा ध्यान रखा है। इस युग की मुख्य विशेषता खड़ी बोली के शुद्ध रूप का विकास करना है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग में भावना और कला, दोनों के ही क्षेत्रों में नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से इस युग के कवियों ने भाव-क्षेत्र में उतना महत्त्वपूर्ण काव्य नहीं लिखा है जितना कला-क्षेत्र में। वास्तव में खड़ी बोली को काव्य-रचना के क्षेत्रों में जमाना इन्हीं कवियों की देन है। आगे हम इस युग के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१) **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—

द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने के लिए सबसे अधिक आन्दोलन किया था। इसी कारण इस युग के प्रतिनिधि कवि न होने पर भी यह युग उन्हीं के नाम से चलता है। उनकी कविताओं का संग्रह 'द्विवेदी-काव्य-

संग्रह' शीर्षक ग्रन्थ में हुआ है। मौलिक कविताएँ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत-कवि कालिदास के 'कुमार-सम्भव' के कुछ अध्यायों का हिन्दी में अनुवाद किया है। उनकी भाषा में संस्कृत के शब्दों को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है।

(२) श्री बालमुकुन्द गुप्त—

गुप्तजी ने अपने काव्य में राष्ट्रीयता, सामाजिकता और हास्य-व्यंग्य को मुख्य स्थान दिया है। उनकी रचनाओं का संग्रह 'बालमुकुन्द गुप्त ग्रन्थावली' नामक ग्रन्थ में हुआ है। उनकी भाषा सरल और सजीव है तथा उन्होंने अपने भावों को स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है।

(३) श्री मैथिलीशरण गुप्त—

गुप्तजी द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने वैष्णव भक्ति को लेकर अनेक सुन्दर रचनाएँ उपस्थित की हैं। राष्ट्र-भावना को भी उनके काव्य में मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी 'साकेत', 'पंचवटी', 'भारत-भारती' 'जयद्रथ-वध' आदि अनेक सुन्दर कृतियाँ प्राप्त होती हैं। उन्होंने महाकाव्य, खण्ड-काव्य और मुक्तक काव्य, तीनों की रचना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। प्रकृति-वर्णन को भी उनके काव्य में पर्याप्त स्थान प्राप्त रहा है। उनकी रचनाओं का सम्बन्ध अधिकतर भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और संस्कृति से रहा है। उनके काव्य में चिन्तन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने खड़ी बोली को भी सरल, स्वाभाविक, ओजपूर्ण और निखरे हुए रूप में उपस्थित किया है।

(४) श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा में की है। उनकी रचनाओं में 'उद्धव-शतक' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उनके भाव मार्मिक है और उनमें अनुभव, चिन्तन तथा कल्पना का सुन्दर समावेश हुआ है। उनके काव्य में भक्ति काल और रीति काल की काव्य-विशेषता का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। उन्होंने हिन्दी के प्राचीन काव्य का व्यापक अध्ययन किया था। उनकी भाषा सरल तथा साहित्यिक है।

(५) श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—

'हरिऔध' जी ने अपने काव्य में चिन्ता के स्थान पर भावुकता और कोमलता को प्रमुख स्थान दिया है। उनकी काव्य-रचनाओं में 'प्रिय-प्रवास'

और 'वैदेही-वनवास' मुख्य हैं। ये दोनों ही महाकाव्य उनकी मौलिकता का पूर्ण परिचय देते हैं। कला-क्षेत्र में उन्होंने अतुकान्त कविताओं की रचना द्वारा भी अपनी मौलिकता दिखाई है। उनके काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का व्यापक प्रयोग हुआ है, किन्तु उनकी भाषा में अधिक प्रवाह प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृत के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है। उनके काव्य में भक्ति, नीति और देश-प्रेम को मुख्य स्थान मिला है। प्रकृति को उन्होंने शुद्ध और कृत्रिम, दोनों रूपों में उपस्थित किया है। उनके काव्य में उपदेश देने की प्रवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है।

(६) श्री गोपालशरण सिंह—

ठाकुर गोपालशरण सिंह ने अपनी कविताओं में खड़ी बोली को अत्यन्त मधुर रूप में उपस्थित किया है। उनका काव्य मुक्तक रूप में लिखा गया है और उनके 'कादम्बिनी' तथा 'माधवी' नामक कविता-संग्रह अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उनके काव्य में प्रकृति-वर्णन को सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने चाँदनी, भ्रमर, कोकिल आदि प्रकृति के विविध अंगों का मनोहारी वर्णन किया है। उनकी कविताएँ सरल, संक्षिप्त तथा स्वाभाविक हैं। प्रकृति-वर्णन की भाँति ही उन्होंने ईश्वर-भक्ति को लेकर भी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय और पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का भी सुन्दर काव्य प्राप्त होता है। इस युग के कवियों ने अपनी मौलिकता का स्थान-स्थान पर सुन्दर परिचय दिया है। यही कारण है कि भक्ति, राष्ट्रीयता, प्रकृति-वर्णन, समाज-सुधार और भाषा-संस्कार सभी क्षेत्रों में उन्होंने नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किए हैं। इस युग के काव्य में आदर्शवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और कवियों ने कल्पना के स्थान पर अनुभव और चिन्तन की ओर अधिक ध्यान दिया है। इस समय कुछ व्यक्ति इसमें स्थूल विषयों की अधिक चर्चा के कारण इसे रूढ़िवादी कहकर इसकी निन्दा करते हैं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस काव्य ने हिन्दी-कविता के विकास में

महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस युग के कवियों में से श्री मैथिलीशरण गुप्त आज भी काव्य-रचना कर रहे हैं। इस बीच में उनकी कविताओं में भावना और कला, दोनों ही की दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए है, किन्तु उनकी कविताएँ अब भी मुख्य रूप से द्विवेदी-युग के काव्य के आदर्शों को ही लिये हुए होती हैं।

: १६ :

हिन्दी का छायावादी काव्य

द्विवेदी-युग के पश्चात् हिन्दी में 'छायावाद' के नाम से एक नवीन काव्य-धारा का प्रारम्भ हुआ। इस काव्य का परिचय हमें सर्वप्रथम श्री जयशंकर प्रसाद की कविताओं में मिलता है। इस काव्यधारा में भावना और कला, दोनों ही क्षेत्रों में सूक्ष्मता लाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस ओर कवियों का ध्यान द्विवेदी-युग की स्थूल कविताओं के कारण गया। इन कविताओं के कारण हिन्दी-कविता धीरे-धीरे एक ऐसी परम्परा में बँधती जा रही थी, जिसे पश्चिम की कविताओं का अध्ययन करने वाले व्यक्ति तनिक पसन्द नहीं करते थे। अतः उस समय के आलोचकों के विरोध की चिन्ता न करते हुए कुछ कवियों ने कल्पना और सौन्दर्य के आधार पर अनेक श्रेष्ठ कविताओं की रचना की। धीरे-धीरे इस काव्यधारा का काफी प्रचार हुआ और बीस-पच्चीस वर्षो में ही छायावादी कवियों ने पर्याप्त साहित्य की रचना कर ली।

छायावादी काव्य में कल्पना और सौन्दर्य को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। प्रायः सभी छायावादी कवियों ने अपनी कविताओं में कल्पना को अनिवार्य स्थान दिया है। वैसे तो उन्होंने अपने काव्य के सभी विषयों में कल्पना का प्रयोग किया है, किन्तु प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में कल्पना से सबसे अधिक सहायता ली गई है। उसके आधार पर उन्होंने प्रकृति को चेतन रूप में

उपस्थित किया है। इसे प्रकृति का मानवीकरण करना भी कहते हैं और इसके अनुसार कवि प्रकृति में मनुष्य की सभी क्रियाओं को होते हुए देखते हैं। इस प्रकार उन्हें प्रकृति में हर्ष, शोक, प्रेम और करुणा आदि विविध मानवीय भाव दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इस युग से पूर्व भी हिन्दी-काव्य में हमें कहीं-कहीं इस प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं, किन्तु इसे व्यापक अभिव्यक्ति छायावाद-युग में ही प्राप्त हुई। यह छायावाद की सबसे मुख्य प्रवृत्ति है।

कल्पना के उपरान्त छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं में सौन्दर्य के चित्रण की ओर सर्वत्र ध्यान दिया है। इस दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण करने के अतिरिक्त उन्होंने मनुष्य के हृदय के सौन्दर्य का भी व्यापक चित्रण किया है। छायावाद की एक अन्य प्रवृत्ति मूर्त्त को अमूर्त तथा अमूर्त्त को मूर्त्त के रूप में चित्रित करना है। अर्थात् छायावादी कवियों ने स्थूल को सूक्ष्म रूप तो प्रदान किया ही है, इसके अतिरिक्त अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों को भी उन्होंने कल्पना के आधार पर सफल रूप में उपस्थित किया है। इन भावों को उपस्थित करने के लिए उन्होंने अपनी भाषा में भी मधुरता, सूक्ष्मता और प्रतीकों की योजना की है। उन्होंने अलंकारों को भी उनके प्रचलित रूपों से भिन्न रूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार उन्होंने छन्दों के कारण भावों में काट-छाँट करने को अनुचित मानकर मुक्त छन्दों में भी काव्य-रचना की है। इस प्रकार की कविताओं में किसी विशेष छन्द के नियमों का पालन नहीं किया गया है और कवि का ध्यान केवल भाव-गति पर ही केन्द्रित रहा है। आगे हम इस काव्यधारा के विकास में योग देने वाले प्रमुख कवियों की चर्चा करेंगे।

(१) श्री जयशंकर प्रसाद—

प्रसादजी की छायावादी कविताओं में मधुरता को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इस काव्यधारा को प्रारम्भ करने का श्रेय उन्ही को प्राप्त है। उनकी भावनाओं में सौन्दर्य-तत्त्व का व्यापक समावेश हुआ है, किन्तु वह अपने काव्य को द्विवेदी-युग की कविताओं के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं रख सके है। छायावादी सिद्धान्तों को व्यक्त करने वाली स्वतन्त्र कविताएँ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने अपने 'कामायनी' नामक महाकाव्य में भी उन्हें उत्कृष्ट स्थान

प्रदान किया है। यह छायावाद की सबसे उत्तम कृति है। प्रसादजी ने अपने नाटकों के कुछ गीतों में भी छायावाद का सफल समावेश किया है। उनके युग के अनेक कवियों ने उनसे प्रेरणा लेकर छायावादी काव्य की सफल रचना की है।

(२) श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—

'निराला' जी ने अपने छायावादी काव्य में द्विवेदी-युग की कविताओं और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं की विशेषताओं का भी समावेश किया है। छायावाद में कल्पना और सौन्दर्य के अतिरिक्त करुणा की भावना को भी विशेष स्थान प्रदान किया जाता है। 'निराला' जी की कविताओं में इस भावना का सबसे अधिक विकास हुआ है। प्रकृति का मानवीकरण करने की प्रवृत्ति भी उनके काव्य में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उनकी 'जुही की कली' शीर्षक कविता उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने काव्य की रचना कठिन भाषा में की है, फिर भी उनकी काव्य-कला छायावाद के अनुकूल है। हिन्दी में मुक्त छन्द-रचना की ओर भी उन्होंने ही अधिक ध्यान दिया है। उनकी छायावादी कविताओं का संग्रह उनके 'परिमल' नामक काव्य में हुआ है।

(३) श्री सुमित्रानन्दन पन्त—

पन्तजी ने छायावाद में कोमलता का समावेश करते हुए भावनाओं को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया है। उनके छायावादी काव्य में सौन्दर्य, संगीत और सुकुमारता को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। प्रकृति का मानवीकरण करने की प्रणाली को उन्होंने ही सबसे अधिक स्वीकार किया है। मानवतावादी दृष्टिकोण भी उनकी कविताओं में सर्वत्र व्याप्त रहा है। 'पल्लव' में उनकी छायावादी कविताओं का स्वच्छ रूप प्राप्त होता है। उनकी छायावादी कविताओं में कल्पना और भावुकता को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार करुणा की अभिव्यक्ति की ओर भी उन्होंने उपयुक्त ध्यान दिया है। जिस प्रकार उनकी भावनाओं में कोमलता प्राप्त होती है उसी प्रकार उनकी भाषा-शैली में भी कोमलता मिलती है।

(४) कवयित्री महादेवी वर्मा—

महादेवीजी के काव्य में दार्शनिकता को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है।

अतः उनकी छायावादी कविताओं में भी एक विशेष गम्भीरता मिलती है। उनके काव्य में मधुरता और वेदना के चित्रण को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपनी भावनाओं को गीतों के रूप में उपस्थित किया है। अतः उनके काव्य में एक विशेष आकर्षण छिपा हुआ है। उन्होंने छायावाद के अतिरिक्त अपने काव्य में रहस्यवाद को भी स्थान दिया है और दोनों की रचना में उन्हें लगभग बराबर सफलता मिली है। उनके काव्य में छायावादी कला की सूक्ष्मता भी पूर्ण रूप से प्राप्त होती है। छायावादी काव्य लिखने के अतिरिक्त उन्होंने छायावादी सिद्धान्तों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किए है।

(५) श्री इलाचन्द्र जोशी—

जोशीजी ने छायावादी भावों और छायावाद की कला को सरल रूप में उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उनका 'विजयवती' नामक कविता-संग्रह पढ़ने योग्य है। उनके काव्य में प्रकृति और मानव-जीवन का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। प्रकृति के शुद्ध चित्र उपस्थित करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

(६) डा० रामकुमार वर्मा—

वर्माजी मुख्य रूप से रहस्यवादी कवि है, किन्तु उन्होंने छायावादी काव्य की रचना भी की है। अपनी छायावादी कविताओं में उन्होंने चिन्तन, सौन्दर्य और करुणा तीनों को बराबर का स्थान प्रदान किया है। उनका काव्य सरल और स्वाभाविक शैली में लिखा गया है।

(७) पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—

'नवीन' जी ने छायावाद को गीतों का सौन्दर्य प्रदान किया है। उनकी छायावादी कविताओं में श्रृंगार रस का सुन्दर समावेश हुआ है। भावों को सरल रूप में उपस्थित करने के अतिरिक्त उन्होंने अपनी भाषा मे भी कोमल संगीत का समावेश किया है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त छायावादी काव्यधारा के विकास में अन्य अनेक कवियों ने भाग लिया था। इन कवियों में पं० मुकुटधर पाण्डेय का उल्लेखनीय स्थान है। उस समय की मासिक पत्रिकाओं मे अनेक कवियों

के छायावादी गीत प्रकाशित हुआ करते थे। यद्यपि छायावाद में कल्पना और सौन्दर्य की सूक्ष्मता प्राप्त होती है, तथापि कुछ समय पश्चात् यह काव्य-धारा समाप्त हो गई। सूक्ष्मता की अधिकता के कारण इस काव्य का जनता में अधिक प्रचार न हो सका और इसका स्थान प्रगतिवाद ने ले लिया। इतना होने पर भी छायावाद अभी पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि अब छायावादी काव्य की किसी निश्चित धारा के अनुसार रचना नहीं होती है, किन्तु उसकी विभिन्न विशेषताएँ पृथक्-पृथक् रूप से हिन्दी-कविता पर पूर्णतः छा गई है। इस समय लिखी जाने वाली हिन्दी-कविताओं में कल्पना, सौन्दर्य और भावुकता का जो विकास देखने को मिलता है वह छायावाद की ही देन है। छायावाद के इस महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

: १७ :

हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद

'रहस्यवाद' से हमारा तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जो ईश्वर के रहस्य को प्राप्त करने की विधि बताता है। साधारणतः यह स्वीकार किया गया है कि रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ होती हैं। प्रथम स्थिति के अनुसार जब व्यक्ति संसार की विचित्रताओं को देखता है तब उसके मन में संसार की रचना करने वाली शक्ति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा जन्म लेती है। इसके पश्चात् वह गुरु की सहायता से ईश्वर के रहस्य को प्राप्त करने के लिए साधना करने लगता है। जब उसकी साधना पूरी हो जाती है तब उसे ईश्वर के हृदय में दर्शन प्राप्त हो जाते हैं। रहस्यवादी काव्य में इन तीनों ही स्थितियों का मार्मिक चित्रण किया जाता है।

हिन्दी-साहित्य में रहस्यवादी कविताओं का प्रारम्भ नवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय के सिद्ध तथा जैन मुनियों के साहित्य में रहस्यवादी तत्त्वों का व्यापक समावेश हुआ है। इस दृष्टि से गोरक्षरण तथा तिलोपा आदि सिद्धों

एवम् स्वयंभू तथा रामसिंह आदि जैन मुनियों के काव्य में रहस्यवाद के सिद्धान्त प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते है। सिद्ध कवियों ने रहस्यवाद के साथ-साथ हठयोग को भी मिलाकर उपस्थित किया है। इस प्रकार के साहित्य की रचना तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक होती रही। इसमें रहस्यवाद को गूढ़ रूप में उपस्थित किया गया है और उसे समझना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। भक्ति-काल के रहस्यवादी काव्य पर इस साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी में रहस्यवादी काव्य को सरल और स्पष्ट रूप में भक्ति-काल में उपस्थित किया गया। रहस्यवाद साधना का विषय है। अतः इसका सम्बन्ध स्पष्ट ही भक्ति के सगुण पक्ष से न होकर उसके निर्गुण रूप से है। भक्ति-काल में निर्गुण भक्ति 'ज्ञानाश्रयी शाखा' और 'प्रेमाश्रयी शाखा' नामक दो भेदों में विभाजित रही है। इन दोनों में ही रहस्यवाद का स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु उसके स्वरूप में अन्तर आ गया है। ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने साधनात्मक रहस्यवाद का चित्रण किया है और प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने भावनात्मक रहस्यवाद को उपस्थित किया है। वैसे तो इन शाखाओं के सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में रहस्यवाद को स्थान प्रदान किया है, किन्तु सामान्य परिचय के लिए इनके प्रतिनिधि कवियों के काव्य का अध्ययन ही पर्याप्त होगा अतः आगे हम ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर और प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी के रहस्यवादी काव्य का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

(१) महात्मा कबीर—

महात्मा कबीर ने अपने काव्य में साधनात्मक रहस्यवाद को मुख्य स्थान दिया है, किन्तु उनके छन्दों में भावनात्मक रहस्यवाद को भी सुन्दर स्थान प्राप्त हुआ है। हृदय के नेत्रों से ईश्वर के दर्शन प्राप्त हो जाने के बाद वह साधक के अनुभव की अभिव्यक्ति को अत्यन्त कठिन मानते है। उस समय उन्होंने साधक की स्थिति को गूँगे की स्थिति के समान मानते हुए कहा है—

अकथ कहानी प्रेम की, किछू कही न जाइ।
गूँगा केरी सरकरा, बैठे ही मुसकाइ॥

महात्मा कबीर ने अपने रहस्यवादी काव्य में अद्वैतवाद और सूफीमत को मिलाकर उपस्थित किया है। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा और परमात्मा के

मिलन में माया बाधा उपस्थित करती है। अतः माया नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। सूफीमत के अनुसार ईश्वर के रहस्य को प्राप्त करने के लिए साधक को गुरु से सहायता लेनी चाहिए और ईश्वर के प्रति असीम प्रेम रखना चाहिए। महात्मा कबीर ने इन दोनों ही विचारधाराओं का आश्रय लिया है। अद्वैतवाद के द्वारा उन्होंने साधनात्मक रहस्यवाद को उपस्थित किया है और सूफीमत की भावनाओं को लेकर भावनात्मक रहस्यवाद को स्पष्ट किया है।

(२) कविवर जायसी—

जायसी ने अपने काव्य में भावनात्मक रहस्यवाद को प्रमुख स्थान दिया है, तथापि उनके 'पद्मावत' नामक काव्य में कहीं-कहीं रहस्य-साधना का भी उल्लेख मिलता है। उन्होंने प्रेमाश्रयी शाखा के सिद्धान्तों के अनुकूल लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने की विधि का वर्णन किया है। इसीलिए उन्होंने 'पद्मावत' में राजा रत्नसेन और राजकुमारी पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन करते हुए रत्नसेन को साधक और पद्मावती को ईश्वर के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने परमात्मा के वियोग में आत्मा की वेदना का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी-काव्य के भक्तिकाल में रहस्यवाद को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त हो चुका था। इसके पश्चात् हिन्दी-साहित्य में रीति काल आता है, किन्तु इस युग में किसी भी कवि ने रहस्यवादी काव्य की रचना नहीं की। आधुनिक युग में भी छायावाद-युग से पूर्व हिन्दी में रहस्यवादी काव्य का अभाव रहा। छायावाद के कवियों ने प्रकृति में ईश्वर के दर्शन कर रहस्यवाद के एक अंश को अपनी कविताओं में ग्रहण किया। कुछ छायावादी कवियों ने रहस्यवादी कविताओं की स्वतन्त्र रीति से भी रचना की है। इनमें श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुश्री महादेवी वर्मा और डा० रामकुमार वर्मा का स्थान सर्वप्रमुख है। इनके रहस्यवादी काव्य का पृथक्-पृथक् परिचय इस प्रकार है—

(१) श्री जयशंकर प्रसाद—

प्रसादजी ने अपनी रहस्यवादी कविताओं में साधनात्मक अथवा भावनात्मकता में से किसी की ओर भी आग्रह नहीं दिखाया है। उन्होंने संसार में

ईश्वर की शक्ति-व्यापकता और मनुष्य की उसके रहस्य को प्राप्त करने की इच्छा का स्वतन्त्र चित्रण किया है। उनके रहस्यवादी सिद्धान्तों का समावेश उनकी कुछ मुक्तक कविताओं में हुआ है।

(२) श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—

'निराला' जी के दार्शनिक विचारों में रहस्यवाद का सुन्दर समावेश हुआ है। उनकी रहस्यवादी कविताओं में मधुरता और चिन्तन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है अर्थात् उन्होंने ईश्वर के विषय में चिन्तन करते हुए मिलन की मधुरता की ओर भी संकेत किए हैं। उनके काव्य में रहस्यवाद की तीनों स्थितियों का आकर्षक चित्रण प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए उनका साधक के विरह का निम्नलिखित चित्रण देखिए—

प्राणधन को स्मरण करते।
नयन झरते नयन झरते॥

×　　　　×

कितनी बार पुकारा,
खोल दो द्वार, बेचारा॥

(३) सुश्री महादेवी वर्मा—

महादेवीजी ने अपने काव्य में रहस्यवाद की प्रवृत्तियों के अनुसार ईश्वर-प्रेम के विविध अनुभवों को अनेक रूपों में उपस्थित किया है। आधुनिक युग में रहस्यवादी काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने अपने रहस्यवाद में जायसी के 'सर्ववाद' नामक सिद्धान्त का सुन्दर समावेश किया है। महात्मा कबीर की भाँति आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति मानकर उन्होंने अपने गीतों में रहस्यवाद की भावात्मकता को आकर्षक रूप प्रदान किया है। उन्होने अपने काव्य में रहस्यवाद की जिज्ञासा, साधना और मिलन की तीनो स्थितियों को मौलिक रूप में व्यक्त किया है। उनके रहस्यवादी गीतो में कही-कही अनुभव की कमी के कारण अस्पष्टता भी आ गई है, किन्तु अधिकतर उन्होंने उनमें अपने हृदय की वेदना को सजीव रूप में ही उपस्थित किया है—

छिपा है जननी का अस्तित्व,
रुदन में शिशु के अर्थ-विहीन।
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान,
चित्र की ही जड़ता में लीन॥
दृगों में छिपा अश्रु का हार,
सुभग है तेरा ही उपहार!

(४) डा० रामकुमार वर्मा—

रामकुमारजी के रहस्यवादी काव्य में भावना और साधना का मिला हुआ रूप प्राप्त होता है। उन्होंने अपने काव्य में रहस्यवाद को प्रमुख स्थान दिया है और उसके स्वरूप को भी सुन्दर रीति से स्पष्ट किया है। इस दृष्टि से उनके 'आधुनिक कवि' शीर्षक कविता-संग्रह की भूमिका और उसकी अधिकांश कविताएँ पढ़ने योग्य हैं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि कुछ अन्य कवियों की कविताओं में भी रहस्यवाद को स्थान प्राप्त हुआ है। इस समय कविता के विषय अनेक रूपों में बँट गये है। अतः रहस्यवादी काव्य की रचना की ओर कवियों का अधिक ध्यान नहीं रहा है। फिर भी कभी-कभी हमें श्रेष्ठ रहस्यवादी कविताओं के दर्शन हो जाते हैं।

: १८ :

हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद

हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य की रचना इसी युग की देन है। इसकी रचना छायावादी काव्य के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में हुई थी। इससे पूर्व छायावाद के कवि अपने भावों को सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया करते थे। इस सूक्ष्मता के लिए कल्पना और सौन्दर्य का आश्रय लिया जाता था। कुछ

कवियों ने इस प्रगति का विरोध किया और साम्यवादी सिद्धान्तों से प्रेरणा लेकर अपनी कविताओं में जन-जीवन के चित्र को प्रमुख स्थान प्रदान किया। इन कवियों को उस समय प्रगतिवादी कवि कहा गया। यद्यपि काव्य-रचना में प्रगति करने वाले किसी भी कवि को प्रगतिवादी कवि कहा जाना चाहिए, किन्तु इस समय यह शब्द साम्यवादी भावनाओं को मुख्य स्थान प्रदान करने वाले कवियों के लिए ही प्रचलित हो गया है।

प्रगतिवाद का सम्बन्ध मध्यम और सामान्य वर्गों के व्यक्तियों की जीवन-धारा से है। उसमें समाज की विषमताओं के चित्रण की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है। इसी कारण उसके कवि पूँजीपतियों का विरोध करते हुए साधारण जनता के जीवन का चित्रण करते हैं। उनकी कविताओं में कृषकों और मज़दूरों के हितों की चर्चा को ही मुख्य स्थान प्राप्त रहता है। समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए वे उसमें क्रान्ति लाने की आवश्यकता मानते हैं। उन्होंने अपने भावों को जनता की भाषा में अत्यन्त सरल रूप में उपस्थित किया है। अपने विचारों को सरल और संक्षिप्त रूप में उपस्थित करने का उन्होंने निरन्तर ध्यान रखा है। इसी कारण प्रगतिवादी काव्य की रचना प्रबन्ध-काव्यों के रूप में न होकर मुक्तक कविताओं के रूप में हुई है। इस दिशा में किसी प्रबन्ध-काव्य के न लिखे जाने का एक कारण यह भी है कि हिन्दी में प्रगति-वादी साहित्य का विशेष स्वागत नहीं किया गया। आगे हम इस धारा के प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१) पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—

'निराला' जी ने छायावादी और रहस्यवादी कविताओं की भाँति प्रगति-वादी कविताओं की भी सफल रचना की है। उनकी 'कुकुरमुता' तथा 'नये पत्ते' शीर्षक रचनाएँ इसी काव्यधारा से सम्बन्धित हैं। उनकी प्रगतिवादी कविताओं में मानवतावाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार वेदना और करुणा का चित्रण करना भी उनकी इस प्रकार की कविताओं की एक विशेषता है। इस दिशा में उन्होंने साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रचार नहीं किया है, अपितु साधारण जनता के जीवन को देखने की ही उनकी इच्छा रही है। वह समाज की उपयुक्त व्यवस्था के लिए क्रान्ति का समर्थन करते

हैं। उनकी प्रगतिवादी कविताओं में 'भिक्षुक' शीर्षक कविता सबसे अधिक प्रसिद्ध है। आगे हम उसकी कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता॥

(२) श्री सुमित्रानन्दन पन्त—

पन्तजी की प्रगतिवादी कविताओं का संग्रह उनकी 'ग्राम्या' तथा युग-वाणी' शीर्षक रचनाओं में हुआ है। उन्होंने इनमें मानवतावाद को मुख्य स्थान देते हुए सामाजिक जीवन की विषमताओं का उल्लेख किया है। [illegible]ा' में उन्होंने ग्राम-जीवन के विविध करुणापूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं। [illegible] चित्रों में प्रगतिवाद को लाने का आग्रह तो मिलता है, किन्तु ग्राम-जीवन का निकट से अध्ययन न करने के कारण पन्तजी को इनमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है। 'निराला' जी की भाँति उन्होंने भी अपनी कविताओं में साम्यवाद का प्रचार नहीं किया है। इस समय वह प्रगतिवादी काव्यधारा को छोड़ चुके हैं, क्योंकि वह उनके हृदय से पूर्ण मेल न खा सकी। उन्होंने साम्यवाद का अन्ध समर्थन कहीं भी नहीं किया है, किन्तु वह उसे गांधीवाद के समान उपयोगी अवश्य मानते हैं। उदाहरण के लिए उनकी 'गांधीवाद' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता, निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की, साम्य योजना है अविवाद॥

(३) श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'—

'दिनकर' जी प्रगतिवाद के एक प्रमुख कवि हैं। उन्होंने भारतीय जनता के हित के लिए सामाजिक जीवन में क्रान्ति की आवश्यकता का प्रबल शब्दों में

प्रतिपादन किया है। उनकी प्रगतिवादी कविताओं का सम्बन्ध भारतवर्ष से ही रहा है। उन्हें रूस की ओर ले जाने की भावना का उन्होंने तीव्र विरोध किया है। उनकी कविताओं में समाज के पीड़ित वर्ग की वेदना का खुलकर चित्रण हुआ है। इस प्रकार के चित्रों में करुणा का भी मार्मिक रूप में समावेश हुआ है। उनकी प्रगतिवादी कविताओं में राष्ट्रीयता को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इन कविताओं की भाषा सरल है तथा वाणी ओजपूर्ण है।

(४) श्री भगवतीचरण वर्मा—

वर्माजी ने मुख्य रूप से प्रेम-गीतों की रचना की है, किन्तु उनकी कुछ प्रगतिवादी कविताएँ भी प्राप्त होती हैं। इन कविताओं में निम्न वर्ग की जनता की वेदनाओं का सरल और मार्मिक रूप में चित्रण हुआ है। इनमें शान्ति की आवश्यकता की ओर भी संकेत किया गया है। इस प्रकार की कविताओं में उनकी 'भैंसा गाड़ी' शीर्षक कविता विशेष प्रसिद्ध है।

(५) श्री नरेन्द्र शर्मा—

नरेन्द्र जी ने प्रेम, प्रकृति और प्रगतिवाद को लेकर काव्य-रचना है। उनकी प्रगतिवादी कविताओं का स्वर प्रमुख रहा है। उनमें उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग करते हुए अपने भावों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है। इस समय वह प्रगतिवाद को छोड चुके है।

(६) श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—

'सुमन' जी ने प्रगतिवादी काव्य की पर्याप्त मात्रा में रचना की है। उन्होंने समाज की विषमताओं का प्रबल विरोध किया है। उन्होंने क्रान्ति-भाव की आवश्यकता का भी प्रबल प्रतिपादन किया है। हिन्दी के तरुण प्रगतिवादी कवियो में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त प्रगतिवादी कविताओं की और भी अनेक कवियों ने रचना की है। इनमें श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'नवीन', डॉ० रांगेय राघव, डा० रामविलास शर्मा और धर्मवीर 'भारती' का मुख्य स्थान है। इन कवियों ने प्रगतिवादी सिद्धान्तों को अपनी कविताओं में पर्याप्त स्थान दिया है। इनके काव्य में प्रगतिवाद को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ

है। इनमें से 'नवीन' जी इस समय प्रगतिवादी काव्यधारा को छोड़ चुके है और उन्होंने उसका प्रबल विरोध किया है। शेष कवियों में से डॉ० रामविलास शर्मा और रांगेय राघव प्रगतिवाद के प्रबल समर्थक हैं। इन्होंने अपनी कविताओं मे उसके सिद्धान्तों का उग्र प्रतिपादन किया है। वैसे 'नवीन' जी के अतिरिक्त ये सभी कवि अब भी प्रगतिवाद में विश्वास रखते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि इस समय प्रगतिवाद का अधिक प्रचार नहीं रहा है, किन्तु उसकी पूर्ण समाप्ति अभी नहीं हुई है। 'निराला', पन्त, 'दिनकर' और 'नवीन' जैसे प्रसिद्ध कवि अपने काव्य से लगभग उसका बहिष्कार कर चुके है, किन्तु उनका स्थान अनेक नवीन कवियों ने ले लिया है। इन कवियों में नागार्जुन, गोपालदास 'नीरज' और रामावतार त्यागी प्रमुख है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि इन नये कवियों की रचनाओं में सन्तुलन की कमी मिलती है। इनसे पूर्व प्रगतिवाद के प्रमुख कवियों ने क्रान्ति की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए भी अपने विचारों को गम्भीर रूप में उपस्थित करने का ध्यान रखा था। उन्होंने इस प्रकार के विचार व्यक्त नहीं किए थे जो उत्तरदायित्व से शून्य हों। सच तो यह है कि यदि प्रगतिवाद में किसी प्रकार के श्रेष्ठ काव्य की रचना की गई थी तो उसे उन्हीं कवियों ने उपस्थित किया था। अब वे नये कवियों के उग्र विचारों से असहमत होकर इस काव्यधारा को ही छोड़ बैठे है।

यदि प्रगतिवादी काव्य मे राजनीति को स्थान न दिया जाय और उसकी रचना केवल शुद्ध जन-कल्याण को दृष्टि में रखकर ही की जाय तो निश्चय ही उसका अधिक महत्त्व होगा। जो काव्य साधारण जनता के सुख-दुःख से सम्बन्ध रखता है उसकी कभी उपेक्षा नही की जाती। प्रगतिवादी काव्य की उपेक्षा इसलिए की गई कि उसने जनता के एक विशेष वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार किया और शासन की भी अनावश्यक रूप मे कटु निन्दा की। नवीन प्रगतिवादी कविताओं मे कही-कही रचनात्मक सुझाव देने के स्थान पर समाज के प्रचलित रूप को समाप्त कर देने की आवश्यकता पहले बताई गई। अतः यह काव्य पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सका। इस समय भी प्रगतिवादी कविताओं की पूर्णतः स्वस्थ रूप में रचना नहीं हो रही है।

: १६ :

हिन्दी का गीति-काव्य

जिस काव्य-रचना को गाया जा सके उसे 'गीति-काव्य' कहते हैं। गीति-काव्य की रचना मुक्तक कविता के रूप में की जाती है। अतः उसमें एक ही भाव को मार्मिक रूप में उपस्थित किया जाता है। भाव-पक्ष की दृष्टि से गीति-काव्य में संक्षिप्तता, मार्मिकता और भावना की एकता पर मुख्य ध्यान दिया जाता है। कला-पक्ष की दृष्टि से उसमें संगीत की लय और ताल की योजना पर ध्यान दिया जाता है। साधारण मुक्तक कविता की अपेक्षा पाठक अथवा श्रोता के मन पर गीति-काव्य का अधिक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि उसका एक रूप लोक-गीतों के रूप में प्राप्त होता है। हिन्दी में गीति-काव्य की रचना की ओर प्रारम्भ से पर्याप्त ध्यान दिया गया है। आगे हम हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग में उसकी स्थिति का अध्ययन करेंगे।

वीरगाथा काल

हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल में प्रमुख रूप से वीर-काव्य की प्रबन्ध रूप में रचना की गई थी। फिर भी इस युग में गीति-काव्य की उपेक्षा नहीं की गई है। इस दिशा में कविवर जगनिक का 'आल्हा-खण्ड' उल्लेखनीय रचना है। इसकी रचना वीरगीतों के रूप में की गई है। इस रचना के अतिरिक्त इस युग में महाकवि विद्यापति का गीति-काव्य भी प्राप्त होता है। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर मैथिली भाषा में सरस गीतों की रचना की है। उन्होंने अपने गीति-काव्य की रचना करते समय संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत-गोविन्द' से पर्याप्त प्रेरणा ली है। इसी कारण उन्हें 'अभिनव जयदेव' कहा जाता है। उनके पदों में अनुभव, कल्पना और मधुरता को प्रमुख स्थान मिला है। इस मधुरता के कारण उन्हें 'मैथिल-कोकिल' की पदवी भी प्रदान की गई है। आगे हम उनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

विरह व्याकुल बकुल तरुवर,
पेखल नन्दकुमार रे।
नील नीरज नयन सँच सखि,
ढरइ नीर अपार रे॥

भक्ति काल

हिन्दी-कविता के भक्ति काल में गीति-काव्य की रचना की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस युग में गाने योग्य भक्ति-पदों की रचना करने वाले कवियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) महात्मा कबीर—

कबीर ने अपने पदों में निर्गुण भक्ति के सिद्धान्तों का सफल समावेश किया है। उन्होंने उनमें शान्त रस को अत्यन्त मधुर रीति से उपस्थित किया है। उन्होंने आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति मानकर आत्मा को परमात्मा के विरह में व्याकुल दिखाया है और इस विरह को अपने गीति-काव्य में साकार कर दिया है। उन्होंने इन पदों की रचना जनता में अपने मत के प्रचार के लिए की थी और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। आगे हम उनके एक गीति-पद की कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

वा दिन की कछु सुधि कर मन माँ!
जा दिनु लै चलु लै चलु होई,
ता दिनु संग चलै नहिं कोई॥
तात मात सुत नारी रोई
माटी के संग दिया समोई।
सो माटी काटेगी तन माँ॥

(२) कविवर सूरदास—

सूर के काव्य में ब्रजभाषा का मधुर रूप प्राप्त होता है। उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीला और प्रेम-लीला का गीति-काव्य के माध्यम से सफल चित्रण किया है। उनके प्रति अपने विनय-भाव के पदों की भी उन्होंने सफल रूप में रचना की है। उन्होंने अपने पदों को विविध राग-रागनियों में बाँध कर लिखा है। उनके गीति-काव्य में संक्षिप्तता, भावों की मार्मिकता और

भाषा-शैली की प्रवाहपूर्ण मधुरता की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। इस दृष्टि से उनके 'सूर-सागर' का 'भ्रमरगीत' प्रसंग विशेष आकर्षक बन पड़ा है। उनके बाल-कृष्ण की निम्नलिखित संगीतमयी उक्ति देखिए—

मैया ! मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो ॥

(३) गोस्वामी तुलसीदास—

तुलसी ने भगवान् राम की भक्ति करते हुए प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक काव्य और गीति-काव्य का आश्रय लिया है। उन्होंने अपने पदों का संग्रह 'विनय-पत्रिका' में किया है। इसमें ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप को मधुर रीति से उपस्थित किया गया है। इनमें विनय-भाव की भक्ति प्राप्त होती है और ये शान्त रस से युक्त रहे हैं। अनुभव और भावना की तीव्रता से युक्त होने के कारण ये मन पर तुरन्त प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित गीति-पंक्तियाँ देखिए—

अब लौं नसानी, अब ना नसैहों।
राम कृपा भव निसा सिरानी जागे फिर न डसैहों ॥

(४) कवयित्री मीराबाई—

मीरा ने श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है। उनके विरह में उनकी आत्मा निरन्तर मग्न रही है। अत: उनके गीति-काव्य में भी विरह तथा मिलन के आनन्द का चित्रण हुआ है। हृदय के अनुभव से युक्त होने के कारण उनके पद अत्यन्त मार्मिक बन पडे हैं। संक्षिप्त, सरस और प्रवाहपूर्ण होने के कारण उनके पदों में हृदय का स्पर्श करने की शक्ति पूर्णत: विद्यमान है। यथा—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥

× × ×

अब तो बात फैल गई जाणे सब कोई।
मीरा राम-लगन लागी, होणी होय सो होई ॥

आधुनिक काल

हिन्दी-साहित्य के रीति काल में छन्दोबद्ध मुक्तक कविताओं की ही रचना की गई और गीति-काव्य लिखने की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया। अतः गीति-काव्य की परम्परा के लिए हमें भक्ति काल के बाद आधुनिक काल का ही अध्ययन करना होगा। इस युग में हमारे समक्ष सर्वप्रथम भारतेन्दु-युग आता है। इस युग में वैसे तो अनेक कवियों ने गीति-काव्य की रचना की ओर ध्यान दिया, किन्तु मुख्य रूप से बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने आकर्षक गेय पद लिखे। उनके भक्ति-पदों का सम्बन्ध मुख्य रूप से राधा-कृष्ण की भक्ति से रहा है। इसके पश्चात् द्विवेदी-युग में गीति-काव्य फिर से लगभग उपेक्षित ही रहा। द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी में छाया-वाद-युग आता है। इस युग में गीति-काव्य की पर्याप्त मात्रा में रचना की गई। इस युग के गीति-काव्य की रचना खड़ी बोली में हुई है और इसकी रचना करने वाले कवियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **श्री जयशंकर प्रसाद**—

प्रसादजी के गीति-काव्य के दर्शन एक ओर तो 'कामायनी' के 'इड़ा' सर्ग में होते है और दूसरी ओर उन्होंने अपने नाटकों में भी सुन्दर गीत उपस्थित किए है। छायावाद से सम्बन्धित होने के कारण उनके गीतों में सौन्दर्य और कल्पना को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उनके गीत कठिन होने पर भी साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। उनके कुछ गीतों में करुणा और राष्ट्रीयता का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। उनके द्वारा उपस्थित किया गया प्रातःकाल का निम्नलिखित चित्र देखिए—

> **बीती विभावरी, जाग री !**
> **अम्बर-पनघट मे डुबो रही, तारा-घट ऊषा-नागरी ॥**

(२) **श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'**—

'निराला' जी ने अपने गीति-काव्य मे आध्यात्मिकता, करुणा, जन-जीवन, राष्ट्रीयता आदि विविध विषयों का समावेश किया है। उनके गीति-काव्य की भाषा वर्तमान युग में सबसे अधिक कठिन रही है। उन्होंने अपने गीतों में

अत्यन्त गम्भीर भावों का चित्रण किया है। उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' शीर्षक काव्य में हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्फुट रूप में कुछ अन्य गीतों की भी रचना की है। उनकी गीति-काव्य-शैली का परिचय देने के लिए आगे हम उनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

भारति, जय-विजयकरे,
कनक-सस्य-कमलधरे ।
लंका पदतल-शतदल,
गर्जितोर्मि सागर-जल ।
धोता शुचि चरण-युगल,
स्तव कर बहु-अर्थ भरे !

(३) सुश्री महादेवी वर्मा—

महादेवीजी ने अत्यन्त सरस गीति-काव्य की रचना की है। उनके गीतों का संग्रह 'यामा' शीर्षक रचना में हुआ है। इनका सम्बन्ध आत्मा द्वारा परमात्मा के प्रति किए गए विरह-निवेदन से रहा है। उनके कुछ गीतों में प्रकृति और राष्ट्रीयता का स्वतन्त्र चित्रण भी हुआ है। वैसे उनके सभी गीत आत्म-कथन से युक्त रहे हैं। इन गीतों में भाषा की मधुरता और स्वर-सौन्दर्य की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए उनकी निम्न पंक्तियाँ देखिए—

प्राणाधिक प्रिय-नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
वह गया बँध लघु हृदय में,
अब विरह की रात को तू
चिरमिलन का प्रात रे कह !

इन कवियों के अतिरिक्त वर्त्तमान युग में हिन्दी के गीति-काव्य को अनेक कवियों ने समृद्धि प्रदान की है। इस दृष्टि से सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामकुमार वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, नीरज तारा पांडे, आरसीप्रसादसिंह और चिरंजीत के नाम उल्लेखनीय है।' साकेत', झंकार' और 'यशोधरा' में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी आकर्षक गीतों का समावेश किया है। हिन्दी के नवीन कवि प्रायः अपनी कविताओं को गीतों के ही रूप में उपस्थित किया करते हैं।

काव्य-रचना की शैलियों में से इस युग में गीति-काव्य की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। इस समय लोक-गीतों की सहजता को भी गीति-काव्य में स्थान प्रदान किया जा रहा है। इस दिशा में सर्वश्री शम्भुनाथसिंह, 'ललित,' 'नीरज', राजनारायण बिसारिया और शमशेरसिंह ने प्रशंसनीय प्रयत्न किए हैं। उन्होंने अपने गीतों को जनता की भाषा और जनता की भावनाओं के अधिक से अधिक निकट रखा है। इन गीतों में प्रेम, विरह, वीरता, करुणा और प्रकृति आदि विषयों का मनोहारी चित्रण हुआ है।

: २० :

हिन्दी का भ्रमरगीत-काव्य

'भ्रमरगीत' से हमारा तात्पर्य उन मुक्तक गीतों से है जिनमें गोपियों ने भ्रमर को सम्बोधित करते हुए कृष्ण और उद्धव के प्रति व्यंग्य किए हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियाँ उनके वियोग में उदास रहने लगी थीं। जब श्रीकृष्ण ने उनके पास उद्धव को अपना दूत बनाकर भेजा तब वे समझती थीं कि वह उनके दुःख के साथ सहानुभूति प्रकट करेंगे, किन्तु उद्धव ने इसके स्थान पर उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया। यह उपदेश सुनकर गोपियाँ अत्यन्त निराश हुई। उसी समय कहीं से एक भ्रमर उड़ता हुआ वहाँ आया और राधा के चरणों में बैठकर गुँजार करने लगा। गोपियों को इससे अपनी बातें कहने की सुविधा प्राप्त हो गई और वे भ्रमर पर दोष लगा लगाकर उद्धव तथा कृष्ण पर व्यंग्य करने लगीं। कुछ पदों में उन्होंने उद्धव को स्पष्ट रूप से भी सम्बोधित किया। हिन्दी के भ्रमरगीत-काव्य की पृष्ठभूमि में यही कथा मिलती है। आगे हम हिन्दी में भ्रमरगीत की रचना करने वाले मुख्य-मुख्य कवियों की चर्चा करेंगे।

(१) महाकवि सूरदास—

कविवर सूर ने अपने भ्रमरगीत-काव्य की रचना 'श्रीमद्भागवत पुराण'

के आधार पर की है। हिन्दी में भ्रमरगीत की रचना-परम्परा को प्रारम्भ करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उन्होंने अपने 'सूर-सागर' में इस विषय को लेकर अनेक श्रेष्ठ पदों की रचना की है। उनके भ्रमरगीत में गोपियों ने उद्धव और कृष्ण के प्रति अनेक तीखे व्यंग्य किए हैं। उन्होंने अपनी भाषा को यथासम्भव सरल तथा मधुर रखा है। उनकी शैली भी प्रवाहपूर्ण तथा आकर्षक है। उन्होंने इस प्रसंग का इतने विस्तार के साथ वर्णन किया है कि बाद के सभी कवियों ने इस विषय पर काव्य लिखते समय उनसे प्रेरणा ली है। इस विषय में सूर का भाव-प्रतिपादन मौलिक और प्रभावशाली रहा है। आगे हम गोपियों द्वारा उद्धव के योग के उपदेशों के प्रति किए गए व्यंग्य से सम्बन्धित दो पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारो ऊधो, ऐसोई फिरि जैहै॥

(२) गोस्वामी तुलसीदास—

यद्यपि तुलसी मुख्य रूप से श्रीराम के भक्त थे और उन्होंने अपने साहित्य की रचना उन्हीं के चरित्र को लेकर की है, तथापि उन्होंने कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में भी कार्य किया। उनके काव्य में मर्यादा-भाव को मुख्य स्थान मिला है। अतः उन्होंने गोपियों के चरित्र में चंचलता के स्थान पर गम्भीरता का समावेश किया है। उन्होंने इस प्रसंग की विस्तारपूर्वक चर्चा नहीं की है, तथापि उनका प्रयत्न मौलिक होने के कारण सराहनीय है।

(३) कविवर नन्ददास—

नन्ददासजी के 'भँवरगीत' का हिन्दी भ्रमरगीत-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने इसमें व्यर्थ के विस्तार का त्याग कर प्रत्येक पद में नवीन भाव उपस्थित करने का ध्यान रखा है। इस काव्य में [illegible] और सरसता का इतना उत्कृष्ट रूप में समावेश किया गया है कि इसे सूरदासजी के 'भ्रमरगीत' के समान ही महत्त्व प्राप्त है। इसमें गोपियों ने अपने भावों को मनोविज्ञान के आधार पर मार्मिक रूप में उपस्थित किया है। इसमें कवि ने उद्धव को भी अपना पक्ष स्पष्ट करने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। गोपियों की निम्नलिखित उक्ति से इस काव्य की सरल शैली का सरलता से अनुमान

किया जा सकता है—

कौन ब्रह्म, को जोति, ज्ञान कासौं कहो ऊधो ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो !

(४) कविवर रहीम—

रहीम कवि ने भ्रमरगीत को सरल और स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने गोपियों की विरह-वेदना का मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने अपने भ्रमरगीत की रचना बरवै के समान संक्षिप्त छन्द में की है। फिर भी इस छन्द में उन्होंने व्यापक भावों का कुशलता के साथ समावेश किया है। यथा--

कहा छलत हो ऊधो दै परतीती।
सपने हुँ नहिं बिसरै, मोहनी प्रीति॥

(५) रीति काल के कवि—

रीति काल में कविवर मतिराम, देव, पद्माकर और घनानन्द ने भ्रमरगीत-काव्य-परम्परा में उल्लेखनीय योग दिया है। इनमें से मतिराम ने इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने इस विषय पर स्वतन्त्र काव्य नहीं लिखा है, किन्तु इस विषय में उनकी उक्तियाँ कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। उदाहरण के लिए गोपियों का निम्नलिखित स्पष्ट कथन देखिए—

पगीं प्रेम नन्दलाल के, हमैं न भावत जोग।
मधुप राजपद पाइ कै, भीख न माँगत जोग॥

(६) भारतेन्दु-युग के कवि—

इस युग में कविवर भारतेन्दु हरिचन्द्र, 'प्रेमघन' और सत्यनारायण 'कविरत्न' ने श्रेष्ठ भ्रमरगीत-काव्य की रचना की है। इनमें से भारतेन्दुजी ने गोपी-उद्धव-सम्वाद को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया है। कला पक्ष की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ न होने पर भी उनका भ्रमरगीत-सम्बन्धी काव्य भाव-पक्ष की दृष्टि से सुन्दर बन पड़ा है। प्रेमघन' जी ने अपने 'भ्रमरगीत' में कृष्ण के वियोग में गोपियों को अत्यन्त विकल दिखाया है। इस युग के कवियों में भ्रमरगीत के क्षेत्र में 'कविरत्न' जी ने पर्याप्त मौलिकता दिखाई है। उन्होंने उसमें अपने समय की देश-प्रेम और नारी-शिक्षा जैसी समस्याओं

का समावेश कर राष्ट्रीयता का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार उन्होंने कृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियों की विरह-वेदना के साथ-साथ माता यशोदा की विकलता का चित्रण करते हुए मौलिकता दिखाई है।

(७) श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—

'हरिऔध' जी ने 'प्रियप्रवास' नामक काव्य की रचना द्वारा भ्रमरगीत-काव्य की परम्परा में योग दिया है। उन्होंने इसमें मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर कृष्ण और राधा के चरित्रों को नवीन रूप में उपस्थित किया है। इस काव्य की रचना खड़ी बोली में हुई है। अतः इसमें भावों की मौलिकता के साथ-साथ कला-क्षेत्र में भी नवीनता को स्थान दिया गया है। आगे हम परिचय के लिए इस काव्य का एक छन्द उपस्थित करते हैं—

कोई ऊधौ यदि यह कहे काढ़ दें गोपिकायें,
प्यारा-प्यारा निज हृदय तो वे उसे काढ़ देंगी।
हो पावेगा न यह उनसे देह में प्राण होते,
उद्योगी हो हृदय-तल से श्याम को काढ़ देवें॥

(८) श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—

'रत्नाकर' जी ने अपने 'उद्धव-शतक' नामक काव्य में भ्रमरगीत को प्रशंसनीय रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने गोपियों के विरह का उल्लेख करने के साथ-साथ श्रीकृष्ण के विरह का भी सुन्दर चित्रण किया है। उन्होंने उद्धव को भी गोपियों से अच्छा तर्क करते हुए दिखाया है और उनके द्वारा निर्गुण भक्ति के स्वरूप को भली प्रकार स्पष्ट कराया है। इस कृति में भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों के ही प्रौढ रूप में दर्शन होते है।

(९) श्री मैथिलीशरण गुप्त—

गुप्तजी ने 'द्वापर' नामक काव्य में भ्रमरगीत का सुन्दर समावेश किया है। उन्होंने गोपियों को चपल, चतुर तथा भाव-कुशल दिखाया है। उनके उद्धव भी केवल बुद्धिवादी नही है। अन्य कवियों ने उसे गोपियों का प्रेम-भाव समझने में असमर्थ दिखाया है, किन्तु गुप्तजी ने उन्हें इस रूप में चित्रित नहीं किया है। गुप्तजी के भ्रमरगीत-काव्य की शैली भी अत्यन्त रमणीय है। उदाहरण के लिए गोपियों की निम्नलिखित प्रभावशाली उक्ति देखिए—

ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो,
अपना अपना होता ।
वक्ता भी क्या करे, न पावे,
यदि अधिकारी श्रोता ?

इन कवियों के अतिरिक्त कृष्ण-काव्य में रुचि रखने वाले सभी कवियों ने प्रायः भ्रमरगीत को लेकर कुछ न कुछ लिखा है। इन सभी कवियों ने इस विषय में महाकवि सूरदास के काव्य से अनिवार्य प्रेरणा ली है। यद्यपि इस धारा के सभी कवियों ने वर्णन के लिए एक ही विषय को अपनाया है, तथापि हमें अनेक स्थानों पर कुछ नवीनताएँ भी प्राप्त होती हैं। इस नवीनता की योजना की ओर आधुनिक युग के कवियों ने अधिक ध्यान दिया है। अपनी मधुर भावनाओं के कारण हिन्दी का भ्रमरगीत-काव्य ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में सरस रूप में उपस्थित किया है।

: २१ :

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति अपने सहज सौन्दर्य की ओर मानव का सदा से ही ध्यान आकर्षित करती रही है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की ओर भी आरम्भ से ध्यान दिया जाता रहा है। प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण करने वाले काव्य में एक विशेष सरलता और स्वाभाविकता की स्थिति रहती है। उसका अध्ययन करने पर पाठक को विशेष सहृदयता का अनुभव होता है। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति-चित्रण की ओर व्यापक ध्यान दिया गया है। वहाँ प्रकृति के सभी रूपों को स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया गया है। हिन्दी-काव्य में भी प्रकृति-चित्रण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है; किन्तु उसके वीरगाथा काल में प्रकृति-चित्रण की स्वस्थता का अभाव रहा है। उस युग में भी कवियों का ध्यान वीर रस के चित्रण की ओर अधिक रहा है। अतः प्रकृति-चित्रण के अवसर प्राप्त होने पर भी वे प्रकृति के शुद्ध और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सके हैं।

भक्ति काल में प्रकृति-चित्रण

भक्ति-काल में हिन्दी-कविता निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति के दो भेदों में विभाजित रही है। निर्गुण भक्ति को उपस्थित करने वाले कवियों ने प्रकृति-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया है। इनमें से ज्ञानाश्रयी भक्ति-शाखा के कवियों के काव्य में प्रकृति को उसके स्वाभाविक रूप में अत्यन्त अल्प स्थानों पर उपस्थित किया गया है। प्रेमाश्रयी भक्ति-धारा के कवियों ने प्रबन्ध काव्य की रचना की है। अतः उनके सामने प्रकृति-चित्रण के लिए पर्याप्त अवसर आए हैं। इनका उपयोग करते हुए उन्होंने प्रायः प्रकृति को उद्दीपनात्मक रूप में उपस्थित किया है। प्रकृति के शुद्ध अर्थात् आलम्बनात्मक चित्रों का उनके काव्य में भी अभाव रहा है। इस धारा के काव्यों में प्रकृति-चित्रण को कविवर जायसी के 'पद्मावत' में सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुआ है।

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण की ओर सबसे पहले भक्ति काल की सगुण भक्ति शाखा के कवियों ने व्यापक ध्यान दिया। वैसे तो इस युग के सभी राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रकृति का कुछ विस्तार के साथ चित्रण किया है, किन्तु उसका व्यापक रूप महाकवि सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में ही उपलब्ध होता है। इतना होने पर भी ये दोनों महाकवि प्रकृति को उसके शुद्ध रूप में अधिक अंकित नहीं कर पाए हैं। सूर के प्रकृति का चित्रण करने वाले काव्य में मुख्य रूप से प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही उपस्थित किया गया है। उन्होंने ब्रज की प्रकृति का सीमित रूप में वर्णन किया है और उनके पदों में यमुना-लताकुंज, वंशीवट आदि का लगभग एक ही-सा वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति को कल्पना के आधार पर उन्होंने अत्यन्त आकर्षक रूप भी प्रदान किया है। उन्होंने कृष्ण-राधा तथा गोपियों आदि सभी पात्रों के चरित्रों को प्रकृति के बीच में विकसित होते हुए दिखाया है। अतः ये सभी पात्र प्रकृति को किसी भी अवस्था में नहीं भुला पाते। उदाहरणार्थ मथुरा जाने पर श्रीकृष्ण का उद्धव के प्रति निम्नलिखित कथन देखिए :

> ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
> हंस-सुता की सुन्दर कगरी, अस कुंजन की छाहीं॥

तुलसी के काव्य में प्रकृति के आलम्बनात्मक और आलंकारिक चित्र प्राप्त

होते हैं। इस दृष्टि से उनके 'रामचरितमानस' और 'गीतावली' नामक काव्यों में प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र प्राप्त होते हैं, किन्तु अलंकारों का बोझ भी उन पर प्रायः वर्तमान रहा है। यदि उन्होंने अपने प्रकृति-चित्रों को उपमा और उत्प्रेक्षा के भार से कुछ मुक्त रखा होता तो उनका प्रकृति-काव्य अधिक आकर्षक प्रतीत होता।

रीति काल में प्रकृति-चित्रण

रीति काल के हिन्दी काव्य में प्रकृति के शुद्ध चित्रों का प्रायः अभाव ही रहा है। इस युग में कवियों का ध्यान श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं के माध्यम से शृंगार रस का चित्रण करने की ओर रहा है। अतः प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने की प्रवृत्ति उनके काव्य में प्राप्त नहीं होती। इस युग के कवियों ने प्रकृति को आलंकारिक रूप में उपस्थित करने की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। यह प्रवृत्ति केशव, पद्माकर, ग्वाल, बिहारी, सेनापति, मतिराम आदि लगभग सभी रीतिकालीन कवियों द्वारा अपनायी गयी है। फिर भी इनमें से सेनापति ने प्रकृति-वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। वास्तव में इन कवियों के काव्य में प्रकृति का किसी विशेष प्रसंग के कारण सहसा समावेश हो गया है। प्रकृति की स्वाभाविकता से आकर्षित होकर उसकी ओर किसी भी कवि ने मुख्य रूप से ध्यान नहीं दिया है। इस युग के काव्य की रचना स्वतन्त्र छन्दों के रूप में हुई है। एक छन्द में एक ही भाव का समावेश हो सकता है और रीति काल के कवियों ने प्रायः इस भाव को शृंगार रस से ही सम्बन्धित रखा है।

आधुनिक काल में प्रकृति-चित्रण

आधुनिक काल में प्रकृति-चित्रण की ओर सर्वप्रथम व्यापक ध्यान दिया गया। इस दृष्टि से हमें इसके विभिन्न उपयुगों में प्रकृति-चित्रण की निम्नलिखित स्थिति मिलती है—

(१) भारतेन्दु-युग—

भारतेन्दु-युग में प्रकृति-चित्रण की ओर पं० श्रीधर पाठक ने सबसे अधिक रुचि दिखाई है। उनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। और केवल बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गंगा तथा यमुना से

सम्बन्धित प्रकृति-विषयक स्वतन्त्र कविताएँ मिलती है। पाठकजी ने काश्मीर और हिमालय की शोभा को लेकर विस्तृत प्रकृति-काव्य लिखा है। उन्होंने प्रकृति के अनेक प्रशंसा के योग्य आलम्बनात्मक चित्र उपस्थित किए हैं। उनके काव्य में प्रकृति का कोमल और उग्र, दोनों रूपों में चित्रण मिलता है।

(२) **द्विवेदी-युग—**

इस युग के कवियों में से पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा ठाकुर गोपालशरणसिंह ने प्रकृति-चित्रण की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। 'हरिऔध' जी ने अपने 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-बनवास' नामक महाकाव्यों में प्रकृति का व्यापक चित्रण किया है। 'प्रियप्रवास' में उन्होंने प्रकृति का दूत-रूप में भी सुन्दर चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में प्रकृति के आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक और आलंकारिक चित्र भी बहुलता से प्राप्त होते हैं। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने अपनी 'कादम्बिनी' और 'मानसी' आदि रचनाओं में प्रकृति के मधुप, कोकिल, चाँदनी, प्रभात आदि विविध अंगों पर मुक्तक कविताएँ लिखीं हैं। उन्होंने प्रकृति के मधुर रूप का सरल और आकर्षक वर्णन किया है। इस युग के अन्य कवियों में कविवर मैथिलीशरण गुप्त और जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने भी अच्छा प्रकृति-काव्य लिखा है। इस दृष्टि से गुप्तजी की 'पंचवटी' और 'साकेत' नामक रचनाएँ तथा 'रत्नाकर' जी की 'गंगावतरण' शीर्षक कृति पढ़ने योग्य है। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने प्रायः प्रकृति का सामान्य रूप में वर्णन किया है।

(३) **छायावाद-युग—**

इस युग में प्रकृति-चित्रण की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया। छायावादी काव्य में प्रकृति मे मानवीय भावो को देखने की एक नवीन रीति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के सौन्दर्य को स्वतन्त्र रूप में उपस्थित करना भी छायावाद की एक प्रमुख विशेषता है। इस धारा के कवियों में सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा और मुकुटधर पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय है। इनमें से 'निराला' और महादेवी के काव्य मे प्रकृति में ईश्वरीय रहस्य के दर्शन की प्रवृत्ति भी मिलती है। डा० रामकुमार वर्मा की कविताओं में भी प्रकृति का यही रूप

मिलता है। छायावाद के अन्य कवियों में पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है।

छायावाद-युग के प्रकृति-काव्य में 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें हिमालय की सुन्दरता का अत्यन्त श्रेष्ठ रीति से वर्णन किया गया है। वैसे इस युग में प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में सबसे अधिक कार्य कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने किया है। हिन्दी में प्रकृति का चित्रण करने वाले कवियों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने प्रकृति को विविध रूपों में उपस्थित करते हुए उसका मानव-जीवन से सहज सम्बन्ध स्थापित किया है। इस दृष्टि से उन्होंने अपने प्रकृति-चित्रों में कल्पना का भी सुन्दर समावेश किया है। उदाहरणार्थ उनके द्वारा किया गया गंगा का निम्नलिखित चित्रण देखिए—

सैकत-शैया पर दुग्ध-धवल,
तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !

× ×

गोरे अंगों पर सिहर-सिहर,
लहराता तार-तरल सुन्दर,
चचल अंचल सा नीलाम्बर।

छायावाद-युग के पश्चात् हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण की ओर कुछ कम ध्यान दिया जाने लगा। इसके उपरान्त प्रगतिवादी कविताओं में मजदूर जगत् की समस्याओं तथा समाज की विषमताओं के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया। अतः प्रकृति-चित्रण के लिए उसमें अधिक स्थान नहीं रहा। इसके पश्चात् हालावादी काव्य में भी मधु, मधुशाला और मधुबाला का चित्रण करने के कारण कवि प्रकृति-चित्रण से दूर रहे। इस समय की प्रयोगवादी कविताओं में प्रकृति के स्थूल चित्रों को उपस्थित करने की प्रवृत्ति प्राप्त होता है। गांधीवाद को लेकर लिखा गई कविताओं और राष्ट्रीय कविताओं में भी प्रकृति-चित्रण लगभग नहीं मिलता। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि

इस समय प्रकृति को हिन्दी काव्य में स्थान प्राप्त नहीं हो रहा है। अब भी प्रकृति को लेकर स्वतन्त्र कविताओं की रचना की जाती है। कुछ कवियों ने लोक-गीतों में प्राप्त होने वाले प्रकृति-चित्रों से प्रेरणा लेकर अपनी रचनाओं में प्रकृति का नवीन रूप से भी समावेश किया है।

: २२ :

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का चित्रण मुख्य रूप से आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व वीरगाथा काल में उसकी एक धारा प्राप्त अवश्य होती है, किन्तु वह अपने आप में अत्यन्त क्षीण है। इसका कारण यही है कि उस युग में उत्साह की भावना पूर्ण रूप से विकास प्राप्त करने पर भी एक सीमा से बाहर नहीं जा सकती थी। उस समय के चारण कवि अपने आश्रयदाता नरेशों को प्रसन्न करने के लिए जिस काव्य की रचना किया करते थे वह उत्साह से युक्त होने पर भी राष्ट्रीयता का केवल स्पर्श ही करता था। राष्ट्र-चेतना का पूर्ण विकास उस युग के काव्य में देखने को नहीं मिलता। यही कारण है कि उसकी ओर आकर्षित होने पर भी हम उसका अध्ययन करने पर पूर्ण आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

भक्ति काल में भारतवर्ष पर मुगलों का शासन स्थापित हो चुका था। पराजित होने के कारण जनता का सब उत्साह नष्ट हो चुका था। अतः उस समय राष्ट्रीय काव्य की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता था। उस समय जनता शान्ति की खोज में थी। इस आवश्यकता को पहचानकर सर्वश्री कबीर, सूर, तुलसी तथा मीरा ने अपने भक्तिपूर्ण पदों द्वारा जनता को एक अपूर्व शांति प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति के कारण उस युग के कवियों के समक्ष राष्ट्रीय भावों को उपस्थित करने का

अवकाश ही न था। अतः भक्ति काल में काव्य की यह धारा पूर्ण रूप से उपेक्षित ही रही।

रीति काल में कवियों का ध्यान मुख्य रूप से शृंगार रस की कविताएँ लिखने की ओर ही रहा। फिर भी इस युग में कविवर भूषण, लाल तथा सूदन ने अपने वीर रस से पूर्ण काव्य द्वारा राष्ट्रीय चेतना को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। इन तीनों कवियों में भूषण को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। उनकी कविताओं में केवल वीरवर शिवाजी अथवा छत्रसाल की वीरता का ही वर्णन नहीं है, अपितु उन्होंने राष्ट्र का ध्यान रखते हुए उनमें अन्य अनेक उपयोगी तत्त्वों का भी समावेश किया है। खेद है कि उन्हें रीति काल में शृंगार काव्य की रचना करने वाले कवियों की ओर से उचित सहयोग नहीं मिला। यही कारण है कि राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी उनके काव्य का उस समय अधिक प्रचार नहीं हो सका।

आधुनिक काल हिन्दी-साहित्य के लिए प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। आज साहित्य के जो अंग विकास कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश का उदय आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही हुआ था। राष्ट्रीय कविता का पूर्ण ओज भी वास्तव में यहीं से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी कवियों ने अपने समय की राजनैतिक स्थिति का ज्यों का त्यों चित्रण करते हुए देश की भलाई और बुराई, दोनों का ध्यान रखा है। भारतेन्दु-युग के कवि अपनी कविताओं द्वारा जनता का ध्यान भी इस ओर आकर्षित करना चाहते थे। इस दिशा में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की निम्नलिखित मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ देखिए—

रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई!

इसी युग में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भारतवर्ष की भाँति भारत की लोकप्रिय भाषा हिन्दी के गौरव की भी स्थापना की। उन्होंने अपने काव्य में इन दोनों की व्यापक स्थापना की है। उन्होंने जनता को नवीन स्फूर्ति और सजग उल्लास प्रदान किया है। उनके समकालीन कवि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी इसी भाव को विकसित करते हुए अपने 'भ्रमरगीत' नामक

इस समय प्रकृति को हिन्दी काव्य में स्थान प्राप्त नहीं हो रहा है। अब भी प्रकृति को लेकर स्वतन्त्र कविताओं की रचना की जाती है। कुछ कवियों ने लोक-गीतों में प्राप्त होने वाले प्रकृति-चित्रों से प्रेरणा लेकर अपनी रचनाओं में प्रकृति का नवीन रूप से भी समावेश किया है।

: २२ :

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का चित्रण मुख्य रूप से आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व वीरगाथा काल में उसकी एक धारा प्राप्त अवश्य होती है, किन्तु वह अपने आप में अत्यन्त क्षीण है। इसका कारण यही है कि उस युग में उत्साह की भावना पूर्ण रूप से विकास प्राप्त करने पर भी एक सीमा से बाहर नहीं जा सकती थी। उस समय के चारण कवि अपने आश्रयदाता नरेशों को प्रसन्न करने के लिए जिस काव्य की रचना किया करते थे वह उत्साह से युक्त होने पर भी राष्ट्रीयता का केवल स्पर्श ही करता था। राष्ट्र-चेतना का पूर्ण विकास उस युग के काव्य में देखने को नहीं मिलता। यही कारण है कि उसकी ओर आकर्षित होने पर भी हम उसका अध्ययन करने पर पूर्ण आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

भक्ति काल में भारतवर्ष पर मुगलों का शासन स्थापित हो चुका था। पराजित होने के कारण जनता का सब उत्साह नष्ट हो चुका था। अतः उस समय राष्ट्रीय काव्य की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता था। उस समय जनता शान्ति की खोज में थी। इस आवश्यकता को पहचानकर सर्वश्री कबीर, सूर, तुलसी तथा मीरा ने अपने भक्तिपूर्ण पदों द्वारा जनता को एक अपूर्व शांति प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति के कारण उस युग के कवियों के समक्ष राष्ट्रीय भावों को उपस्थित करने का

अवकाश ही न था। अतः भक्ति काल में काव्य की यह धारा पूर्ण रूप से उपेक्षित ही रही।

रीति काल में कवियों का ध्यान मुख्य रूप से शृंगार रस की कविताएँ लिखने की ओर ही रहा। फिर भी इस युग में कविवर भूषण, लाल तथा सूदन ने अपने वीर रस से पूर्ण काव्य द्वारा राष्ट्रीय चेतना को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। इन तीनों कवियों में भूषण को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। उनकी कविताओं में केवल वीरवर शिवाजी अथवा छत्रसाल की वीरता का ही वर्णन नहीं है, अपितु उन्होंने राष्ट्र का ध्यान रखते हुए उनमें अन्य अनेक उपयोगी तत्त्वों का भी समावेश किया है। खेद है कि उन्हें रीति काल में शृंगार काव्य की रचना करने वाले कवियों की ओर से उचित सहयोग नहीं मिला। यही कारण है कि राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी उनके काव्य का उस समय अधिक प्रचार नहीं हो सका।

आधुनिक काल हिन्दी-साहित्य के लिए प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। आज साहित्य के जो अंग विकास कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश का उदय आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही हुआ था। राष्ट्रीय कविता का पूर्ण ओज भी वास्तव में यहीं से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी कवियों ने अपने समय की राजनैतिक स्थिति का ज्यों का त्यों चित्रण करते हुए देश की भलाई और बुराई, दोनों का ध्यान रखा है। भारतेन्दु-युग के कवि अपनी कविताओं द्वारा जनता का ध्यान भी इस ओर आकर्षित करना चाहते थे। इस दिशा में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की निम्नलिखित मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ देखिए—

रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई!

इसी युग में पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भारतवर्ष की भाँति भारत की लोकप्रिय भाषा हिन्दी के गौरव की भी स्थापना की। उन्होंने अपने काव्य में इन दोनों की व्यापक स्थापना की है। उन्होंने जनता को नवीन स्फूर्ति और सजग उल्लास प्रदान किया है। उनके समकालीन कवि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी इसी भाव को विकसित करते हुए अपने 'भ्रमरगीत' नामक

काव्य में श्रीकृष्ण से भारतवर्ष का स्मरण कर उसकी रक्षा करने की प्रार्थना की। इसी समय पं० श्रीधर पाठक ने राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति से सहायता ग्रहण की। उन्होंने भारतवर्ष के प्राकृतिक सौन्दर्य का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया। इस प्रकार उनके वर्णनों ने भी हमारे हृदय में स्वदेश के प्रति अनुराग की भावना को जाग्रत किया।

द्विवेदी-युग में श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से राष्ट्रीय कविता का स्वरूप निरन्तर विकासमग्न रहा। उनके समकालीन कवियों में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इस भाव की पूर्ण रक्षा की। उन्होंने अपने काव्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राष्ट्रीय भाव-धारा का पर्याप्त समावेश किया है। उन्होंने अपने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण और राधा, दोनों को ही लोक-सेवा में मग्न दिखाया है। इसी प्रकार 'रस-कलश' में नायिका-भेद का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वदेश के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाली नायिकाओं की कल्पना की है। द्विवेदी-युग के एक अन्य महाकवि श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में भारतीय संस्कृति की मर्यादाओं का पूर्ण निर्वाह किया है। इस दिशा में उनके 'भारत-भारती', 'अजित' और 'जयभारत' नामक काव्य-ग्रन्थ विशेष सुन्दर और प्रेरणाप्रद बन पड़े हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसे अन्य काव्यों में भी उन्होंने स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय भाव को अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'भारत-भारती' में उन्होंने भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और समृद्धि का उपयुक्त चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान जीवन के प्रति असन्तोष प्रकट करते हुए उन्होंने उसके आधार पर भविष्य के प्रति भी चिन्ता व्यक्त की है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ने योग्य है—

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

गुप्तजी के पश्चात् कविवर जयशंकर प्रसाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने कविताओं के साथ-साथ नाटकों की भी रचना की है। और इन सभी में भारतीय इतिहास को राष्ट्रीय रूप में उपस्थित किया गया है। 'कामायनी' नामक महाकाव्य में उन्होंने मनु और श्रद्धा की कथा को जिस सांस्कृतिक रूप में उपस्थित किया है उसमें राष्ट्रीयता के सभी चिह्न वर्त्तमान हैं। 'स्कन्दगुप्त',

'चन्द्रगुप्त' तथा 'राज्य-श्री' नाटकों में भी उन्होंने गुप्तकालीन तथा हर्षयुगीन संस्कृति को राष्ट्रीय रूप में प्रस्तुत किया है।

वर्तमान युग में पं० माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने राष्ट्रीय भाव-धारा को विशेष समृद्धि प्रदान की है। चतुर्वेदीजी की कविताओं में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति विशेष श्रद्धा मिलती है। उन्होंने राष्ट्र के जीवन में आने वाली सभी विषमताओं का खुलकर विरोध किया है। उनकी कविताओं में उद्बोधन-शक्ति का सर्वत्र संचार रहा है। 'हिम-तरंगिणी' तथा 'हिम-किरीटिनी' में उनकी इस प्रकार की अनेक कविताएँ मिलती हैं। आगे हम उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता की कुछ अमर पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताओं में राष्ट्र के प्रति एक विशेष आवाहन की भावना मिलती है। उन्होंने हमें भाव और कर्म, दोनों ही की दृष्टि से एक नवीन संदेश प्रदान किया है। व्यक्तित्व को दबाकर रखने की अपेक्षा वह उसको प्रकट करने में अधिक विश्वास रखते हैं। कविवर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की कविताओं में भी लगभग यही भावना मिलती है। अन्तर केवल यही है कि उन्होंने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में 'नवीन' जी के उपर्युक्त भाव के अतिरिक्त माधुर्य भाव का भी समन्वय कर दिया है। आधुनिक युग के अन्य कवियों में कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने काव्य में राष्ट्रीय चेतना का अंकन करते समय क्रान्ति की भावना को मुख्य रूप से अपनाया है। उनकी 'हुँकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'सामधेनी' आदि सभी कृतियों में यही प्रवृत्ति मिलता है। वास्तव में वह भाव-प्रतिपादन की दृष्टि से कविवर 'नवीन' की परम्परा में आते हैं और उन्होंने उन्हीं की विचारधारा की एक नवीन रीति से व्याख्या की है। स्वदेश के प्रति अपने सहज अनुराग के कारण वह उसमें व्याप्त विषमता के विष को किसी भी उपाय से नष्ट कर देना चाहते हैं—

छिप जाऊँ कहाँ तुम्हें लेकर ?
इस विष का क्या उपचार करूँ ?
प्यारे स्वदेश ! खाली जाऊँ ?
या हाथों में तलवार धरूँ ?

वर्त्तमान युग के कुछ कवियों ने अपने राष्ट्रीय काव्य की रचना करते समय गांधीवाद से विशेष प्रेरणा प्राप्त की है । इन कवियों में कवि श्री सियाराम-शरण गुप्त और पं० सोहनलाल द्विवेदी मुख्य हैं । द्विवेदीजी ने इस दिशा में गुप्तजी की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर कार्य किया है । उन्होंने राष्ट्र-हित के लिए वर्त्तमान संघर्षवादी युग को छोड़कर ग्रामों की ओर लौट चलने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है । राष्ट्रीय भाव की पूर्ण प्रगति के लिए वह अहिंसा को अनिवार्य मानते हैं । इस प्रकार उन्होंने इस दिशा में अपने अन्य सहयोगी कवियों की अपेक्षा एक नवीन प्रयोग किया है, और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है ।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति वर्त्तमान युग में महिलाओं ने भी राष्ट्रीय काव्य के सृजन की ओर ध्यान दिया है । इस दृष्टि से सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उन्होंने राष्ट्र के प्रति अपनी श्रद्धांजलि को अत्यन्त सरल और पवित्र शब्दों में व्यक्त किया है । उनकी कविताओं में उत्साह का अत्यन्त सुन्दर रीति से समावेश हुआ है । इस दृष्टि से उनकी 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता सर्वप्रमुख है । उन्होंने इस कविता में राष्ट्रीय भाव का सर्वत्र समान रूप से ध्यान रखा है । उनके अतिरिक्त कवयित्री महादेवी वर्मा और श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा ने भी अपनी कुछ मुक्तक कविताओं में राष्ट्रीय विचारधारा को उपस्थित किया है ।

संक्षेप में हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का विकास इसी क्रम से हुआ है । वर्त्तमान काल में श्रीयुत नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन' तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम उल्लेखनीय हैं, किन्तु उन्हें राष्ट्रीय काव्य की रचना में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है । इसका कारण यही है कि उन्होंने अपनी काव्य-वस्तु का संकलन भारत से न कर रूस की लाल भूमि से किया है । इस प्रकार उनके काव्य का आधार ही प्रारम्भ से दोषपूर्ण रहा है ! वास्तव में उन्हें राष्ट्रीय काव्य की रचना में केवल तभी सफलता प्राप्त हुई है जब

उन्होंने अपने प्रतिनिधि कवि श्रीयुत सुमित्रानन्दन पन्त की भाँति भारत के सांस्कृतिक आदर्शों की ओर उन्मुख होकर काव्य-रचना की है। अन्त में हमारा प्रतिपाद्य यही है कि हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा का उपर्युक्त अध्ययन करने पर उसके उज्ज्वल भविष्य के बारे में कोई शंका नहीं रह जाती। वर्त्तमान हिन्दी कवियों ने लोक-गीतों के प्रति अपनी उपेक्षा का त्याग कर दिया है। उनकी यह सहृदयता अन्त में लाभप्रद ही सिद्ध होगी। लोक-गीतों के अंचल में राष्ट्र-प्रेम की धारा अत्यन्त निर्मल रूप से प्रवाहित हुई है। उनके अध्ययन से हमारे राष्ट्रीय काव्य को एक नवीन दिशा प्राप्त होगी।

: २३ :

हिन्दी-गद्य का विकास

हिन्दी में गद्य की अपेक्षा पद्य को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है, तथापि गद्य-रचनाओं के संकेत भी हमें कहीं-कहीं मिलते है। सर्वप्रथम हमें राजस्थानी गद्य का अपभ्रंश-मिश्रित रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार के गद्य को महाराज पृथ्वीराज तथा चित्तौड़ के रावल समरसिंह के दान-पत्रों, शिलालेखों और सनदों में स्थान प्राप्त हुआ है। इसके पश्चात् हमें हिन्दी-गद्य का प्रथम विकसित रूप पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखे गए गुरु गोरखनाथ के 'सिष्ट प्रमाण' नामक ब्रह्म-ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इसकी गद्य-शैली भी स्थिर नहीं है। इसके उपरान्त सोलहवीं शताब्दी में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ब्रजभाषा-गद्य में 'शृंगार-रस-मंडन' नामक ग्रन्थ की रचना की, किन्तु इसमें भी परिमार्जित गद्य का अभाव है।

इसके पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में गोस्वामी गोकुलनाथ ने सरल और बोल-चाल की ब्रजभाषा में 'वन-यात्रा',' चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' शीर्षक गद्य-ग्रन्थ लिखे। उनकी भाषा में कृत्रिमता का अभाव है और कहीं-कहीं फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

उनके गद्य में भाव-व्यंजना भी अच्छी हुई है। इसी समय के आस-पास नाभादासजी ने 'अष्टयाम' और बैकुण्ठमणि ने 'अगहन-माहात्म्य' तथा 'वैशाख-माहात्म्य' नामक ग्रन्थों को ब्रजभाषा-गद्य में लिखा। इसी प्रकार कुछ काव्य-ग्रन्थों की टीकाओं में भी गद्य का प्रयोग किया गया, किन्तु वह नितान्त अव्यवस्थित और अशक्त है।

खड़ी बोली का हिन्दी-गद्य

सोलहवीं शताब्दी में गंग कवि ने ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली गद्य में सर्वप्रथम 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' नामक पुस्तक लिखी, किन्तु इसकी भाषा अपरिमार्जित और अपरिष्कृत है अर्थात् इसमें भाषा की स्वच्छता का अभाव है। इसी युग में जटमल की 'गोरा-बादल की कथा' शीर्षक गद्य-पुस्तक मिलती है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। इसके बाद अठारहवीं शताब्दी में श्री रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषा योग-वशिष्ठ' नामक गद्य-ग्रन्थ की पर्याप्त परिष्कृत खड़ी बोली में रचना की। उनके उपरान्त किसी अज्ञात लेखक ने राजस्थानी-मिश्रित खड़ी बोली में 'चकत्ता की पातस्याही की परम्परा' नामक ग्रन्थ लिखा। इसके बाद पं० दौलतराम ने 'जैन पद्मपुराण' का खड़ी बोली में अनुवाद किया। उनकी भाषा विशेष परिष्कृत न होने पर भी स्वाभाविक है। इसी समय किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक ने फारसी से प्रभावित अपरिष्कृत खड़ी बोली में 'मंडोवर का वर्णन' नामक पुस्तक की रचना की।

हिन्दी-गद्य की इस अव्यवस्थित प्रगति के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निम्नलिखित चार लेखकों ने उसे विशेष गति प्रदान की—

(१) मुंशी सदासुखलाल—

मुंशीजी ने शान्त और गम्भीर भाषा में 'श्रीमद्भागवत' का 'सुखसागर' के रूप में स्वतन्त्र अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ में लेखक ने संस्कृत के शुद्ध शब्दों से युक्त सरल भाषा का प्रयोग कर खड़ी बोली के भावी रूप का पूर्ण आभास दिया है। कहीं-कहीं उन्होंने भाषा में पण्डिताऊपन का भी परिचय दिया है।

(२) सैयद इंशाअल्ला खाँ—

खाँ साहब ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' की ठेठ हिन्दी में रचना की

है। उन्होंने उसमें संस्कृत के शब्दों के तद्भव रूपों का पर्याप्त प्रयोग किया है। उनकी गद्य-शैली मनोविनोद से युक्त है। उस पर फारसी की गद्य-शैली का प्रभाव लक्षित होता है। तथा—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया।"

खाँ साहब की भाषा पर कहीं-कहीं ब्रजभाषा के व्याकरण का भी प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार उन्होंने उर्दू के मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। उनकी कृति का खड़ी बोली के गद्य में अपनी चपलता के कारण विशेष स्थान है।

(३) लल्लूलाल—

लल्लूलालजी ने ब्रजभाषा से प्रभावित खड़ी बोली में 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का आधार लिया गया है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया है किन्तु उनकी भाषा अव्यवस्थित और अनियन्त्रित है। इस कृति के द्वारा उन्होंने हिन्दी की गद्य-शैली को कोई विशेष विकास प्रदान नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ब्रजभाषा-गद्य में 'राजनीति' नामक पुस्तक लिखी है, किन्तु इसकी भाषा भी अव्यवस्थित और शिथिल है।

(४) **सदल मिश्र**—

मिश्रजी ने बोलचाल की खड़ी बोली में 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक की रचना की है। उनकी भाषा पर ब्रजभाषा और पूरबी बोली का प्रभाव मिलता है। कहीं-कहीं उन्होंने उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार उनकी भाषा में एकरूपता का अभाव है। वह हमारे समक्ष परिमार्जित और शिथिल, दोनों ही रूपों में आई है।

इन चारों लेखकों में मुंशी सदासुखलाल का गद्य सर्वश्रेष्ठ है। उन्हें हिन्दी-गद्य को जन्म देने वाला कहा जा सकता है।

हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर हो जाने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उसका उपयोग धर्म-प्रचार और शिक्षा के लिए होने लगा। धर्म-प्रचार की दृष्टि से सर्वप्रथम ईसाई धर्म के प्रचारकों ने सरल भाषा में ईसाई धर्म पर अनेक संक्षिप्त गद्य-पुस्तकें प्रकाशित कराईं। इसके उत्तर में राजा राममोहनराय

ने हिन्दू धर्म को स्थिर रखने के लिए वेदान्त सूत्रों के भाष्यों का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित कराया। इसके बाद स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के प्रचार के लिए 'सत्यार्थप्रकाश' और वेदों के भाष्यों को हिन्दी में प्रकाशित कराया। उनके उपरान्त पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने सरल हिन्दी में आर्यसमाज के प्रचार के लिए पुस्तकें लिखीं।

शिक्षा में सहायक पुस्तकों की दृष्टि से सर्वप्रथम ईसाई मिशनरियों ने कुछ पाठ्य-पुस्तकों को प्रकाशित कराया। कुछ अन्य लेखकों ने भी साधारण भाषा में पुस्तकें उपस्थित कीं। इस दिशा में राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' ने विशेष कार्य किया है। किन्तु उनकी भाषा पर उर्दू का स्पष्ट प्रभाव था। इस प्रवृत्ति का विरोध करने के लिए राजा लक्ष्मणसिंह ने पुष्ट हिन्दी-गद्य की रचना की। उनकी भाषा शुद्ध और मधुर थी, किन्तु कहीं-कहीं उस पर आगरे की बोलचाल की भाषा का भी प्रभाव मिलता है।

नवीन हिन्दी-गद्य

भारतेन्दु-युग में हिन्दी-गद्य का पर्याप्त विकास हुआ और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों ने नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि के रूप में विविध प्रकार की गद्य-रचनाएँ उपस्थित कीं। इस युग के लेखकों की गद्य-शैली प्रवाहपूर्ण तथा आकर्षक है, किन्तु उसमें व्याकरण की दृष्टि से अनेक दोष मिलते हैं। इस अभाव को लक्षित कर द्विवेदी-युग में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की भाषा का तीव्र विरोध किया और व्याकरण के अनुसार शुद्ध खड़ी बोली में गद्य लिखने की परम्परा को प्रारम्भ किया। उनके बाद हिन्दी में क्रमशः पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक विकास होता गया और आज हमें यह अत्यन्त विकसित अवस्था में प्राप्त होता है। इस समय तक हिन्दी-गद्य का कहानी, नाटक, एकांकी नाटक, उपन्यास, निबन्ध तथा आलोचना आदि के रूप में विविध क्षेत्रों में विकास हुआ। गद्य के इन प्रमुख अंगों के विकास की हम पृथक्-पृथक् निबन्धों में चर्चा करेंगे। इनके अतिरिक्त हिन्दी-गद्य के कुछ अन्य रूपों का भी सुन्दर विकास हुआ है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) गद्य-काव्य—

वर्त्तमान युग में अनेक लेखकों ने भावपूर्ण शैली में सुन्दर गद्य-काव्यों की रचना की है। इनमें भावों को संक्षिप्त और कलापूर्ण ढंग से उपस्थित किया जाता है; इसमें प्राय: प्रकृति, भक्ति और प्रेम को लेकर भाव-वर्णन किया जाता है। इस धारा की रचनाओं में श्री चतुरसेन शास्त्री की 'अन्तस्तल', श्री रायकृष्णदास की 'साधना' और 'प्रवाल', श्री वियोगी हरि की 'अन्तर्नाद', डा. रामकुमार वर्मा की 'हिम-हास', श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'साहित्य-देवता' और श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया की 'स्पन्दन' तथा 'उन्मन' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

(२) जीवनी, संस्मरण तथा आत्म-कथा—

आधुनिक युग में लेखकों ने इस दिशा में भी सराहनीय प्रगति की है। साहित्य के तीनों ही अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी-लेखकों ने इन्हें एक ओर तो स्वतन्त्र लेखों के रूप में विकसित किया है और दूसरी ओर इनमें से प्रत्येक के क्षेत्र में सुन्दर ग्रंथों की भी रचना की है। इस दृष्टि से श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, डा० श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं।

(३) पत्र-पत्रिकाएँ—

हिन्दी गद्य को प्रौढ़ता प्रदान करने में पत्र-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस समय हिन्दी में साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक आदि विविध विषयों को लेकर पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। इन सभी पत्रों में हिन्दी-गद्य को विषय के अनुसार स्वच्छ रूप में उपस्थित किया जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी में कुछ ऐसी पत्रिकाओं का प्रकाशन भी होता है जिनका गद्य-रचना की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, किन्तु इस स्थान पर हमारा तात्पर्य केवल श्रेष्ठ पत्रिकाओं से ही है। इस प्रकार की पत्रिकाओं में 'आजकल', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', 'सरस्वती', 'अवन्तिका' आदि उल्लेखनीय है।

: २४ :

हिन्दी-कहानी का विकास

भारतवर्ष में कहानी के प्रथम चिह्न हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले 'इन्द्रसूक्त', 'दशराज सूक्त' और 'यम-यमी-संवाद' इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। इन कथाओं में मानव-जीवन की सरल अभिव्यक्ति और रूपक के संयोजन पर विशेष ध्यान दिया गया है। वैदिक कथाओं के बाद 'ऐतरेय ब्राह्मण' आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में उस समय के सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ उत्कृष्ट कथाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में भी दार्शनिक तत्त्वों को स्पष्ट करने के लिए कुछ कथाओं को सम्मिलित किया गया है। इनमें 'कठोपनिषद्' की यम और नचिकेता की कथा तथा 'केनोपनिषद्' की यक्ष-कथा विशेष उल्लेखनीय हैं।

इसके उपरान्त हमारे समक्ष महाभारत की कहानियाँ आती हैं। इनमें उस समय के जन-जीवन और दार्शनिक विचारधारा को सरल और स्वच्छ रूप में व्यक्त किया गया है। इसी समय पुराणों में प्राप्त होने वाली सामाजिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक और शिक्षाप्रद कहानियों की रचना की गई। कुछ समय पश्चात् बौद्धों ने अपनी प्रसिद्ध जातक कथाओं की रचना की। इनमें महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इनके द्वारा हमें नैतिक और धार्मिक सजगता की प्राप्ति होती है। इन कथाओं में कुछ प्रासंगिक कथाओं का भी समावेश हुआ है। ये बौद्धकालीन भारत का स्पष्ट चित्रण करती हैं।

जातक कथाओं की भाँति 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की कथाएँ भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। इन कथाओं में आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। ये पाठक को चरित्र-बल प्रदान करने वाली हैं। इनके अतिरिक्त 'बृहत्कथा', 'कथा-सरित्सागर', 'शुकपंचविंशति' और 'वेतालपंचविंशति' आदि ग्रन्थों में भी उत्कृष्ट कथाएँ मिलती हैं। इस प्रकार हमने देखा कि संस्कृत में कथा-साहित्य की एक निश्चित और सुदृढ़ परम्परा है। आगे चलकर प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के कथा-साहित्य में इस परम्परा को साहित्यिक और

लौकिक, दो प्रकार की कथाओं के सृजन द्वारा इसी रूप में विकासमग्न रखा गया है।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त हिन्दी के कथा-साहित्य की प्रगति पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक हो जाता है। हिन्दी-साहित्य में कहानी का प्रारम्भ काफी विलम्ब से हुआ। इस दिशा में हमें सर्वप्रथम रचना सैयद इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' मिलती है। इसकी रचना सम्वत् १८६० के लगभग हुई थी और भाषा तथा भाव, दोनों ही की दृष्टि से यह हमारे समक्ष एक मौलिक रूप उपस्थित करती है। इसके उपरान्त हमारे समक्ष राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की एक अद्भुत और अपूर्व 'स्वप्न' शीर्षक रचनाएँ आती है, किन्तु हिन्दी की प्रथम उल्लेखनीय कहानी श्री किशोरीलाल गोस्वामी की इन्दुमती' है। कुछ समय पश्चात् श्री रामचन्द्र शुक्ल की, 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'बंग महिला' की 'दुलाई वाली' शीर्षक कहानियाँ प्रकाशित हुई। इस प्रकार हिन्दी-कहानी का निश्चित सूत्रपात हो गया। आगे हम हिन्दी के प्रारम्भिक प्रमुख कहानी-लेखकों की कहानी-कला की चर्चा करेंगे।

(१) प्रेमचन्द—

मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में क्रान्ति लाने वाले प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने हिन्दी में अनेक श्रेष्ठ सामाजिक, राजनैतिक और ग्राम-जीवन से सम्बन्धित कहानियों की रचना की है। उनकी कहानियों का संग्रह उनकी आठ भागों में प्रकाशित 'मानसरोवर' नामक रचना में हुआ है। उनसे पूर्व हिन्दी का कथा-साहित्य बिखरी हुई अवस्था में था। उन्होंने सौ से अधिक मौलिक कहानियों की रचना द्वारा उसे एक निश्चित गति प्रदान की। इस प्रकार उन्होंने भविष्य के कथा-लेखकों के लिए अनेक नवीन विषय उपस्थित कर दिए। उनकी भाषा-शैली सरल और स्वाभाविक है और उनकी कहानियों में बनावट को स्थान नहीं मिला है।

(२) जयशंकर प्रसाद—

प्रसादजी ने भारतीय इतिहास और संस्कृति को लेकर हिन्दी में कुछ मौलिक कहानियों की रचना की है। वह कवि थे अतः उनकी कहानियों पर

भी कविता की छाप रही है। संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण कहानियों की रचना करने में वह कुशल थे। उनकी कहानियों की भाषा 'साहित्यिक हिन्दी' है और कहीं-कहीं वह कठिन भी हो गई है। उनके 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्र-जाल' नामक कहानी-संग्रह प्राप्त होते है।

(३) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—

गुलेरीजी ने अपनी कहानियों में कहानी के सभी तत्त्वों का सुन्दर समावेश किया है। उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी रहा है। यद्यपि उन्होंने हिन्दी में अधिक कहानियाँ नहीं लिखी है, किन्तु फिर भी कहानी-लेखकों में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी कहानियों में मार्मिकता और स्वाभाविकता के समावेश का लगातार ध्यान रखा है। इस दृष्टि से उनकी 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(४) विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—

कौशिकजी ने अपनी कहानियों में परिवार में घटित होने वाली घटनाओं का चित्रण किया है। उनकी शैली स्वाभाविक है और उन्होंने अपनी कहानियों को आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित किया है। उनकी भाषा सरल है और शैली के प्रवाह को लगातार बनाए रखा गया है।

प्रेमचन्द-युग के अन्य लेखकों में श्री जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में हास्यरस को स्थान प्राप्त हुआ है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण उत्पन्न स्थूल हास्य को उपस्थित करने में वह अत्यन्त कुशल है। इस समय के ही एक अन्य कहानीकार राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने सामाजिक कहानियों को सुन्दर रूप में उपस्थित किया है।

ऐतिहासिक कहानियाँ

हिन्दी में ऐतिहासिक कहानियों के क्षेत्र में बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने इतिहास की अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध घटनाओं को लेकर सुन्दर और भावपूर्ण कहानियों की रचना की है। उनके अतिरिक्त श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी अनेक खोजपूर्ण ऐतिहासिक कहानियों की रचना की है। उनकी कहानियों में सृष्टि के प्रारम्भ की स्थितियों का भी

सजीव वर्णन प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उनका 'वोल्गा से गंगा' शीर्षक कहानी-संग्रह पढ़ने योग्य है। श्रीयुत शिवपूजन सहाय की कुछ कहानियाँ भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही लिखी गई है। इनके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन शास्त्री, सुश्री विमला देवी आदि कुछ अन्य लेखकों ने भी इस ओर विशेष रुचि दिखाई है।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ

इस प्रकार की कहानियाँ प्रायः सामाजिक जीवन से सम्बन्धित रहती हैं। इनमें मनोविज्ञान का विशेष रूप से आधार लिया जाता है। इस दृष्टि से सर्वश्री जैनेन्द्र कुमार, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में मन की उलझी हुई ग्रन्थियों को मनोविज्ञान की सहायता से सुलझाने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। मानव-मन के सहज विकास को उपस्थित करने के कारण ये कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। इसी प्रकार श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री सियारामशरण गुप्त ने भी अपनी कहानियों में मनोविज्ञान और चरित्र-चित्रण को मिलाकर उपस्थित किया है। उनकी कहानियों में भावों की सरलता और स्पष्टता का श्रेष्ठ निर्वाह किया गया है।

प्रगतिवादी कहानियाँ

वर्त्तमान युग में साम्यवादी दृष्टिकोण को लेकर अनेक लेखकों ने प्रगतिवादी कहानियों की भी रचना की है। इस प्रकार की कहानियाँ लिखने वालों में सर्वश्री यशपाल, रांगेय राघव, धर्मवीर 'भारती', मन्मथनाथ गुप्त और कृष्णचन्द्र मुख्य हैं। इस प्रकार की कहानियाँ जन-जीवन का अत्यन्त निकट से चित्रण करती हैं। इनमें मजदूरो के हितों की रक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। इनमें से कुछ कहानियाँ तो गरीबी और अभावों का चित्रण करने के कारण अत्यन्त ही प्रभावशाली बन पड़ी हैं। कुछ कहानियों में सरकार और पूँजीपतियों की बुराई करने में आवश्यकता से अधिक उग्रता का सहारा लिया गया है। इससे लेखकों के दृष्टिकोण में सन्तुलन की कमी का आभास मिलता है।

उपसंहार

वर्त्तमान युग में कहानियों की प्रगति मुख्य रूप से पत्र-पत्रिकाओं में

प्रकाशित कथा-साहित्य द्वारा हो रही है। हिन्दी में कहानी-संग्रह उपस्थित करने वाली पुस्तकों का प्रकाशन अब लगभग बन्द हो गया है। अतः हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ अब प्रायः पत्रिकाओं में झलक दिखाने के बाद फिर दिखाई नहीं देतीं। कहानी-साहित्य की प्रगति में आज सबसे बड़ी बाधा यही है। पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों की अधिकता के कारण एक ओर जहाँ अनेक विषयों को लेकर कहानियाँ लिखी गई हैं वहाँ दूसरी ओर अनेक ऐसी कहानियाँ भी लिखी गई है, जिनका उद्देश्य केवल सस्ता मनोरंजन प्रदान करना होता है। इस प्रकार की कहानियों का कुछ भी स्थायी मूल्य नहीं होता।

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी के कहानीकारों ने राजनीति-विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र आदि अनेक नवीन विषयों को लेकर कहानियाँ लिखी हैं। इस समय साहित्य के अन्य अंगों को लिखने वालों की अपेक्षा हिन्दी में कहानियों के लेखक अधिक है। इस दृष्टि से श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पहाड़ी, 'अंचल', विष्णु प्रभाकर, देवीप्रसाद धवन, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि अनेक लेखकों ने सुन्दर और महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी है। कहानी-रचना के क्षेत्र में महिलाओं ने भी उल्लेखनीय प्रगति की है और श्रीमती शिवरानी देवी, होमवती, कमला चौधरी, सत्यवती मल्लिक तथा उषादेवी मित्रा ने अनेक सुन्दर पारिवारिक कहानियाँ लिखी है। इस समय लघु कथाएँ लिखने की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। इस दृष्टि से श्री धर्मवीर 'भारती' और श्री रावी की कहानियाँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

: २५ :

हिन्दी-एकांकी का विकास

'एकांकी' से हमारा तात्पर्य एक ही अंक मे समाप्त हो जाने वाले उस नाटक से है जिसका रंगमंच पर अभिनय किया जा सके। आधुनिक युग में गद्य का प्रारम्भ होने पर लेखकों का ध्यान एकांकी नाटकों की रचना की ओर

भी गया। उस समय अंग्रेजी में इस प्रकार के नाटकों का अच्छा प्रचार हो रहा था। अतः उनकी उपयोगिता को देखते हुए हिन्दी में भी उनकी रचना होने लगी। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी-एकांकी ने पश्चिम की एकांकी-कला से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी केवल उसी का आधार नहीं लिया है। वास्तव में हिन्दी-एकांकी का मूल आधार संस्कृत में प्राप्त होने वाला एकांकी-साहित्य है। संस्कृत-साहित्य में रूपक के अंक, व्यायोग, भाण, प्रहसन तथा वीथी आदि अनेक उपभेद मिलते हैं। इन सबकी रचना एक ही अंक में की जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृत में एकांकी नाटकों के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। संस्कृत में एकांकी नाटकों की रचना करने वाले व्यक्तियों में महाकवि भास का प्रमुख स्थान है। उनका 'रसभंग' शीर्षक एकांकी और नाटककार नीलकंठ का 'कल्याण सौगन्धिक' शीर्षक एकांकी संस्कृत-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

हिन्दी में एकांकी नाटकों की रचना की ओर सर्वप्रथम भारतेन्दु-युग के लेखकों ने ध्यान दिया था। इस समय के लेखकों ने प्रायः ईश्वर-भक्ति, समाज-सुधार और राष्ट्रीयता को लेकर एकांकी नाटकों की रचना की है। इनकी रचना-शैली वर्तमान समय में लिखे जाने वाले एकांकी नाटकों की शैली से भिन्न है। इस समय एकांकी नाटकों में जिन तत्त्वों के समावेश को आवश्यक माना जाता है, उनके आधार पर अध्ययन करने पर भारतेन्दु-युग की एकांकी कही जाने वाली रचनाओं को संक्षिप्त नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

भारतेन्दु-युग में लिखे गये इन संक्षिप्त नाटकों ने बाद में लिखे गये एकांकी नाटकों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। इनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति', 'धनंजय-विजय', 'अन्धेरनगरी' और 'विषस्य विषमौषधम्' आदि रचनाओं को लगभग एकांकी नाटक ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार श्री काशीनाथ खत्री ने 'सिंध देश की राजकुमारियाँ' और 'लव जी का स्वप्न' नामक ऐतिहासिक एकांकी लिखे है। श्री राधाचरण गोस्वामी की 'अमरसिंह राठौर', 'श्रीदामा' और 'सती चन्द्रावती' भी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त लाला श्रीनिवासदास का 'प्रहलाद चरित', 'प्रेमघन' जी का 'प्रयाग रामागमन', पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक' और पं० अम्बिकादत्त

व्यास का 'कलियुग और घी' भी उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' भी इसी प्रकार का एकांकी नाटक है।

हिन्दी के एकांकी-साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' की 'एक घूंट' शीर्षक सम्वाद-प्रधान रचना से होता है। एकांकी के प्रारम्भिक युग की स्थिति सन् १९२९ से सन् १९४५ तक रही। इसके पश्चात् एकांकी-रचना के क्षेत्र में अनेक नवीन प्रयोग किए गए। इनमें से कुछ अब भी अपनी प्रयोगकालीन भूमिका में ही हैं। वैसे हिन्दी के एकांकी-साहित्य पर हम एक ओर बंगला के बाबू द्विजेन्द्रलाल राय तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अंग्रेजी के इब्सन और बर्नार्ड शा की कला के प्रभाव को स्पष्ट लक्षित कर सकते हैं। आगे हम हिन्दी के प्रमुख एकांकी लेखकों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१) डॉ० रामकुमार वर्मा—

वर्माजी का जन्म सम्वत् १९६२ में मध्य-प्रदेश के सागर नामक स्थान पर हुआ था। नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने कविता के क्षेत्र में रहस्यवाद के सूक्ष्म भावों से युक्त मधुर गीतों की रचना द्वारा भी पर्याप्त यश प्राप्त किया है। हिन्दी के एकांकी लेखकों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने अपने 'बादल की मृत्यु' शीर्षक प्रथम एकांकी नाटक की रचना सम्वत् १९८७ में की थी। तब से अब तक वह 'पृथ्वीराज की आँखें', 'कौमुदी महोत्सव', 'रेशमी टाई', 'सप्त किरण', 'चारुमित्रा', 'रूपरंग', और 'विभूति' आदि अनेक एकांकी संग्रह प्रस्तुत कर चुके हैं। एकांकी नाटक के क्षेत्र में वर्माजी की स्थिति हिन्दी के अन्य एकांकीकारों की अपेक्षा कुछ भिन्न है। काव्य के इस अंग के साथ-साथ उनकी कविता और आलोचना की ओर भी गति रही है। इस कारण उनके एकांकियों में एक ओर तो काव्य की सरसता मिलती है और दूसरी ओर आलोचक की पैनी दृष्टि से युक्त होने के कारण उन्होंने उसे एक विशेष निखार भी प्रदान किया है। उनके एकांकी नाटकों में अभिनय में सहायक विविध तत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है। सरलता से युक्त होने के कारण उनके एकांकी नाटक पर्याप्त आकर्षक बन पड़े हैं। उनके सम्वाद अपनी सरसता द्वारा पाठकों के मन पर एक विशेष प्रभाव डालने वाले हैं। उन्होंने संकलनत्रय के निर्वाह का भी प्रायः ध्यान रखा है।

(२) श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'—

'प्रेमी' जी का जन्म सम्वत् १९६५ में ग्वालियर के गुना नामक स्थान पर हुआ था। उन्होंने हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट ऐतिहासिक एकांकी नाटकों की रचना की है। उनके एकांकी मुख्य रूप से भारतीय इतिहास के राजपूत-युग पर आधारित रहे हैं। वैसे उन्होंने कुछ सामाजिक एकांकी नाटकों की भी रचना की है। यद्यपि उन्होंने बड़े नाटकों की रचना ही अधिक मात्रा में की है, किन्तु उनकी 'बादलों के पार' शीर्षक रचना में एकांकी नाटकों का भी सुन्दर संग्रह मिलता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथार्थ की उग्रता के स्थान पर आदर्श के कल्याणकारी रूप की स्थापना की ओर अधिक ध्यान दिया है। उनके एकांकी नाटकों में प्रायः वीर रस का समावेश हुआ है। अतः उनका अध्ययन करते समय पाठक को लगातार उत्साह प्राप्त होता रहता है। यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने पाठकों को जन्मभूमि के सम्मान का पाठ पढ़ाकर उन्हें देश-भक्ति की ओर ले जाने की अधिकाधिक चेष्टा की है। उन्होंने अपने एकांकी नाटकों में जीवन के सत्य का सुन्दर प्रतिपादन किया है। उन्होंने उनमें राष्ट्रीयता के समावेश का निरन्तर ध्यान रखा है। कला की दृष्टि से भी उनके एकांकी नाटक अन्य नाटककारों की रचनाओं से अधिक सरल बन पड़े हैं।

(३) सेठ गोविन्ददास—

सेठजी ने सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक एकांकी नाटकों की रचना की है। उन्होंने उनमें जीवन के विविध पक्षों का सुन्दर चित्रण किया है और आदर्शवाद को ग्रहण करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। कला की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में अनेक सफल प्रयोग किए हैं। इस दिशा में उन्होंने एक ओर तो एकपात्री एकांकी नाटकों की सफल रचना की है और दूसरी ओर उनमें दृश्यों को शीघ्र बदलने का भी सफल प्रयोग किया है। उन्होंने अपने एकांकी नाटकों में पूर्व और पश्चिम की एकांकी-कला को मिलाकर उपस्थित किया है और उनका सरलता से अभिनय किया जा सकता है। उनके एकांकी-संग्रहों में 'सप्त-रश्मि', 'चतुष्पथ', 'स्पर्धा', 'एकादशी', 'नवरस' और 'पंचभूत' उल्लेखनीय है।

(४) श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—

'अश्क' जी का हिन्दी के एकांकी-लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज की समस्याओं के चित्रण पर विशेष बल दिया है। उनके एकांकी नाटकों में राजनीति, मनोविज्ञान और हास्य-व्यंग्य आदि विभिन्न विषयों को स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने एकांकी नाटकों को सुखान्त और दुःखान्त दोनों रूपों में उपस्थित किया है। उन्हें पढ़ने पर हम उनमें एक विशेष सजीवता, वेग और आकर्षण का अनुभव करते हैं। उनमें एकांकी-कला का पूर्ण निखार प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उनके 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे' और 'तूफ़ान से पहले' शीर्षक एकांकी-संग्रह अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं।

(५) श्री उदयशंकर भट्ट—

भट्टजी के एकांकी नाटकों का सम्बन्ध प्रायः सामाजिक और पौराणिक विषयों से रहा है। उनके अनेक एकांकी नाटकों में काव्य की सरसता का सुन्दर समावेश हुआ है। उन्होंने भावात्मक एकांकी नाटकों की सफल रचना की है। इसी प्रकार उनके रेडियो-नाटक भी अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर बन पड़े हैं। उन्होंने अपने एकांकी नाटकों को अधिकतर दुःखान्त रखा है। उनमें मानव-जीवन को स्पष्ट रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। कला की दृष्टि से भी उनके एकांकी नाटक सरल, प्रभावशाली तथा रंगमंच पर अभिनय के योग्य बन पड़े हैं। अब तक उनके 'अभिनव में एकांकी नाटक', 'अंधकार और प्रकाश', 'समस्या का अन्त', 'स्त्री का हृदय', 'आदिम युग' और अन्त में 'धूमशिखा' नामक एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

(६) श्री जगदीशचन्द्र माथुर—

माथुरजी ने ऐतिहासिक और सामाजिक एकांकी नाटकों की सफल रचना की है। उनका 'भोर का तारा' शीर्षक एकांकी-संग्रह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उन्होंने अपने एकांकियों में एकांकी-कला का अत्यन्त सुन्दर रीति से निर्वाह किया है। उन्होंने अपने पात्रों को व्यर्थ का विस्तार प्रदान नहीं किया है और उनके सम्वादों को संक्षिप्त रखा है। उनके सभी एकांकी नाटकों का सफलता-पूर्वक अभिनय किया जा सकता है। उनके रेडियो-नाटक भी कला की दृष्टि से अत्यन्त निखरे हुए रूप में प्राप्त होते हैं।

(७) श्री विष्णु प्रभाकर—

विष्णुजी हिन्दी के आदर्शवादी एकांकीकार हैं। उन्होंने स्वोक्ति, ध्वनि-नाट्य और रेडियो रूपक आदि एकांकी के विभिन्न रूपों की सफल रचना की हैं। उनके 'इनसान' और 'क्या वह दोषी था ?' शीर्षक एकांकी-संग्रह प्राप्त होते है। उन्होंने अपने एकांकी नाटकों में वर्त्तमान सामाजिक जीवन की समस्याओं का सफल चित्रण किया है। उन्होंने उनमें मनोविज्ञान के आधार पर मानव-जीवन को अत्यन्त गहराई के साथ उपस्थित किया है।

उपर्युक्त प्रमुख एकांकीकारों के अतिरिक्त हिन्दी में सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, भुवनेश्वर, सुदर्शन, गोविंदवल्लभ पंत, यज्ञदत्त शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, सत्येन्द्र शरत्, पृथ्वीनाथ शर्मा तथा गणेशप्रसाद द्विवेदी ने भी श्रेष्ठ एकांकी नाटकों की रचना की है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक लेखकों ने एकांकी नाटकों की परम्परा में योग दिया है। ग्राम-जीवन को लेकर एकांकी नाटक लिखने वालों में श्री राजाराम शास्त्री और उर्मिला कुमारी गुप्ता ने पर्याप्त कार्य किया है। वर्त्तमान युग में हिन्दी के एकांकी-साहित्य का लगातार विस्तार हो रहा है। इस समय हिन्दी में रेडियो रूपक और रंगमंच पर अभिनय के लिए उपयोगी एकांकी नाटकों की पर्याप्त मात्रा में रचना की जा रही है।

: २६ :

हिन्दी का निबन्ध-साहित्य

गद्य के अभाव के कारण आधुनिक युग से पूर्व निबन्ध-साहित्य का विकास न हो सका था। नाटक, उपन्यास आदि अन्य गद्य रचनाओं की भाँति निबन्ध का प्रारम्भ भी भारतेन्दु-युग में ही हुआ। इस युग के निबन्ध-लेखकों में सर्व-श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास और पं० अम्बिकादत्त व्यास प्रमुख हैं। इन लेखकों ने अपने नबन्धों को सर्वप्रथम पत्र-साहित्य में प्रकाशित किया। इन पत्रों में 'हिन्दी-प्रदीप'

'कविवचन-सुधा', 'आनन्द-कादम्बिनी' और 'ब्राह्मण' मुख्य हैं। भारतेन्दु-युग के निबन्धों में विषय की दृष्टि से राजनीति, समाज-सुधार, धर्म और कुछ भाषा-सम्बन्धी समस्याओं को विशेष रूप से अपनाया गया है। गद्य-विकास की प्रारम्भिक स्थिति होने के कारण इस समय के निबन्धों में वर्णनात्मकता का विशेष आग्रह रहा है। इनमें गम्भीरता के स्थान पर उक्ति-कौशल को भी अनेक स्थानों पर स्वीकार किया गया है। इसी कारण लेखकों ने 'आप' और 'दाँत' जैसे निबन्धों की सजीवतापूर्ण रचना की है और उनमें आत्मीयता का समावेश किया है। यह सत्य है कि इस युग के निबन्धों में भाषा-शैली की प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते और व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों की इनमें पर्याप्त स्थिति रही है, तथापि विषयों की सामयिक और हास्य-विनोदपूर्ण चर्चा के कारण इनका विशेष महत्त्व है।

भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों में बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा 'प्रेमघन' जी ने भाषा-परिष्कार का ध्यान रखते हुए साधारणतः उत्तम निबन्धों की रचना की है। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने स्वदेश-भक्ति तथा समाज-सुधार-सम्बन्धी अनेक निबन्धों की रचना की है। उनके 'वृद्ध' तथा 'भौं' आदि निबन्धों में व्यंग्य का भी समावेश हुआ है। पं० बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में भाषा की विशेष सजीवता प्राप्त होती है। उन्होंने अपनी भाषा में अंग्रेजी और फारसी के शब्दों का भी समावेश किया है। भारतेन्दु-युग के उपरान्त हिन्दी-निबन्ध के विकास में द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। इस युग के निबन्ध-लेखकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री गोपालराम गहमरी, श्री ब्रजनन्दन सहाय तथा पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी मुख्य हैं। इस युग के निबन्धों में सामान्यतः निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) भाषा-सुधार—

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा की अशुद्धियों और व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों का प्रबल विरोध किया। अत. द्विवेदी-युग के निबन्धों की भाषा भारतेन्दु-युग की भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत है।

(२) विषय-विस्तार—

ज्ञान-विस्तार के कारण द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग के निबन्धों में स्वीकृत

विषयों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा पुरातत्त्व आदि नवीन विषयों को भी ग्रहण किया गया। इस प्रकार इन निबन्धों में जीवन की बहुमुखी चेतना को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

(३) शैली-सुधार—

द्विवेदी-युग में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक तथा भावात्मक, सभी प्रकार के निबन्धों की रचना की गई। इनमें इनके उपयुक्त व्यास शैली तथा समास शैली को यथास्थान ग्रहण किया गया है।

(४) निबन्धानुवाद—

इस युग में अन्य भाषाओं में लिखे गए गम्भीर विचारात्मक निबन्धों के अनुवाद की ओर ध्यान दिया गया। इस प्रकार के अनुवादों में बेकन के अंग्रेजी निबन्धों तथा चापलूणकर के मराठी निबन्धों के अनुवाद उल्लेखनीय है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग में हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का पर्याप्त विस्तार हुआ है। इस युग के निबन्ध-लेखकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सबसे मुख्य स्थान है। उन्होंने मौलिक और अनूदित, दोनों प्रकार के निबन्ध उपस्थित किये हैं। उनके निबन्ध प्राय: विचार-प्रधान रहे है और उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त व्यवस्थित भाषा का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं व्यंग्य और विनोद का पुट देकर उन्होंने उन्हें बोझिल होने से बचाये रखा है। अपने वर्णनात्मक निबन्धों में उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग किया है। इस युग के अन्य निबन्ध-लेखकों में पं० माधवप्रसाद मिश्र ने 'धृति' और 'क्षमा' आदि भावात्मक निबन्ध लिखे हैं। इसी प्रकार बाबू ब्रजनन्दनलाल ने भी सजीव और स्वाभाविक शैली में भावात्मक निबन्धों की रचना की है।

द्विवेदी-युग के पश्चात् हिन्दी में निबन्धों की व्यापक रचना की गई। इस युग में एक ओर तो निबन्धों के अनेक नवीन विषय सामने आए और दूसरी ओर हिन्दी-गद्य को एक निश्चित रूप प्राप्त हो गया। अत: बाद के लेखकों ने हिन्दी-निबन्ध का यथेष्ट विस्तार किया। आगे हम द्विवेदी-युग के बाद के प्रमुख निबन्ध-लेखकों की चर्चा करेंगे।

(१) बाबू श्यामसुन्दरदास—

बाबूजी ने साहित्यिक विचारात्मक निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों में साहित्य, कला तथा मानव-जीवन को सरल रीति से स्पष्ट किया

गया है। उनके निबन्धों में सूक्ष्म अध्ययन को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने उनमें अपने व्यक्तित्व का समावेश नहीं किया है। उनकी भाषा परिमार्जित और स्वच्छ है। उनके निबन्ध-आग्रहों में 'साहित्यिक लेख' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(२) सरदार पूर्णसिंह—

सरदार पूर्णसिंह भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे। अतः उन्होंने आध्यात्मिक और सामाजिक विषय से लेकर भावात्मक निबन्ध लिखे हैं। उनकी भाषा स्वाभाविक है तथा शैली काव्य-गुण से युक्त है। हिन्दी-जगत् में उनके 'आचरण की सभ्यता' और 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

(३) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्लजी ने विषय-प्रधान निबन्धों की रचना की है, किन्तु उनमें उनके व्यक्तित्व का सुन्दर समावेश हुआ है। उन्होंने उनमें बुद्धि और हृदय का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। उन्होंने प्रमुख रूप से साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों की रचना की है। इस दृष्टि से उनके 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध संग्रह के दोनों भाग पढ़ने योग्य है। उनके निबन्धों में गहन अध्ययन और विश्लेषण के दर्शन होते हैं। इसी कारण उन्होंने अनेक गम्भीर स्थायी महत्त्व वाले निबन्ध लिखे है। हिन्दी के निवन्ध-लेखकों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

(४) बाबू गुलाबराय—

गुलाबरायजी ने साहित्यिक, सामाजिक और दार्शनिक विषयों को लेकर निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्धों में विचार-तत्त्व और भाव-तत्त्व, दोनों को ही स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी भाषा-शैली सरल है और कहीं-कहीं उन्होंने उनमें गम्भीर साहित्यिक हास्य का भी समावेश किया है।

(५) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—

द्विवेदीजी ने विचारात्मक और गवेषणा से युक्त निबन्धों की रचना की है। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त उन्होंने समाज, धर्म और शिक्षा आदि अन्य विषयों पर भी सुन्दर निबन्ध लिखे है। इस दृष्टि से उनके 'अशोक के फूल' तथा 'विचार और वितर्क' शीर्षक निबन्ध-संग्रह उल्लेखनीय है। उनके निबन्धों में भावुकता और बौद्धिकता का सुन्दर समावेश हुआ है। भावों की दृष्टि से

मौलिक होने के अतिरिक्त भाषा-शैली की दृष्टि से भी उनके निबन्ध अत्यन्त आकर्षक बन पड़े हैं।

(६) डॉ० नगेन्द्र—

नगेन्द्रजी ने साहित्यिक विषयों पर विचारात्मक निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों में गम्भीर से गम्भीर विचारों को भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया गया है। शिष्ट हास्य-व्यंग्य का यथास्थान समावेश भी उनके निबन्धों की एक विशेषता है। उन्होंने साहित्य की आलोचना से सम्बन्धित निबन्धों में दैनिक जीवन के सम्भाषणों का समावेश कर उन्हें और भी आकर्षक बना दिया है। उनकी भाषा संस्कृतमयी है और शैली प्रवाहपूर्ण तथा पुष्ट है। उनके निबन्ध-संग्रहों में 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', शान्तिप्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्र, सियारामशरण गुप्त, डॉ० सत्येन्द्र तथा डॉ० रामविलास शर्मा आदि अनेक अन्य लेखकों ने भी उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की है। इन सभी लेखकों के निबन्धों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में निबन्धों की रचना लगातार व्यापक दृष्टिकोण को लेकर की जा रही है। इस दृष्टि से एक ओर तो निबन्ध लेखकों ने साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म तथा विज्ञान आदि विभिन्न विषयों को लेकर निबन्ध लिखे हैं और दूसरी ओर भाषा-शैली को भी प्रौढ़ आधार पर उपस्थित किया है।

: २७ :

हिन्दी-नाटक का विकास

गद्य-साहित्य के अन्य अंगों की भाँति हिन्दी में नाटक-रचना का प्रारम्भ भी भारतेन्दु-युग में ही हुआ। हिन्दी से पूर्व संस्कृत-साहित्य में अनेक नाटकों की

सफल रचना की गई थी। हिन्दी का सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाटक 'नहुष' है। इसकी रचना बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र गिरधरदास ने की थी। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' (कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद) नामक नाटक मिलता है। फिर हमारे सामने भारतेन्दुजी के 'भारत-दुर्दशा', 'नील नगरी', 'मुद्राराक्षस' इत्यादि अनेक मौलिक तथा अनूदित नाटक आते हैं। उन्होंने स्वयं श्रेष्ठ नाटक लिखने के साथ-साथ अपने युग के अन्य लेखकों को भी इस दिशा में प्रेरणा प्रदान की। उनके समाकालीन लेखकों में लाला श्री निवासदास ने 'संयोगिता-स्वयंवर' तथा 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'प्रेमघन' जी ने 'भारत-सौभाग्य', बाबू तोताराम ने 'केरो कृतान्त', ० प्रतापनारायण मिश्र ने 'गौसंकट नाटक', 'कलि प्रभाव' और 'हठी हमीर', पं० गदाधर भट्ट ने 'रेल का विकट खेल' और 'बाल-विवाह' तथा बाबू राधाकृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप' नामक नाटकों की रचना कर हिन्दी-नाटक के प्रारम्भिक विकास में सराहनीय योग प्रदान किया।

भारतेन्दु-युग में मौलिक नाटकों की रचना के अतिरिक्त सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण 'कविरत्न' तथा राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। इस युग के मौलिक नाटकों में देश-भक्ति और समाज-सुधार की भावनाओं को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इसके पश्चात् हिन्दी में पश्चिम के नाटकों के अनुवाद किए गए। इस दृष्टि से शेक्सपीयर और मोलियर (फ्रांस के नाटककार) के नाटकों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। विदेशी नाटकों का अनुवाद करने वाले लेखकों में लाला सीताराम का मुख्य स्थान है। उन्होंने शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया है, किन्तु इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है। इसी समय के आस-पास पं० रूपनारायण पाण्डेय ने बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के सुन्दर अनुवाद उपस्थित किए। इन नाटकों मे नाटक-कला को स्वस्थ रूप में उपस्थित किया गया है।

इस प्रकार हिन्दी में नाटक-रचना की एक निश्चित परम्परा की स्थापना हो गई, किन्तु जनता में नाटकों का व्यापक प्रचार अभी नहीं हुआ था। इस

आवश्यकता की पूर्ति पारसी नाटक कम्पनियों ने की । ये कम्पनियाँ विभिन्न लेखकों से नाटक लिखाकर उन्हें रंगमंच पर उपस्थित करती थीं । इन लेखकों में सर्वश्री नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा हश्र कश्मीरी और राधेश्याम कथावाचक मुख्य हैं । उन्होंने अपने नाटकों में भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और पुराणों की मुख्य घटनाओं को उपस्थित किया है । उन्होंने इनमें धर्म और नीति का स्थूल रूप में उल्लेख करते हुए इनमें मनोरंजन के तत्त्व को अधिक से अधिक स्थान देने का प्रयत्न किया है । इनमें साहित्यिकता का पर्याप्त अभाव रहा है, किन्तु हिन्दी-रंगमंच की स्थापना का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है ।

'प्रसाद' जी के नाटक

हिन्दी-नाटकों के प्रारम्भिक विकास की समाप्ति श्री जयशंकर प्रसाद के नाटकों से हुई । उन्होंने भारतवर्ष के गुप्त-युग के इतिहास को लेकर अनेक श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है । इस दृष्टि से उनके 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' नामक नाटक अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं । उन्होंने अपने नाटकों में बौद्ध धर्म का सुन्दर चित्रण किया है । नाटक-रचना के क्षेत्र में उन्होंने सर्वप्रथम मौलिकता और प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया । उनके नाटकों की भाषा-शैली कठिन और पूर्णतः साहित्यिक है । अनेक कारणों से उनके नाटकों को रंगमंच पर ज्यों का त्यों उपस्थित नहीं किया जा सकता, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका अपार महत्त्व है । प्रसादजी के बाद लिखे गये हिन्दी-नाटकों पर उनकी कला का व्यापक प्रभाव पड़ा है । आगे हम आधुनिक युग में लिखे गये विभिन्न प्रकार के नाटकों के स्वरूप को स्पष्ट करेंगे ।

(१) ऐतिहासिक नाटक—

प्रसादजी के बाद हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों के विकास को हम निम्नलिखित तीन उपवर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) पौराणिक नाटक—

इस प्रकार के नाटकों में इतिहास और पुराणों की घटनाओं को मिलाकर उपस्थित किया गया है । इनमें श्री उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा' और 'सगर-विजय' शीर्षक नाटक उल्लेखनीय हैं ।

(ख) सांस्कृतिक नाटक—

इस वर्ग के अन्तर्गत हम उन नाटकों को रखेंगे जो भगवान् बुद्ध से लेकर सम्राट् हर्षवर्धन तक के समय को लेकर लिखे गए हैं। इन सभी नाटकों में आर्य-संस्कृति के पूर्ण विकास को चित्रित किया गया है। इस कारण इनमें एक ओर तो सेवा और प्रेम द्वारा शान्ति की स्थापना पर बल दिया गया है और दूसरी ओर उपभोग और संयम में समन्वय की स्थापना की गई है। इन नाटकों की रचना भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग के आधार पर की गई है। अतः इनमें उस समय के वैभव का पूर्ण उल्लेख हुआ है। हिन्दी में इनकी रचना उस समय हुई थी जब काव्य के क्षेत्र में छायावाद को मुख्य स्थान प्राप्त था। यही कारण है कि इनमें जीवन की सूक्ष्मता, मधुरता और करुणा का सुन्दर चित्रण हुआ है। इस वर्ग के नाटकों में श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकर के 'अशोक' और 'रेवा', सेठ गोविन्ददास के 'शशिगुप्त' और 'हर्ष', श्री जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'वत्सराज' तथा 'वितस्ता की लहरें' उल्लेखनीय नाटक हैं।

(ग) मध्य-युग के इतिहास के नाटक—

इस प्रकार के नाटकों का सम्बन्ध भारतीय इतिहास के राजपूत-युग से रहा है। इनमें ओजपूर्ण राष्ट्रीयता और नैतिकता को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इनमें जीवन के स्थूल सत्यों को आदर्शवादी रीति से उपस्थित किया गया है। इनमें पात्रों को स्वतन्त्र रीति से अपने चरित्र का विकास करने का अवसर नहीं मिला है। इस प्रकार के नाटकों की रचना मुख्य रूप से श्री हरि-कृष्ण 'प्रेमी' ने की है। इस दिशा में उनके 'रक्षाबन्धन', 'शिवा-साधना' और 'स्वप्न-भंग' नाटक उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग के अन्य नाटकों में श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', श्री उदयशंकर भट्ट का 'दाहर' और सेठ गोविन्ददास के 'शेरशाह' और 'कुलीनता' शीर्षक नाटक भी सराहनीय बन पड़े हैं।

(२) सामाजिक नाटक—

वर्त्तमान युग में विभिन्न सामाजिक समस्याओं को लेकर अनेक नाटकों की रचना की गई है। पश्चिम में इब्सन और बर्नार्ड शॉ से प्रभावित होकर अनेक

लेखकों ने समस्या-नाटकों की रचना की थी। हिन्दी में समस्या-नाटक लिखने वालों ने इस नाटक-साहित्य से भी पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की। इन नाटकों में जीवन के वास्तविक सत्य को प्रकट किया गया है। इसके लिए इनमें केवल आधुनिक जीवन को ही ग्रहण किया गया है। इनमें कल्पना और भावुकता के स्थान पर तर्क, बुद्धि और विवेक का सहारा लेकर वर्त्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान किया गया है। इनमें संस्कृत-नाटकों में प्राप्त होने वाली 'आकाश-भाषित', नियत श्राव्य' और 'अश्राव्य' जैसी अस्वाभाविक बातों को छोड़कर नाटकों को वर्त्तमान जीवन के अधिक से अधिक पास लाने का प्रयास किया गया है। इन नाटकों में प्राय: वर्त्तमान युग की आर्थिक और काम-वासना सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन हुआ है। इनकी रचना मनोविज्ञान के आधार पर की गई है और इनकी शैली में स्वतन्त्र-कथन, व्यंग्य तथा कटु उक्तियों का समावेश हुआ है। हिन्दी में दो प्रकार के समस्या-नाटक लिखे गए हैं—

(क) व्यापक समस्याओं वाले नाटक—

इस प्रकार के नाटकों में समाज, राजनीति और अर्थ (धन) की समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का चित्रण रहता है। ये समस्याएँ पूरे समाज से सम्बन्ध रखती हैं।

(ख) व्यक्तिगत समस्याओं वाले नाटक—

इन नाटकों में व्यक्ति-विशेष की आर्थिक और काम-वासना-सम्बन्धी समस्याओं का चित्रण किया जाता है।

हिन्दी में इन दोनों प्रकार की समस्याओं को लेकर मुख्य रूप से पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नाटक लिखे हैं। उनके इस प्रकार के नाटकों में 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग' और 'सिन्दूर की होली' मुख्य हैं।

(३) शैली-प्रधान नाटक—

इस प्रकार के नाटकों में कथानक और उद्देश्य की अपेक्षा नाटकीय शैली पर अधिक ध्यान दिया गया है। हिन्दी में इनके निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

(क) नाट्य रूपक—

इनमें नाटकीय सम्वादों को कविता की भाँति भावमय रूप में उपस्थित किया जाता है। श्री जयशंकर प्रसाद की 'कामना', श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'ज्योत्स्ना', पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'छलना' और सेठ गोविन्ददास की 'नवरस' शीर्षक रचनाएँ इसी प्रकार की हैं।

(ख) गीति-नाट्य—

इस प्रकार की रचना में नाटक को पद्य में लिखा जाता है। आवश्यकता होने पर इसमें कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से श्री उदयशंकर भट्ट की 'विश्वमित्र', 'मत्स्यगन्धा' और 'राधा' शीर्षक रचनाएँ; श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'शिल्पी' और 'रजत शिखर' शीर्षक कृतियाँ; श्री भगवतीचरण वर्मा की 'तारा'; और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' की 'स्वर्ण विहान' उल्लेखनीय 'गीति-नाट्य' रचनाएँ हैं।

(ग) एकांकी नाटक तथा रेडियो रूपक—

इस प्रकार के नाटकों की रचना एक ही अंक में की जाती है। रेडियो रूपक एकांकी नाटक का ही एक अंग विशेष है। हिन्दी में सर्वश्री रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट और विष्णु प्रभाकर ने इन दोनों की रचना में समान रूप से भाग लिया है।

अन्त में हम यह कह सकते है कि आधुनिक युग में नाटक साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ है। हिन्दी रंगमंच की स्थिति न होने से इसके विकास में बाधा पहुँचती थी, किन्तु अब यह कमी दूर होने लगी है और हिन्दी के नाटक साहित्य का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है।

: २८ :

हिन्दी-उपन्यास का विकास

हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास से होता है। इस उपन्यास में मौलिकता, रोचकता और

भाव-सौन्दर्य का प्रशंसनीय समावेश हुआ है। इस उपन्यास की रचना भारतेन्दु-युग में हुई थी। इस युग के अन्य उपन्यासों में पं० बालकृष्ण भट्ट के 'रतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान एक सुजान' और बाबू राधाकृष्ण के 'निस्सहाय हिन्दू' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। मौलिक उपन्यास लिखने की इस परम्परा का अधिक विकास न हो सका और उस समय के लेखक बंगला, उर्दू और अंग्रेजी से श्रेष्ठ उपन्यासों के हिन्दी में अनुवाद करने लगे। इनके अनुवादकों में बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री एवं पं० रूपनारायण पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय हैं; इन अनुवादों ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को विकास की ओर ले जाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

इसके पश्चात् हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की रचना करने वालों में बाबू गोपालदास गहमरी, बाबू देवकीनन्दन खत्री, पं० किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू लज्जाराम मेहता के नाम उल्लेखनीय हैं। गहमरीजी ने मुख्य रूप से जासूसी उपन्यास लिखे है, किन्तु उनके कुछ उपन्यासों का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से भी है। उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना सरल भाषा और प्रवाह-पूर्ण शैली में की है और उनमें घटनाओं की विचित्रता तथा मनोरंजन का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता-संतति', 'भूतनाथ' और 'कुसुम-कुमारी' आदि उपन्यासों की रचना की है। इनमें रस तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं मिलती। इनमें तिलस्म और जासूसी से सम्बन्धित घटनाओं को मुख्य स्थान दिया गया है। इनकी भाषा-शैली का स्तर साधारण है। इनकी रचना केवल स्थूल मनोरंजन के लिए की गई है।

पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने हिन्दी में श्रेष्ठ मौलिक उपन्यासों की सर्वप्रथम रचना की। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को लेकर 'चपला', 'तारा', 'लखनऊ की कब्र' आदि मौलिक उपन्यास लिखे हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में रंगीन कथाओं द्वारा स्थूल आदर्शवाद तथा नैतिकता के वातावरण को उपस्थित किया है। उनकी वर्णन-शैली मनोरंजक है, किन्तु पात्रों का चरित्र-विकास उपस्थित करने में वह प्रायः असफल रहे हैं। हिन्दी-उपन्यास के इस प्रारम्भिक युग की समाप्ति पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा बाबू ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यासों से होती है। 'हरिऔध' जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखे है। ये दोनों सामाजिक उपन्यास है

और इनमें आदर्शवादी विचारधारा को उपस्थित किया गया है। इनकी विशेषता यह है कि इनकी रचना ठेठ हिन्दी भाषा में हुई है। बाबू ब्रजनंदन सहाय ने 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त' नामक उपन्यास लिखे हैं। ये दोनों स्वच्छ शैली में लिखे गए भाव-प्रधान उपन्यास हैं।

प्रेमचन्दजी के उपन्यास

प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को विकास प्रदान करने में सर्वप्रथम व्यापक योग प्रदान किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में आदर्शवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए मानव-जीवन के यथार्थ स्वरूप का चित्रण किया है। इस विचार-धारा को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। इस विषय में उन्होंने महात्मा गांधी और कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को मिलाकर उपस्थित किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में मानवतावाद की स्थापना की है और वर्त्तमान युग की विभिन्न समस्याओं का उसी के आधार पर अध्ययन किया है। उन्होंने उनमें नीति की अनेक सुन्दर उक्तियों का समावेश किया है, किन्तु उनमें जीवन की पूरी गहनता का कहीं-कहीं अभाव हो गया है। उन्होंने अपने प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी समस्या का चित्रण किया है। इस दृष्टि से उन्होंने 'रंगभूमि' में ग्रामीण और नागरिक जीवन के संघर्ष की समस्या का चित्रण किया है, 'कायाकल्प' में पुनर्जन्म की समस्या को उपस्थित किया है, 'निर्मला' में वृद्ध-विवाह की समस्या को उपस्थित किया है, 'गोदान' में कृषक-जीवन की समस्या को चित्रित किया है और 'ग़बन' में नारी के आभूषण-प्रेम की समस्या को व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकार

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों में सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भर नाथ शर्मा और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी इसी समय उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था और इस समय भी वे उपन्यास-साहित्य के विकास में योग दे रहे हैं। प्रेमचन्द की भाँति इन सभी लेखकों ने उपन्यास को मानव-जीवन का चित्रण करने वाला माना है। इन्होंने अपने उपन्यासों में मानव-जीवन का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है। इन्होंने अपने युग के सामाजिक जीवन

का अध्ययन कर अपनी रचनाओं में विविध सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सुन्दर रीति से सुलझाया है, किन्तु 'उग्र' जी के उपन्यासों के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते ।

नवीन उपन्यास-साहित्य

हिन्दी साहित्य में उपन्यासों की रचना को प्रेमचन्द-युग में एक निश्चित गति प्राप्त हो गई थी। इसके पश्चात् हिन्दी-उपन्यासों की अनेक रूपों में रचना की गई । आगे हम इन विभिन्न रूपों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे—

(१) प्रेमचन्द की परम्परा के उपन्यास—

इस प्रकार के उपन्यासों में सुधारवादी दृष्टिकोण और सांसारिक जीवन की गति को मिलाकर उपस्थित किया जाता है । श्री भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती' और गुरुदत्त वैद्य के उपन्यास इसी प्रकार के हैं । इस युग में प्रेमचन्दजी की भाँति ग्रामीण जीवन का चित्रण कर उनका शुद्ध प्रतिनिधित्व श्री यज्ञदत्त शर्मा ने किया है । उनके 'परिवार', 'बाप-बेटी', 'इन्साफ', 'झुनिया की शादी' आदि उपन्यास इसी प्रकार के हैं । महिला-लेखिकाओं में श्रीमती उर्मिला कुमारी ने अपने 'वंश-वल्लरी' शीर्षक उपन्यास में ग्राम-जीवन का सफल चित्रण किया है ।

(२) शरत् से प्रभावित उपन्यास—

इस प्रकार के उपन्यासों में व्यक्ति के जीवन में उन्नति के लिए साधना को मुख्य स्थान दिया गया है । हिन्दी में इस प्रकार के उपन्यासों की रचना बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरत् के उपन्यासों के अध्ययन का परिणाम है । इस दृष्टि से श्री जैनेन्द्र और भगवतीप्रसाद वाजपेयी के अधिकांश उपन्यास तथा श्री सियारामशरण गुप्त का 'नारी' शीर्षक उपन्यास इसी प्रकार के हैं । जैनेन्द्रजी के उपन्यासों पर गांधीवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है ।

(३) मनोवैज्ञानिक उपन्यास—

इस प्रकार के उपन्यासों में मनोविज्ञान का आधार लेकर किसी एक व्यक्ति के जीवन की समस्याओं के चित्रण की ओर मुख्य ध्यान दिया जाता है । इस कारण इनमें अर्थ (धन) और काम-वासना से सम्बन्धित व्यक्तिगत समस्याओं

का अधिक चित्रण मिलता है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' शीर्षक उपन्यास और इलाचंद्र जोशी के 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' शीर्षक उपन्यास इसी प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ नवीन उपन्यासकार भी इस प्रकार के उपन्यासों की रचना कर रहे हैं।

(४) प्रगतिवादी उपन्यास—

इस प्रकार के उपन्यासों में मार्क्सवाद का आधार लेकर समाज-विकास को उपस्थित किया जाता है। अतः इनमें सम्पूर्ण समाज की राजनैतिक आर्थिक और काम-वासना सम्बन्धी समस्याओं का चित्रण रहता है। इस दृष्टि से सर्वश्री यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', कृष्णचन्द्र, रांगेय राघव, मन्मथनाथ गुप्त, श्रीमती माया मन्मथनाथ गुप्त, सर्वदानन्द वर्मा और 'अंचल' इस धारा के मुख्य उपन्यासकार हैं।

(५) ऐतिहासिक उपन्यासकार—

आधुनिक युग में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। इस दिशा में श्री वृन्दावनलाल ने सबसे अधिक कार्य किया है। उन्होंने 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी,' 'विराटा की पद्मिनी' आदि अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इन सभी में उन्होंने प्रायः बुन्देलखण्ड के मध्य-युग के इतिहास का सजीव चित्रण किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में चरित्र-विकास में असाधारण कौशल का परिचय दिया है। उनके उपरान्त ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में श्री राहुल सांकृत्यायन ने प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' आदि अनेक श्रेष्ठ उपन्यास लिखे हैं। उनके उपन्यास इतिहास के प्रारम्भिक युग पर आधारित है और उनमें आर्य संस्कृति से विशेष प्रेरणा ली गई है। उन्होंने उनमें मार्क्सवादी भावनाओं को भी अनिवार्य रूप से स्थान दिया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' शीर्षक उपन्यास का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें उन्होंने इतिहास और संस्कृति को मिलाकर उपस्थित किया है। इसकी भाषा-शैली की योजना में उन्होंने कलात्मक रुचि का स्पष्ट परिचय दिया है। उनके अतिरिक्त आधुनिक युग में श्री रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला', श्री चतुरसेन

शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू', श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' और श्री यादवचन्द्र जैन ने 'मल्ल-मल्लिका' शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है।

संक्षेप में आधुनिक युग में हिन्दी-उपन्यास के विकास की यही स्थिति है। इस समय हिन्दी में अनेक लेखक उपन्यासों की रचना कर रहे है। इन उपन्यासों में रस, मनोविज्ञान और कथा-योजन के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति की गई है। नवीन उपन्यासकारों में सर्वश्री धर्मवीर भारती, कमल शुक्ल, रजनी पनिक्कर और यादवचन्द्र जैन ने सराहनीय कार्य किया है। इस समय कुछ उपन्यासकार अपनी रचनाओं में काम-वासना को भड़काने वाले प्रसंगों का अधिक समावेश कर रहे है। हिन्दी उपन्यास की स्वस्थ प्रगति में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक बाधक है।

: २६ :

हिन्दी-आलोचना का विकास

'आलोचना' से हमारा तात्पर्य किसी साहित्यिक रचना का अध्ययन कर उसके गुण-दोष दिखाने से है। इसके लिए यह आवश्यक है कि आलोचक निष्पक्ष भाव मे रचना के सौन्दर्य का सूक्ष्म और स्वच्छ विश्लेषण उपस्थित करे। हिन्दी में आलोचना का प्रारम्भ और विकास प्रायः इसी युग में हुआ है। इससे पूर्व भक्ति काल में सर्वप्रथम सूत्र-रूप में समालोचना की प्रणाली मिलती है। इस प्रकार की आलोचना जनता में निम्नलिखित रूप में प्रचलित रहती थी—

सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

इसके अतिरिक्त भक्ति काल में 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता', और 'भक्तमाल' शीर्षक ग्रन्थों में उस समय के वैष्णव

भक्त कवियों की जीवनियों को उपस्थित किया गया है। इनमें उनके काव्य की आलोचना नहीं मिलती। इसके पश्चात् रीति काल में संस्कृत के काव्य-शास्त्र के आधार पर 'रस', 'अलंकार' आदि आलोचना के लिए आवश्यक अंगों का कथन किया गया है। इस दिशा में रीति काल में सर्वश्री केशवदेव, भूषण, मतिराम, चिन्तामणि, पद्माकर आदि अनेक आचार्यों ने रचनाएँ उपस्थित की हैं, किन्तु उनकी कृतियों में गम्भीर विश्लेषण के स्थान पर साधारण विवरण ही मिलते हैं। रीति काल के आचार्यों की इस असफलता का एक कारण तो यह है कि उस समय की परिस्थितियाँ आलोचना-साहित्य की रचना के लिए उपयुक्त नहीं थीं और दूसरा कारण यह है कि उस समय गद्य का अभाव था।

भारतेन्दु-युग

हिन्दी-आलोचना का प्रारम्भ वास्तव में भारतेन्दु-युग में ही हुआ। इससे पहले हिन्दी आलोचना का जो कुछ भी रूप प्राप्त होता है वह साधारण होने के साथ-साथ अधिक मौलिक भी नहीं है। भारतेन्दु-युग में सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने अपनी 'नाटक' नामक पुस्तक में शास्त्रीय आलोचना का आधार लिया है। यह संक्षिप्त होने पर भी अपनी मौलिकता के कारण महत्त्वपूर्ण है। उनके समकालीन लेखकों में 'प्रेमघन' जी ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रिका में अपने समय की पुस्तकों की समीक्षा की है। उन्होंने इन पुस्तकों के गुणों की अपेक्षा इनके दोषों की अधिक चर्चा की है। इसके अतिरिक्त इस युग में पं० बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी की उन्नति के सम्बन्ध में कुछ स्फुट निबन्ध लिखे हैं और पं० अम्बिकादत्त व्यास की बिहारी के काव्य पर एक समीक्षा की पुस्तक मिलती है।

द्विवेदी-युग

इस युग में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ही मुख्य आलोचक रहे हैं। उनके अतिरिक्त श्री बालमुकुन्द गुप्त और 'रत्नाकर' जी के भी कुछ आलोचना-सम्बन्धी निबन्ध मिलते हैं। द्विवेदीजी ने आलोचना की भाषा-शैली में गम्भीरता लाने पर बल दिया है। उन्होंने हिन्दी की अनेक मौलिक और अनूदित पुस्तकों की समीक्षा की है। वह भी रचना के गुणों की अपेक्षा उसके दोषों

की अधिक चर्चा किया करते थे। उनकी आलोचना निर्णयात्मक हुआ करती थी। 'रसज्ञ-रंजन' के कुछ निबन्धों में उन्होंने सैद्धान्तिक आलोचना का भी साधारण परिचय दिया है। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में 'रसज्ञ-रंजन', 'नैषध-चरित चर्चा' और 'हिन्दी-कालिदास' की आलोचना उल्लेखनीय हैं।

मिश्रबन्धु-युग

हिन्दी-अलोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने आलोचना के लिए उपस्थित रचना के गुणों और दोषों की ओर एक ही समान ध्यान दिया है। अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास को सर्वप्रथम सरल रूप में उपस्थित किया। अपने 'हिन्दी नवरत्न' शीर्षक ग्रन्थ में उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना के अनुसार हिन्दी के नौ श्रेष्ठ कवियों की समीक्षा की है। इसके अतिरिक्त उनका शास्त्रीय आलोचना से सम्बन्धित एक 'साहित्य-पारिजात' शीर्षक ग्रन्थ भी मिलता है। उन्होंने अपने 'हिन्दी-नवरत्न' में कविवर देव को बिहारी से श्रेष्ठ माना है। यहाँ से हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का जन्म हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के काव्य-सौन्दर्य पर व्यापक प्रकाश डाला और उनके काव्य की अन्य भाषाओं के काव्य से तुलना की। इसी प्रकार ० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव के काव्य को बिहारी के काव्य से श्रेष्ठ बताया तथा ला० भगवानदीन ने बिहारी के काव्य को देव के काव्य से श्रेष्ठ माना। उस समय इस प्रकार की तुलनात्मक समालोचना का पर्याप्त प्रचार हुआ, किन्तु इसमें गम्भीरता का अभाव है।

नवीन युग

मिश्रबन्धु-युग में हिन्दी-आलोचना को एक निश्चित रूप प्राप्त हो गया। इसके पश्चात् हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में प्रर्याप्त नवीनताएँ आईं। आगे हम इस युग के पश्चात् हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रमुख आलोचकों का परिचय देंगे।

(१) डॉ० श्यामसुन्दरदास—

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में 'साहित्यालोचन' और 'रूपक-रहस्य' नामक कृतियाँ उपस्थित की हैं। इनमें भारतीय काव्य-

शास्त्र के साथ-साथ विदेशी काव्य-शास्त्र से भी सहायता ली गई है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने 'हिन्दी भाषा तथा साहित्य' और 'महात्मा तुलसीदास' शीर्षक मौलिक रचानाएँ लिखी हैं और 'रानी केतकी की कहानी', 'नासिकेतोपाख्यान', 'हम्मीर रासो' तथा 'कबीर-ग्रन्थावली' का सम्पादन कर उनकी आलोचनात्मक भूमिकाएँ लिखी हैं। उनकी आलोचना-शैली स्पष्ट और प्रवाहपूर्ण है।

(२) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्लजी हिन्दी में गम्भीर आलोचना के जन्मदाता हैं। उनसे पूर्व मिश्र-बन्धुओं और डॉ० श्यामसुन्दरदास के अतिरिक्त कोई भी समर्थ आलोचक नहीं हुआ था। उन्होंने आलोचना के शास्त्रीय पक्ष को लेकर 'रस-मीमांसा' और कुछ स्फुट निबन्धों की रचना की है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'महाकवि तुलसीदास', 'महाकवि सूरदास,' 'त्रिवेणी' और 'चिन्तामणि' के द्वारा भी इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। उनकी आलोचनाएँ गहन अध्ययन से पूर्ण हैं। वह रचना के भाव-पक्ष और कला-पक्ष पर उचित ध्यान देते हुए व्यवस्थित आलोचना किया करते थे। हिन्दी के आलोचकों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

(३) प्राचीनतावादी समालोचक—

इस वर्ग के अन्तर्गत हम उन आलोचकों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने आलोचना करते समय आधुनिक तत्त्वों का उपयोग करते हुए भी मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय काव्य-दृष्टि को ही अपनाया है। इस प्रकार के आलोचकों में बाबू गुलाबराय, पं० रामदहिन मिश्र और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में पश्चिमी काव्य-शास्त्र के स्थान पर संस्कृत के काव्य-शास्त्र का अधिक आधार लिया है।

(४) छायावाद के समर्थक आलोचक—

इस वर्ग के आलोचकों ने हिन्दी में अपनी आलोचनाओं का सम्बन्ध सर्वप्रथम छायावादी काव्य से रखा था। इन्होंने छायावादी काव्य-दृष्टि का पूर्ण

समर्थन किया है। इनमें श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय है। इस समय वाजपेयी जी और डॉ० नगेन्द्र का आलोचना-साहित्य केवल छायावाद की सीमा में न रह कर वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुकूल विस्तृत हो गया है। द्विवेदीजी और पाण्डेयजी की आलोचना-शैली में अधिक अन्तर नहीं आया है। उपर्युक्त आलोचकों के अतिरिक्त कुछ छायावादी कवियों ने भी छायावाद को स्पष्ट करने के लिए आलोचनाएँ लिखी हैं। इनमें सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा मुख्य हैं।

(५) प्रगतिवादी आलोचक—

इस वर्ग के आलोचकों ने साहित्य की आलोचना करते समय उसमें मार्क्स-वादी सिद्धान्तों की खोज करने का प्रयास किया है। इनमें डॉ० रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान और श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त मुख्य है। डॉ० शर्मा ने इस धारा को विशेष आग्रह के साथ ग्रहण किया है और शेष दोनों आलोचकों ने इस दिशा में उनकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ और सन्तुलित आलोचना उपस्थित की है। केवल मार्क्सवाद को ही साहित्य का मापदण्ड मानने के कारण इस आलोचना-पद्धति का विशेष प्रचार न हो सका।

(६) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—

द्विवेदीजी ने प्राचीनतावाद, छायावाद तथा प्रगतिवाद में से किसी भी आलोचना-प्रणाली के प्रति विशेष आग्रह न रखकर स्वतन्त्र रूप में आलोचनाएँ उपस्थित की है। शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी के आलोचकों में उनका ही स्थान है। उनकी आलोचनाओं में सर्वत्र गम्भीर अध्ययन का परिचय मिलता है। उनके आलोचना-ग्रन्थों में 'नाथ-सम्प्रदाय', 'हिन्दी-साहित्य का आदि-काल', 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'कबीर' और 'मध्यकालीन धर्म-साधना' मुख्य हैं।

उपर्युक्त प्रमुख आलोचकों के अतिरिक्त आधुनिक युग में सौ से भी अधिक अन्य आलोचकों ने हिन्दी-आलोचना-साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस युग में शोध-ग्रन्थों (थीसिस) के रूप में भी आलोचना के अनेक ग्रन्थ निकले हैं। इसी प्रकार 'साहित्य-सन्देश', 'आलोचना' और 'सरस्वती-सम्वाद'

आदि पत्रों के द्वारा भी आधुनिक युग में अनेक श्रेष्ठ आलोचनात्मक निबन्धों का प्रकाशन हुआ है। इस युग के अन्य आलोचकों में डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सत्येन्द्र, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री कन्हैयालाल सहल, श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री दीनदयालु गुप्त, डा० भगीरथ मिश्र और प्रो० विजयेन्द्र स्नातक मुख्य हैं।

: ३० :

महाकवि चन्दबरदाई

वीरगाथा काल के कवियों में महाकवि चन्दबरदाई का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। वह महाराज पृथ्वीराज के राज-कवि थे और उनके साथ उनकी एक मित्र के समान घनिष्ठता थी। उन्होंने महाराज पृथ्वीराज के जीवन की प्रमुख घटनाओं के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य की रचना की है। यह हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है और इसमें महाराज पृथ्वीराज की वीरता का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यह हिन्दी के महाकाव्यों में सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसकी रचना लगभग २५०० पृष्ठों में हुई है और यह ६९ अध्यायों में विभाजित है।

इस समय 'पृथ्वीराज रासो' की कोई भी शुद्ध प्रति प्राप्त नहीं होती। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ वर्त्तमान प्रतियों की तुलना में पर्याप्त संक्षिप्त रहा होगा। जिस समय इसकी रचना की गई थी उस समय तक मुद्रण-कला का आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार की जाती थीं। इन्हें राजसभा में सुरक्षित रखा जाता था। कवियों के वंशों में भी इनकी धरोहर के रूप

में रक्षा की जाती थी। खेद है कि भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमणों के कारण वीरगाथा काल के काव्यों की पूर्ण रूप से रक्षा नहीं की जा सकी। इस समय प्राय: इस युग के काव्य-ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं होते। 'पृथ्वीराज रासो' की भी यही स्थिति है। इस काव्य में बाद के कवियों द्वारा अनेक प्रसंगों का समावेश किया गया है। अत: इसका वर्त्तमान रूप प्रामाणिक नहीं है।

'पृथ्वीराज रासो' की अप्रामाणिकता की खोज सबसे पहले डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने की थी। उन्होंने इस काव्य की राजपूताना के इतिहास से तुलना करते हुए इसकी अनेक घटनाओं को महाराज पृथ्वीराज के युग के बाद की ठहराया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की घटनाओं का समावेश चन्दबरदाई के बाद के कवियों ने किया होगा। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं का महत्त्व बढ़ाने के लिए उनका महाराज पृथ्वीराज के समकालीन नरेशों के रूप में वर्णन कर दिया है। उनके इस कार्य से कविवर चन्दबरदाई के महत्त्व को पर्याप्त हानि पहुँची है। ओझाजी ने 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों की अधिकता पर भी आपत्ति उठाई है। वह इस काव्य को सत्रहवीं शताब्दी के लगभग लिखा हुआ मानते है। इसी प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' में बाद में जोड़े गए प्रसंगों के कारण कुछ विद्वान् कविवर चन्दबरदाई के अस्तित्व के विषय में ही शंका प्रकट करते हैं। इस रचना को अप्रामाणिक मानने वाले अन्य व्यक्तियों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने 'पृथ्वीराज रासो' को पूर्णत: प्रामाणिक रचना माना है। इनमें श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबन्धु, श्री श्यामसुन्दरदास और मुनि जिन विजय के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'रासो' के विषय में उठाई गई विविध शंकाओं के उत्तर देते हुए उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त खोज की है। हमारा मत है कि यह ग्रन्थ अपने वर्त्तमान रूप में प्रामाणिक नहीं है, किन्तु हिन्दी के प्रथम महाकाव्य के रूप में इसके महत्त्व को देखते हुए इसे शीघ्र ही प्रामाणिक रूप में उपस्थित किया जाना चाहिए। इसकी उचित आलोचना की आज अत्यन्त आवश्यकता है।

'पृथ्वीराज रासो' का काव्य-सौन्दर्य

यद्यपि यह ठीक है कि 'पृथ्वीराज रासो' प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है, तथापि यह अपने युग की साहित्यधारा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करता है। बाद में मिलाए गए काव्य-प्रसंगों के कारण इसके भाव-तत्त्व और कला-तत्त्व की शुद्धता को पर्याप्त हानि पहुँची है, फिर भी यह एक सराहनीय ग्रन्थ है। इसमें वीर रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। अत. इस कृति में वातावरण को प्राय: ओजपूर्ण रूप में उपस्थित किया गया है। राजस्थान के चारण कवि वीरगाथा काल में युद्धों में सेना के साथ स्वयं जाया करते थे और अपनी कविताओं से सैनिकों का उत्साह बढ़ाया करते थे। नित्य-प्रति के युद्ध को देखने और उसमें भाग लेने के कारण उन्हें वीर रस के लिए आवश्यक तत्त्वों का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ करता था। कविवर चन्दबरदाई के साथ भी यह बात इतनी ही सत्य है। उन्होंने वीर रस का व्यापक चित्रण किया है और उसके सहायक रसों के रूप में रौद्र रस, भयानक रस तथा वीभत्स रस भी उनकी कृति में यथास्थान प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए युद्ध के अवसर पर महाराज पृथ्वीराज की क्रियाओं का निम्नलिखित चित्रण देखिए—

उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मन बेग लगत मनो बीजु झट्ट फट॥
थकि रहे सूर कौतिक गगन,
रंगन मगन भइ शोन धर॥
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि,
हुरेउ रंग नव रत्त वर॥

वीर रस के पश्चात् 'पृथ्वीराज रासो' में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इसमें शृंगार रस के संयोग और वियोग नामक दोनों ही पक्ष प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार नीति से सम्बन्धित उक्तियों की रचना कर कवि ने इसमें शान्त रस का भी पर्याप्त समावेश किया है। इस प्रकार की उक्तियाँ 'पृथ्वीराज रासो' में स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी है। महाकाव्य के रूप में लिखी जाने के कारण इस कृति में प्रकृति-चित्रण और चरित्र-चित्रण की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। इसमें प्रकृति के विविध प्रकार के चित्र प्राप्त होते है, किन्तु उसे शुद्ध रूप में बहुत कम स्थानों पर उपस्थित किया गया है।

चरित्र-चित्रण को इसमें स्वाभाविक रूप से पर्याप्त स्थान प्रदान किया गया है। इस दृष्टि से कवि का ध्यान मुख्य रूप से महाराज पृथ्वीराज के चरित्र पर केन्द्रित रहा है और उन्होंने उनके सम्पर्क में आने वाले अन्य चरित्रों को भी यथास्थान स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है।

'पृथ्वीराज रासो' की रचना डिंगल अथवा राजस्थानी भाषा में हुई है, किन्तु इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रजभाषा, अरबी और फारसी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इस कारण इस कृति की भाषा सर्वत्र एक-जैसी न रहकर स्थान-स्थान पर बदल गई है। इससे इसके अध्ययन में विशेष बाधा पहुँचती है। वास्तव में भाषा की इस विविधता का मुख्य कारण यह है कि इस काव्य में बाद के कवियों ने अपनी इच्छा के अनुसार कुछ प्रसंगों का समावेश कर दिया है। भाषा की दृष्टि से काव्य अधिक सफल नहीं है। इसमें एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न रूपों में उपस्थित कर कवि ने निश्चय ही एक बड़ी त्रुटि की है। इसी प्रकार इसमें कुछ शब्दों के बिगड़े हुए रूप दिए गए हैं और कहीं-कहीं व्याकरण के नियमों का भी उल्लंघन किया गया है।

कविवर चन्दबरदाई ने अपनी भाषा को इसके अनुकूल रखने का पूर्ण ध्यान रखा है। इसी कारण उनके काव्य में जहाँ वीर रस के प्रसंगों में ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग हुआ है वहाँ शृंगार रस के प्रसंगों में माधुर्य गुण से युक्त भाषा का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार उन्होंने अन्य रसों का समावेश करते समय भी अपने काव्य की भाषा में परिवर्त्तन उपस्थित किए हैं। शैली की दृष्टि से उनके काव्य में विविध शैलियों का समावेश हुआ है। अन्य कला तत्त्वों में उन्होंने अलंकारों का स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया है। छन्दों की दृष्टि से उन्होंने मुख्य रूप से दोहा, कवित्त, छप्पय तथा भुप्पजंगी नामक छन्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनके काव्य में भाव तत्त्व तथा कला तत्त्व का साधारणतः अच्छा प्रयोग हुआ है। फिर भी इस समय उनके काव्य के प्रामाणिक रूप में प्राप्त न होने के कारण उसकी उचित आलोचना नहीं होने पाई है।

: ३१ :

महाकवि विद्यापति

कविवर विद्यापति ने काव्य की रचना चौदहवीं शताब्दी में की थी। उन्होंने अपने काव्य की रचना अधिकतर गीति-काव्य के रूप में स्वतन्त्र पदों में की थी। इस समय उनकी कविताओं का एक संग्रह 'विद्यापति की पदावली' के नाम से मिलता है। इस कृति को मैथिली भाषा में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त उनका अपभ्रंश भाषा में लिखा गया 'कीर्तिलता' नामक एक अन्य काव्य भी प्राप्त होता है। विद्यापति कृष्ण-भक्त कवि थे। उन्होंने अपनी पदावली में राधा-कृष्ण-प्रेम की चर्चा को मुख्य स्थान प्रदान किया है। इस दिशा में उन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत-गोविन्द' से विशेष रूप से प्रेरणा ली है। इसी कारण उन्हें 'अभिनव जयदेव' कहा जाता है। उन्होंने अपने काव्य में मैथिली भाषा का अत्यन्त मधुर और मनोहारी प्रयोग किया है। इसलिए उन्हें 'मैथिल कोकिल' की पदवी भी प्रदान की गई है।

विद्यापति के काव्य पर जयदेव के काव्य के अतिरिक्त बंगला के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास की रचनाओं का प्रभाव पड़ा है। उनके काव्य में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से उन्होंने शृंगार रस को पूर्णता की ओर ले जाने वाले उसके सभी सहायक अंगों को अपने काव्य में स्थान प्रदान किया है। शृंगार रस के अन्तर्गत उन्होंने उसके संयोग और वियोग नामक दोनों पक्षों का अच्छा चित्रण किया है। संयोग शृंगार की दृष्टि से उन्होंने नायिका की शोभा, नायक-नायिका-प्रेम और मिलन आदि विविध स्थितियों का मधुर चित्रण किया है। इसी प्रकार विरह के अवसर पर नायक और नायिका की विकलता को भी उन्होंने मार्मिक रूप में उपस्थित किया है। उदाहरण के लिए नायिका की विरह के समय की निम्नलिखित उक्ति देखिए—

सखि हे ! हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर, माह भादर, सून मन्दिर मोर ॥

शृंगार रस के अतिरिक्त विद्यापति ने अपने काव्य में शान्त रस का भी सुन्दर समावेश किया है। उनके काव्य में भवित के विविध रूप प्राप्त होते हैं। इसी कारण आलोचकों ने अपने-अपने मत के अनुसार उन्हें शाक्त, वैष्णव और शैव सिद्ध करने का प्रयास किया है। हमारा मत है कि वह शुद्ध अर्थों में शैव थे। उन्होंने काव्य में विष्णु, दुर्गा एवं गंगा आदि की स्तुति अवश्य की है, किन्तु वह ठीक उसी प्रकार की है जैसी गोस्वामी तुलसीदास द्वारा की गई गणेश और पार्वती आदि की भक्ति है। जिस प्रकार इतना होने पर भी तुलसी को मूल रूप से राम का भक्त माना जाता है उसी प्रकार विद्यापति को शिव का भक्त मानना चाहिए। आगे हम उनके काव्य में शान्त रस का श्रेष्ठ प्रयोग दिखाने के लिए श्रीकृष्ण की भक्ति से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

माधव हम परिनाम निरासा।
तहुँ जगतारन दीन दयामय,
अतए तोहर विसवासा॥

विद्यापति ने अपने काव्य में रस-सौन्दर्य का अत्यन्त आकर्षक रूप में समावेश किया है। उन्होंने कृष्ण और राधा के चरित्रों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है। उनके काव्य में प्रकृति के भी अनेक सुन्दर चित्र प्राप्त होते हैं। प्रायः उन्होंने प्रकृति के उद्दीपनात्मक रूप का चित्रण किया है। अपनी भावनाओं को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने कल्पना के प्रयोग पर भी उचित ध्यान दिया है। उनके काव्य में सौन्दर्य-चित्रण को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से उन्होंने मानव-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य, दोनों का पर्याप्त चित्रण किया है।

भाव-पक्ष की भाँति विद्यापति के काव्य का कला-पक्ष भी सुन्दर बन पड़ा है। उन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मैथिली नामक चार भाषाओं का ज्ञान था। अपनी पदावली में उन्होंने मैथिली भाषा का रमणीय प्रयोग किया है। उनके काव्य में प्राप्त होने वाली मैथिली भाषा वर्त्तमान मैथिली से पर्याप्त भिन्न है। उन्होंने अपनी भाषा में मधुर और कोमल शब्दों के प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया है। वह अपनी भाषा की मधुरता पर स्वयं मुग्ध रहा करते थे।

उनके पश्चात् मैथिली भाषा में कविवर गोविन्ददास ने पद-रचना की थी। उन्होंने विद्यापति की भाषा की स्वच्छता की प्रशंसा की है। अपनी शैली को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने अपने काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी व्यापक प्रयोग किया है। यथा—

(क) बड़हु भुखल नहिं दुहु कर खाय।
(ख) बिनु साहस अभिमत नहिं पूर।

विद्यापति ने अपने काव्य में शब्दालंकारों के स्थान पर अर्थालंकारों का अधिक प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उन्हें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा नामक अलंकार विशेष प्रिय रहे हैं। उन्होंने अपनी पदावली की रचना गीति-काव्य के रूप में की है। अतः उसमें छन्द-योजना का प्रश्न ही नहीं उठता। आगे हम उनके गीति-काव्य की विशेषताओं पर पृथक् से प्रकाश डालेंगे।

विद्यापति का गीति-काव्य

गीति-काव्य की सफल रचना के लिए यह आवश्यक है कि कवि उसमें संगीत का व्यापक आश्रय ले। इसके अतिरिक्त कवि को उसमें अपने हृदय की भावनाओं को संक्षिप्त रूप में उपस्थित करना चाहिए। विद्यापति ने अपने गेय पदों में इन दोनों आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूर्ण किया है। हिन्दी में गीति-काव्य को व्यापक आधार पर उपस्थित करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उन्होंने अपने गीतों की रचना करते समय भावना और कला, दोनों ही की दृष्टि से जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का अनुकरण किया है। इन गीतों में हृदय को प्रभावित करने की असीम शक्ति है। इसके प्रभाव के विषय में यह प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु कीर्तन करते समय इन्हे गाते-गाते आत्म-विह्वल होकर प्रायः मूर्च्छित हो जाते थे। उनके अधिकांश गीतों में संगीत का सुन्दर निर्वाह मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित गीत-पंक्तियों में श्रीकृष्ण के विरह का चित्रण देखिए—

बिरह व्याकुल बकुल तरुतर
पेखल नन्दकुमार रे।
नील नीरज नयन सचँ सखि
ढरइ नीर अपार रे॥

विद्यापति के गीतों में लोक-गीतों की सहजता और सरलता का सुन्दर समावेश हुआ है। इसी कारण मिथिला, भोजपुर और उत्तर प्रदेश के कुछ गाँवों में उनके गीतों का अत्यधिक प्रचार मिलता है। यहाँ तक कि कुछ लोक-गीत लिखने वाले कवियों ने उनके नाम से अपने अनेक गीतों को भी प्रचलित कर दिया है। मिथिला में उनके गीति-काव्य का सबसे अधिक प्रचार मिलता है। आगे हम उनके गीतों की प्रशंसा में कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' की कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

वैशाली के भग्नावशेष से,
पूछ लिच्छवि शान कहाँ ?
ओ री उदास गण्डकी बता,
कवि विद्यापति के गान कहाँ ?

'दिनकर' जी ने गण्डकी नदी की धारा से विद्यापति के गीतों के विषय में यह प्रश्न पूछकर यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्यापति के गीत अपनी सरसता के कारण सदैव वातावरण में गूँजते रहते थे।

: ३२ :

महात्मा कबीर

यद्यपि महात्मा कबीर के जीवन के विषय में निश्चित सूचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं, तथापि खोज के द्वारा उनकी जीवन-घटनाओं का कुछ विवरण एकत्रित करने का समय-समय पर प्रयास किया गया है। इस आधार पर उनका जन्म सम्वत् १४५६ तथा मृत्यु सम्वत् १५७५ माना गया है। उनकी जाति के विषय में भी पर्याप्त विवाद मिलता है। सामान्यतः यह माना गया है कि वह जाति के हिन्दू थे, किन्तु उनका पालन-पोषण काशी के एक मुसलमान जुलाहा परिवार में हुआ था। उनकी रुचि बचपन से ही मुसलमान धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म की ओर थी, किन्तु अपने काव्य में उन्होंने इन दोनों धर्मों को समान स्थान दिया है और दोनों की कुरीतियों की निन्दा की है।

महात्मा कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। वह अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए पद बनाया करते थे। उनके शिष्यों ने इन पदों और छन्दों को लिखकर 'कबीर-बीजक' नामक ग्रन्थ के रूप में इनका संग्रह कर दिया। अशिक्षित होने पर भी कबीर के काव्य में ज्ञान का अपूर्व भण्डार भरा हुआ है। उन्होंने सज्जन सत्संग और गुरु के उपदेशों के द्वारा ही अपने ज्ञान का संचय किया था। वह स्वामी रामानन्द को अपना गुरु मानते थे। उनके काव्य में आत्म-चिन्तन का भी व्यापक समावेश हुआ है। अपने अनुभव और चिन्तन के आधार पर उन्होंने श्रेष्ठ नीति और भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना की है। यद्यपि यह सत्य है कि भाषा की सूक्ष्मताओं का ज्ञान न होने के कारण कबीर अपने काव्य के कला-पक्ष को अधिक सुन्दर नहीं बना सके है, तथापि भाव-पक्ष की दृष्टि से उनका काव्य पर्याप्त समृद्ध बन पड़ा है।

भाव-पक्ष

महात्मा कबीर के काव्य का अध्ययन करने पर हमें उसमें निम्नलिखित भाव-सम्बन्धी विशेषताएँ प्राप्त होती है—

(१) रस-योजना

कबीर के काव्य में शान्त रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने ब्रह्म, जीव, माया और मोक्ष के विषय में श्रेष्ठ विचार उपस्थित किए है। उन्होंने शृंगार रस को शान्त रस के मुख्य सहायक रस के रूप में उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उन्होंने साधक को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप में चित्रित करते हुए प्रेम द्वारा भक्ति की स्थापना की है। अन्य सहायक रसों के रूप में उन्होंने साधक को शूरवीर के समान चित्रित कर वीर रस की योजना की है, संसार के कष्टों और मृत्यु का चित्रण कर करुण रस को उपस्थित किया है और सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके विस्तार से सम्बन्धित पदों में अद्भुत रस का समावेश किया है।

(२) भक्त-पद्धति—

कबीर ने प्रारम्भ में भगवान् द्वारा अवतार लेने और संसार की लीलाओं में भाग लेने का वर्णन कर सगुण-भक्ति का प्रतिपादन किया था। इसके पश्चात् सगुण-भक्ति के क्षेत्र में फैले हुए जाति-भेद का विरोध करते हुए

उन्होंने निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन किया। उन्होंने आत्म-साधन पर बल देते हुए अपने काव्य में दार्शनिक विचारों को भी व्यक्त किया है। इस दृष्टि से उन पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रभाव मिलता है। अपने कुछ पदों में उन्होंने सिद्धि प्राप्त करने के लिए हठयोग का आश्रय लेने पर भी बल दिया है।

(३) रहस्यवाद—

महात्मा कबीर ने अपने काव्य में प्राय: साधनात्मक रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है। उनके कुछ पदों में भावात्मक रहस्यवाद का भी सुन्दर चित्रण मिलता है। इस प्रकार के पदों में उन्होंने परमात्मा के विरह में आत्मा की विकलता का चित्रण किया है। हिन्दी में रहस्यवादी काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके रहस्यवादी काव्य पर एक ओर तो अद्वैतवाद का प्रभाव मिलता है और दूसरी ओर उन्होंने सूफियों की प्रेम-भावना से भी पर्याप्त प्रेरणा ली है। इसी कारण जहाँ उन्होंने ईश्वर को प्राप्त करने के लिए ज्ञान के द्वारा माया के प्रभाव को नष्ट करने को आवश्यक माना है वहाँ उन्होंने ईश्वर के प्रति स्वार्थ-रहित प्रेम को भी ईश्वर-प्राप्ति का एक उपाय माना है। सूफी विचारधारा से प्रेरणा लेकर ही उन्होंने गुरु द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर ईश्वर को प्राप्त करने को सरल कहा है। उनकी रहस्यवादी विचारधारा पर सूफी प्रेम-साधना के प्रभाव का एक उदाहरण देखिए—

नयनन की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै, पिय को लीन रिझाय॥

इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि कबीर के रहस्यवादी काव्य का कुछ अंश कठिन भी हो गया है, किन्तु साधारणत: उन्हें उसकी रचना में सफलता ही प्राप्त हुई है।

(४) लोक-दर्शन—

कबीर के लोक-दर्शन सम्बन्धी काव्य से हमारा तात्पर्य उनकी ऐसी रचनाओं से है जिनमें उन्होंने समाज के लिए उपयोगी बातों की चर्चा की है। दूसरे शब्दों में इसे नीति-काव्य भी कह सकते है। महात्मा कबीर ने इस प्रकार के

काव्य की व्यापक रूप में रचना की है। इसके लिए उन्होंने अपने गम्भीर अनुभव को सर्वत्र आकर्षक रूप में अभिव्यक्त किया है। सरल भाषा में लिखित होने के कारण उनके नीति-काव्य का साधारण जनता के लिए भी अपार महत्त्व है। आदर्शों, उपदेशों और चिन्तन से युक्त होने के कारण यह काव्य मानव-मन को निश्चय ही शान्ति और उन्नति की ओर ले जाने वाला है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महात्मा कबीर ने अपने काव्य की रचना इसलिए की थी कि वह अपने भावों को जनता के हृदय तक पहुँचा सकें और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के भेद को मिटाकर दोनों को एक दूसरे के पास ला सकें। उनकी वाणी का लक्ष्य समाज की बुराइयों को मिटाकर उसे आदर्श रूप प्रदान करता रहा है। निर्गुण भक्ति का प्रचार भी उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए किया था। इस भक्ति सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्तों को उनके काव्य में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। उनके बाद के निर्गुण भक्त कवियों ने इस विषय में उनसे सर्वत्र प्रेरणा ली है। जनता को मंगल संदेश प्रदान करने में कबीर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। यद्यपि यह सत्य है कि अपनी निर्भीक प्रवृत्ति के कारण उन्होंने कहीं-कहीं समाज की बुराइयों की अत्यन्त कटु शब्दों में निन्दा की है, किन्तु यह निन्दा समाज-हित के लिए ही है। अतः कतिपय दोषों के होने पर भी जन-हित से सम्बन्धित होने के कारण कबीर की वाणी की प्रशंसा ही की जाएगी।

कला-पक्ष

किसी भी कवि के काव्य के कला-पक्ष का अध्ययन करने के लिए हमें उसके काव्य में भाषा-शैली, अलंकारों और छन्दों की स्थिति का अध्ययन करना होता है। जिस प्रकार काव्य में भाव-सौन्दर्य की स्थिति अत्यन्त आवश्यक होती है उसी प्रकार कला-सौन्दर्य के बिना भी उसमें पूर्ण आकर्षण नहीं आ पाता। महात्मा कबीर ने अपने काव्य में भावों की व्यापकता की ओर तो उचित ध्यान दिया है, किन्तु अशिक्षित होने के कारण कला-तत्त्वों का वह अधिक सफल संयोजन नहीं कर सके है। उनका सम्पूर्ण ज्ञान संत्सग और भ्रमण पर आधारित है और इस कारण उन्हे भिन्न-भिन्न देशों के व्यक्तियों से मिलने का अवसर प्राप्त होता रहता था। अतः उनके काव्य में ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी,

अरबी, फारसी, खड़ीबोली आदि अनेक भाषाओं का मेल प्राप्त होता है। उनके काव्य की शैली सरस और स्वाभाविक है। उन्होंने वर्णनात्मक शैली, उद्बोधन शैली, प्रगति शैली आदि अनेक शैलियों का प्रयोग किया है और इन सभी के प्रयोग में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

महात्मा कबीर को काव्यशास्त्र का उपयुक्त ज्ञान नहीं था। इस कारण उनके काव्य को कला तत्त्वों का प्रौढ़ रूप उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार उनका विविध रूपों में प्रयोग भी उनके काव्य में उपलब्ध नहीं होता। उनके काव्य में छन्दों और अलंकारों की स्थिति इसी प्रकार की है। उन्होंने मुख्य रूप से 'दोहा' छन्द में काव्य-रचना की है, किन्तु छन्द-शास्त्र में प्राप्त होने वाले दोहे के लक्षण के अनुसार उनके सभी दोहे ठीक नहीं कहे जा सकते। अलंकारों का प्रयोग करने में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि उनके काव्य में अधिक अलंकार प्राप्त नहीं होते, तथापि अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य को प्रायः सफल कहा जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने कला-सौन्दर्य का अपने काव्य में साधारण रूप में ही परिचय दिया है, किन्तु भाव-सौष्ठव की दृष्टि से निश्चय ही भक्तिकाल के कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

: ३३ :

मलिक मुहम्मद जायसी

कविवर जायसी का जन्म सम्वत् १५४६ में हुआ था। वह एक सज्जन प्रकृति के ईश्वर भक्त व्यक्ति थे। पहले वह एक गृहस्थ कृषक थे, किन्तु बाद में किसी दुर्घटना में अपने पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया। उन्होंने 'पद्मावत' के प्रारम्भ में अपने व्यक्तित्व का भी उल्लेख किया है। इस काव्य की रचना सम्वत् १५७७ से लेकर १५९७ तक बीस वर्षों

में की गई थी। इसके अतिरिक्त उनके 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' नामक दो अन्य काव्य भी प्राप्त होते हैं। इनमें 'पद्मावत' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। इसकी रचना अवधी भाषा में दोहा और चौपाई नामक छन्दों में हुई है।

जायसी भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे। यद्यपि वह मुसलमान थे, तथापि सत्संग के द्वारा उन्होंने हिन्दू-धर्म का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी प्रकार हठयोग, वेदान्त और रसायन का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने ईश्वर को प्राप्त करने के लिए प्रेम-भाव का आश्रय लेने पर बल दिया है। मुसलमान-धर्म के प्रति उनकी पूर्ण आस्था थी। उन्होंने अपने काव्य की रचना सूफी सिद्धान्तों के अनुसार की थी। उनके गुरु का नाम सैयद अशरफ जहांगीर था, किन्तु शेख मोहिदी से भी उन्होंने पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था।

भक्ति काल के कवियों में जायसी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत काव्य-रचना की है। इस शाखा के कवियों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होंने अपने अन्य सहयोगी कवियों की भाँति हिन्दू और मुसलमानों के प्रेम-भाव को बढ़ाने के लिए 'पद्मावत' में एक हिन्दू-कथा का वर्णन किया है। इस काव्य में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का वर्णन किया गया है और कथा के बीच में सूफी सिद्धान्तों को भी उपस्थित किया गया है। यह एक रूपक-काव्य है और इसमें सांसारिक प्रेम की भाँति ही ईश्वर के प्रति प्रेम-भाव रखने का सन्देश दिया गया है। इसीलिए इसमें राजा रत्नसेन को आत्मा और पद्मावती को परमात्मा के रूप में उपस्थित किया गया है। जायसी की काव्य-कला इसी ग्रन्थ पर आधारित है। आगे हम उनके काव्य की प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

(१) रस-योजना—

प्रबन्ध-काव्य में रस-योजना के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। 'पद्मावत' में कवि ने शृंगार रस को मुख्य स्थान देते हुए अन्य रसों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। उन्होंने प्रेम के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों की सफल योजना की है। संयोग-पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने राजा रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम तथा विवाह का चित्रण किया है। वियोग-पक्ष को लेकर उन्होंने एक ओर

तो विवाह से पूर्व इन दोनों के विरह का उल्लेख किया है और दूसरी ओर राजा रत्नसेन के वियोग में उनकी पहली पत्नी नागमती की व्यथा का मार्मिक वर्णन किया है। उनके द्वारा किया गया नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस विरह को उन्होंने स्वाभाविक रूप में चित्रित करने के अतिरिक्त कहीं-कहीं कल्पना के आधार पर बढ़ा-चढ़ाकर भी उपस्थित किया है। नागमती की विरह-दशा का निम्नलिखित उक्ति से सरलता से अनुमान किया जा सकता है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥

(२) **रहस्यवाद का चित्रण**—

जायसी ने अपने काव्य में लौकिक प्रेम की रीति से अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने की विधि का वर्णन किया है। इस कारण उनके 'पद्मावत' में रूपक-तत्त्व का भी सुन्दर समावेश प्राप्त होता है। उन्होंने भावात्मक रहस्यवाद को अपनाते हुए अपने काव्य में भावनाओं की मधुरता की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। उनके रहस्यवादी काव्य में प्रेम-तत्त्व, सूफी-साधना और सर्ववाद का उपयुक्त समावेश प्राप्त होता है। प्रेम-तत्त्व के अन्तर्गत उन्होंने उसके संयोग और वियोग नामक दोनों ही पक्षों को अपनाया है। इसी प्रकार सर्ववाद के अनुसार उन्होंने ईश्वर को सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त माना है। इन दोनों का चित्रण करते समय उन्होंने सूफी सन्तों की रहस्यवादी विचारधारा से अनिवार्य सहायता ली है। भावात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त उन्होंने 'पद्मावत' में साधनात्मक रहस्यवाद को भी यत्र-तत्र स्थान प्रदान किया है। इस प्रकार के प्रसंगों में हठयोग के पारिभाषिक शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से 'पद्मावत' का 'राजा-गढ़-छेंका खण्ड' उल्लेखनीय है। उन्होंने ईश्वर को साधक के हृदय में ही स्थित माना है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

(३) **चरित्र-चित्रण—**

'पद्मावत' एक घटना-प्रधान प्रबन्ध-काव्य है, तथापि इसमें पात्रों की उपेक्षा नहीं की गई है। जायसी ने अपने विभिन्न पात्रों की स्थिति का मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन करने की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। उन्होंने पात्रों के हृदय की भावनाओं को सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने पात्रों की शारीरिक और मानसिक स्थितियों का उपयुक्त चित्रण किया है। इसी कारण वह रत्न-सेन, पद्मावती, नागमती, अलाउद्दीन, गोरा, बादल और राघव चेतन आदि सभी पात्रों का सफल संयोजन कर सके है।

'पद्मावत' की कथा को कवि ने रूपक के आधार पर उपस्थित किया है। इस कारण इसमें चरित्र-चित्रण का कार्य सरल नहीं रहा है। यद्यपि जायसी को चरित्र-चित्रण में प्रायः सफलता ही मिली है, तथापि रूपक के आग्रह के कारण कहीं-कहीं वह पात्रों को स्वाभाविक रूप में उपस्थित न कर सकने के कारण असफल भी रहे है। उदाहरणार्थ उन्होंने नागमती को सांसारिक धन्धों के प्रतीक पात्र के रूप में उपस्थित किया है, किन्तु, वास्तव में उसका चरित्र इस प्रकार का नही है। उसके हृदय में सर्वत्र दया, स्नेह और ममता आदि उच्च गुणों का समावेश हुआ है।

(४) **प्रकृति-चित्रण—**

सूफी दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति में परमात्मा की छाया निश्चित रूप से वर्त्तमान रहती है। अतः 'पद्मावत' में प्रकृति के अनेक चित्र प्राप्त होते है। जायसी ने प्रकृति का परम्परागत रीति से चित्रण करने के अतिरिक्त उसे मौलिक रूप में भी उपस्थित किया है। उनके काव्य में प्रकृति-चित्रण के दो पक्ष रहे है। एक ओर तो उन्होंने प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में उपस्थित किया है अर्थात् जिस रूप में वह हमें दिखाई देती है उसी रूप में उसे उपस्थित कर दिया है और दूसरी ओर उसे सूक्ष्म सौन्दर्य प्रदान करने का प्रयास किया है। प्रकृति को इस दूसरे रूप में उपस्थित करने में जायसी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने प्रकृति में मानव-हृदय में आने वाली भावनाओं का समावेश करते हुए प्रकृति को मनुष्य की विविध स्थितियों से प्रभावित होते हुए दिखाया

है। इसी कारण उन्होंने नागमती के विरह के दुःख से प्रकृति को भी दुःखी दिखाया है। जब रत्नसेन चित्तौड़ लौटते हैं तब नागमती की वेदना का तो अन्त होता ही है उसके साथ-साथ उसके दुःख से व्याकुल प्रकृति की वेदना का भी अन्त हो जाता है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

पलुटी नागमती कै बारी,
सोने फूल फूलि फूलवारी।
जावत पंखि रहे सब देह,
सबै पंखि बोले गहगहे॥

(५) ऐतिहासिकता का निर्वाह—

'पद्मावत' में चित्तौड़ गढ़ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा को उपस्थित किया गया है। इसके पहले खण्ड में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का अधिक समावेश हुआ है और दूसरे खण्ड में इतिहास को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। जायसी ने प्रेमगाथा काव्य की रचना करने वाले अपने अन्य सहयोगी कवियों की अपेक्षा इतिहास की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने 'पद्मावत' में घटनाओं और पात्रों को प्रायः ऐतिहासिक रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है, तथापि कथा-सौन्दर्य, रस और रूपक के निर्वाह के लिए इसमें कल्पना का भी समावेश किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जायसी ने 'पद्मावत' में प्रेमगाथा काव्यधारा की विभिन्न विशेषताओं को अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि रूपक का निर्वाह होने के कारण इसकी कथावस्तु में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता का समावेश हो गया है, तथापि प्रायः कवि को इसकी रचना में सफलता ही प्राप्त हुई है। भक्ति काल में लिखे गए प्रेमगाथा काव्यों में इस कृति का सर्वश्रेष्ठ स्थान है और जायसी को भी इस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि होने का श्रेय प्राप्त है।

: ३४ :

महाकवि सूरदास

सूरदास जी का जन्म सम्वत् १५४० में हुआ था। वह सारस्वत ब्राह्मण थे। कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि वह जन्म से अन्धे थे, किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। उनके काव्य में प्राप्त होने वाले विविध श्रेष्ठ वर्णन इसे मानने में बाधा डालते हैं। हमारा विचार है कि सूर ने अपने को इसलिए अन्धा कहा है कि वह पहले हृदय के नेत्रों से रहित थे। उन्होंने अपने एक दोहे में लिखा है कि जब वह सहसा एक कुएँ में गिर पड़े तब श्रीकृष्ण ने स्वयं आकर उन्हें बाहर निकाला और उन्हें ज्ञान-चक्षु प्रदान किए। भक्ति के क्षेत्र में वह महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति सुन्दर सख्य-भाव की भक्ति उपस्थित की है। उनकी 'सूरसागर' नामक एक बृहत् रचना प्राप्त होती है। कहते हैं कि इसमें पहले सवा लाख पद थे, किन्तु इस समय प्राप्त होने वाली प्रतियों में केवल ६,००० पद ही प्राप्त होते है। इसमें कुछ भावों की पुनरुक्ति भी की गई है, किन्तु अपनी सरसता के कारण यह काव्य मन को कहीं भी बोझिल नहीं बनाता।

कविवर सूरदास ने अपने काव्य में श्रीकृष्ण की बाल-लीला, प्रेम-लीला और उनके ईश्वरीय स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने कृष्ण के जीवन को अत्यन्त आकर्षक अभिव्यक्ति प्रदान की है। अपने कुछ पदों में उन्होंने राम-कथा का भी साधारण वर्णन किया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना गीति-काव्य के रूप में की है। ब्रजभाषा की मधुर शब्दावली से युक्त होने के कारण उनके पद और भी सुन्दर बन पड़े है। इनमें उन्होंने अपने भावों को संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है। मधुरता और सरसता से युक्त होने के कारण ये पद पाठक अथवा श्रोता के हृदय का तुरन्त स्पर्श करते है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर ने गीति-काव्य के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया है। इतना होने पर भी उन्होंने अपने कुछ पदों को दृष्टकूट के रूप में उपस्थित कर उन्हें आवश्यक रूप में कठिन बना दिया है। इस प्रकार के पद

उनके काव्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। साधारण पाठक के लिए तो इनके अर्थ को समझना भी कठिन है।

सूर के काव्य की प्रमुख विशेषता उनके द्वारा किये गए रसों का सुन्दर प्रयोग है। उन्होंने 'सूरसागर' में वात्सल्य रस, शृंगार रस तथा शान्त रस का क्रमशः चित्रण किया है और ये उनके काव्य के प्रमुख रस रहे हैं। इनके अतिरिक्त उनके कुछ पदों में अन्य रसों का भी प्रयाग हुआ है, किन्तु मुख्यता इन्हीं तीनों रसों की रही है। आगे हम उनके काव्य में इन तीनों रसों के विकास का अध्ययन उपस्थित करेंगे।

(१) वात्सल्य रस—

सूरदास जी ने श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर बालक के रूप में उनकी सभी लीलाओं का सजीव वर्णन किया है। बालक की चपलता का भी उन्होंने स्वाभाविक चित्रण किया है। उन्होंने माता-पिता के हृदय में शिशु के लिए स्थित स्नेह को पूर्ण रूप से पहचाना है। इस दृष्टि से उन्होंने नन्द और यशोदा के पुत्र-प्रेम को मनोवैज्ञानिक आधार पर उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य व्यक्तियों और पशुओं से भी श्रीकृष्ण के स्नेह-सम्बन्ध का वर्णन किया है। उन्होंने वात्सल्य रस के सभी अंगों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और उनका हृदयग्राही चित्रण किया है। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण की माखन-चोरी के प्रसंग का वर्णन अत्यन्त सजीव रूप में हुआ है। आगे हम बालक कृष्ण द्वारा माता से पूछा गया एक स्वाभाविक प्रश्न उद्धृत करते हैं—

> **मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ?**
> **किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी !**

(२) शृंगार रस—

सूर ने अपने काव्य में शृंगार रस के संयोग पक्ष और वियोग पक्ष, दोनों का चित्रण किया है। संयोग पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है। इस विषय में उन्होंने श्रीकृष्ण द्वारा मुरली बजाने और रासलीला की योजना करने का वर्णन करते हुए इन दोनों के मन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी चित्रण किया है। इसी प्रकार संयोग में सहायक

प्रकृति के भी उन्होंने सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। उनका संयोग-वर्णन स्वाभाविक और मनोहारी है। वैसे इसकी तुलना में उन्होंने अपने काव्य में वियोग-वर्णन को अधिक स्थान दिया है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर उन्होंने उनके विरह में गोपियों की विकलता का मार्मिक चित्रण किया है। उन्होंने गोपियों की विरह-दशा का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इस विरह-वर्णन का पूर्ण विकास उनके 'भ्रमरगीत' में मिलता है। जिस समय उद्धव ने उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया है उस समय गोपियों ने उन्हें अपनी विरह-वेदना से इतना प्रभावित किया कि अन्त में उद्धव भी उनके विरह की सार्थकता का अनुभव करने लगे। इससे कवि की वर्णन-कुशलता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों की विकलता का निम्नलिखित चित्र देखिए—

> प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
> प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान दह्यौ॥
> अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, संपुट मांझ गह्यौ।
> सारंग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सह्यौ॥
> हम जो प्रीति करी माधव सौं, चलत न कछु कह्यौ।
> सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ॥

(३) शान्त रस—

सूरदास जी ने अपने काव्य में श्रीकृष्ण के चरित्र को लेकर शान्त रस को भी व्यापक स्थान प्रदान किया है। इस दृष्टि से उन्होंने सर्वप्रथम हमारे सामने उनके लोक-रक्षक रूप को उपस्थित किया है और इसके लिए उनके द्वारा किए गए केशी और बकासुर आदि राक्षसों तथा पूतना राक्षसी के वध तथा कालिय-दमन की कथाओं का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के शील का चित्रण करने के लिए उन्होंने जो भावनाएँ उपस्थित की हैं उनमें भी शान्त रस का अच्छा समावेश हुआ है। उनके काव्य में शान्त रस का सब से सुन्दर समावेश उनके भक्ति-पदों में हुआ है। भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने विनय-भाव और सख्य-भाव की भक्ति को अपनाया है। उदाहरण के लिए उनकी विनय-भाव की भक्ति का निम्नलिखित रूप देखिए—

चरन कमल बन्दौं हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई ॥
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुणामय, बार-बार बंदौं तिहि पाई ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कविवर सूरदास ने अपने काव्य में विविध रसों की सुन्दर योजना की है। उनके काव्य की अन्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) प्रकृति-चित्रण—

सूरदास जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण के लिए व्यापक स्थान रहा है। उनके सभी पात्रों के जीवन का विकास प्रकृति के अंचल में हुआ है। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण की सभी प्रणालियों को ग्रहण किया है। इनमें से उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण की प्रणाली उनके पदों में मुख्य रही है।

(२) चरित्र-चित्रण—

'सूर-सागर' में कवि ने कृष्ण, राधा, नन्द, यशोदा, उद्धव और गोप-गोपियों के चरित्रों को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उपस्थित किया है। सूर ने चरित्र-चित्रण करते समय स्पष्टता और विवशता का पूर्ण परिचय दिया है। भक्ति काल के कृष्ण-भक्त कवियों में इस दिशा में उन्हें सबसे अधिक सफलता मिली है।

(३) भक्ति-पद्धति—

कविवर सूरदास ने अपने काव्य में सगुण भक्ति के महत्त्व को सफलता-पूर्वक स्पष्ट किया है। उन्होंने गोपियों को सगुण भक्ति में विश्वास रखने वाली नारियों के रूप में चित्रित किया है। उनके उद्धव निर्गुण भक्ति के समर्थक रहें हैं। गोपी-उद्धव सम्वाद में उद्धव को गोपियों से परास्त कराकर उन्होंने सगुण भक्ति का सफल प्रतिपादन किया है।

(४) गीति-काव्यत्व—

सूर ने अपने पदों में गीति-काव्य के तत्त्वों का सफल निर्वाह किया है। उनके पद संक्षिप्त, मधुर और आकर्षक हैं। इनमें संगीत-शास्त्र का दृढ़ आधार

लिया गया है। उनके शान्त रस सम्बन्धी पदों में आत्म-कथन की प्रणाली को भी ग्रहण किया गया है। हिन्दी में गीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) **भाषा-शैली**—

सूर के काव्य की भाषा सरल, स्वाभाविक और मधुर ब्रजभाषा है। उन्होंने अपने काव्य में कठिन शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं किया है। उनकी शैली प्रवाहपूर्ण और आकर्षक है। उनके काव्य में वैसे तो वर्णन की अनेक शैलियों का समावेश हुआ है, किन्तु उनमें प्रगति-शैली मुख्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कविवर सूरदास ने कृष्ण-भक्ति को लेकर श्रेष्ठ काव्य की रचना की है। अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के अतिरिक्त वह हिन्दी के कृष्ण काव्य के भी सर्वप्रमुख लेखक हैं। उन्होंने अपने काव्य में श्रीकृष्ण के जीवन का इतने व्यापक रूप में समावेश किया है कि उनके बाद के कृष्ण-भक्त कवि उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके हैं।

: ३५ :

गोस्वामी तुलसीदास

हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म सम्वत् १५८९ में बाँदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री आत्माराम एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे। उनकी माता का नाम हुलसी था। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था और इस कारण माता-पिता ने उनका त्याग कर दिया था। उनका बचपन अत्यन्त संकट के साथ व्यतीत हुआ। आयु प्राप्त होने पर उन्होंने महात्मा नरहरि के आश्रम में शिक्षा प्राप्त की। उनके गुरु श्री शेष सनातन उस समय के प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने १५ वर्ष तक अत्यन्त

परिश्रम के साथ विद्या प्राप्त की। इसके पश्चात् उन्होंने रत्नावली नाम की एक कन्या से विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। वह अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। एक बार जब वह उन्हें सूचना दिये बिना ही अपने पिता के यहाँ चली गई, तब वह भी उसके पीछे-पीछे वहाँ पहुँच गये। उनकी पत्नी को उनकी इस आसक्ति से अत्यन्त खेद हुआ। वह स्वयं भी एक विदुषी नारी थी। उसने उन्हें लौकिक प्रेम की अपेक्षा ईश्वर-प्रेम का महत्त्व बताया। इस पर वह संसार का त्याग कर राम-भक्ति में लीन हो गए।

गोस्वामी तुलसीदास ने श्री राम की भक्ति को अपने काव्य का मुख्य विषय बनाया है। यद्यपि उन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति में 'कृष्ण-गीतावली', हनुमान की स्तुति में 'हनुमान बाहुक' तथा अन्य देवी-देवताओं की स्तुति में स्फुट छन्दों की रचना की है, तथापि मुख्य रूप से उन्होंने श्री राम की ही उपासना की है। इस दिशा में उन्होंने 'कवितावली,' 'गीतावली', 'विनय-पत्रिका' तथा 'रामचरितमानस' आदि अनेक श्रेष्ठ काव्य उपस्थित किए हैं। इनमें से प्रथम तीन काव्यों की रचना मुक्तक काव्य के रूप में हुई है और अन्तिम काव्य प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखा गया है। भाषा की दृष्टि से भी जहाँ प्रथम तीन काव्यों में ब्रजभाषा को स्थान दिया गया है वहाँ चतुर्थ काव्य में अवधी भाषा को अपनाया गया है। इनमें 'रामचरितमानस' को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। हिन्दी के राम-भक्ति सम्बन्धी अन्य काव्यों से तुलना करने पर भी हम इसे सर्वश्रेष्ठ काव्य पाते हैं। इस काव्य में उन्होंने अनुभव, चिन्तन और कल्पना का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। आगे हम उनके काव्य की विविध विशेषताओं पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे।

रस-योजना

तुलसी ने अपने काव्य में शान्त रस और शृंगार रस को सबसे अधिक स्थान प्रदान किया है, तथापि उनकी रचनाओं में अन्य रस भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। शान्त रस के अन्तर्गत उनके विनयपूर्ण भक्ति-पदों में अपूर्ण काव्य-कौशल का समावेश हुआ है। उन्होंने भक्ति में तल्लीनता की स्थिति को आवश्यक माना है। इसी प्रकार उन्होंने निष्काम भक्ति की स्वच्छता का भी सर्वत्र प्रतिपादन किया है। उन्होंने श्री राम के चरित्र में शक्ति, शील

और सौन्दर्य के सम्मिलित दर्शन कर भगवान् के सगुण रूप को इन तीनों से युक्त माना है। उन्होंने अपने काव्य में किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा को स्पष्ट करने का आग्रह न रखकर सरल भावमयी भक्ति के प्रतिपादन को ही मुख्य माना है।

शान्त रस के अतिरिक्त तुलसी ने श्रृंगार रस को भी अपने काव्य में पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। उन्होंने उसके संयोग और वियोग, दोनों पक्षों को लेकर सुन्दर काव्य-रचना की है। संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत उन्होंने दाम्पत्य प्रेम के अनेक शुद्ध और प्रभावशाली चित्र उपस्थित किए हैं। राम और सीता के प्रेम को उन्होंने स्थूल रूप में उपस्थित न कर सूक्ष्म रूप में चित्रित किया है। वियोग श्रृंगार का चित्रण करते समय भी उन्होंने मर्यादा-भाव का सर्वत्र परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त अन्य रसों के चित्रण में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इस दृष्टि से राम-कथा के राम-वनगमन, दशरथ-मरण, कौशल्या-विलाप और मन्दोदरी-विलाप आदि प्रसंगों में करुण रस का मार्मिक चित्रण हुआ है। राम-रावण-युद्ध का वर्णन करते समय उन्होंने वीर रस के साथ-साथ रौद्र, भयानक और वीभत्स आदि सहायक रसों का भी यथा-स्थान चित्रण किया है। 'रामचरितमानस' के 'बाल-काण्ड' और 'कवितावली' के प्रारम्भ में वात्सल्य रस का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। हास्य रस की दृष्टि से 'रामचरितमानस' के नारद-मोह, शिव-विवाह आदि प्रसंग विशेष सुन्दर बन पड़े हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में रस-योजना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है और उन्हें इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। आगे हम उनके काव्य से राम-भक्ति सम्बन्धी कुछ श्रेष्ठ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

× × ×

तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासे होय सनेह राम-पद, यतो मतो हमारो॥

चरित्र-चित्रण

तुलसी ने अपने काव्य में लोक-साधना पर बल देते हुए राम, सीता, भरत, लक्ष्मण तथा हनुमान जैसे अनेक आदर्श चरित्रों की रचना की है। उनके काव्य के नायक श्री राम उदार, सदाचारी, ओजस्वी और मर्यादा में विश्वास रखने वाले हैं। उन्होंने पिता, माता, धर्म-पत्नी तथा जनता आदि के प्रति आदर्श विचारों को उपस्थित करते हुए लोक-धर्म का सुन्दर निर्वाह किया है। भरत और लक्ष्मण ने भी भ्रातृ-प्रेम को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार सीता के चरित्र में दया, ममता, पति-भक्ति आदि विविध गुणों का आदर्श संयोजन किया गया है। हनुमान की राम-भक्ति का चित्रण करते हुए कवि ने भक्ति के आदर्श को भी अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है। वास्तव में तुलसी के काव्य में चरित्रों को आदर्श रूप में उपस्थित करने की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। इतना होने पर भी उन्होंने राम, सीता एवम् भरत जैसे सात्विक भावों वाले पात्रों के अतिरिक्त रावण और शूर्पणखा जैसे तामसी गुणों वाले दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों को भी अपने काव्य में स्थान प्रदान किया है।

प्रकृति-चित्रण

तुलसी ने अपने काव्य में प्रकृति को विविध रूपों में उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में प्रकृति के आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक, आलंकारिक तथा उपदेशात्मक आदि अनेक रूप प्राप्त होते हैं। उनके प्रकृति चित्र पाठक के हृदय का स्पर्श कर उसके भावों को जाग्रत करने में पूर्णतः समर्थ हैं। उन्होंने प्रकृति का मानव-जगत् से सहज सम्बन्ध स्थापित किया है और प्रकृति के माध्यम से अनेक नैतिक और आध्यात्मिक संकेत उपस्थित किए है। आगे हम उनके 'रामचरितमानस' से प्रकृति का सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं—

विकसे सरसिज नाना रंगा,
मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।
चातक कोकिल कीर चकोरा,
कूजत विहंग, नाचत मन मोरा॥

कला-तत्त्व

तुलसी ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों ही रूपों में की है। इस कारण उनके काव्य में कलात्मक सौन्दर्य की योजना के लिए पर्याप्त अवकाश रहा है। प्रबन्ध काव्य के रूप में उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' की रचना अवधी भाषा में की है और शेष कृतियों को ब्रजभाषा में उपस्थित किया है। इन दोनों ही भाषाओं में काव्य-रचना करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने भाषा को स्वाभाविक, रंमणीय और प्रौढ़ रूप में उपस्थित करने का सर्वत्र ध्यान रखा है। उन्होंने अपनी भाषा को काव्य-विषय के अनुसार परिवर्त्तित करने का भी पूर्ण ध्यान रखा है। व्याकरण की दृष्टि से भी उनकी भाषा प्रायः शुद्ध ही रही है और उसे सजीवता प्रदान करने के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। उनकी भाषा में काव्य के ओज, माधुर्य और प्रसाद नामक तीनों गुणों का यथास्थान सफल प्रयोग हुआ है।

शैली की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में प्रगति शैली को मुख्य स्थान प्रदान किया है। इस दृष्टि से उनका 'विनयपत्रिका' शीर्षक काव्य हिन्दी के गीति-काव्यों के महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्र शैली, समास शैली, उद्‌बोधन शैली, संलाप शैली आदि अन्य शैलियों को भी पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। शैली-प्रयोग की विविधता के कारण उनके काव्य में कला-प्रवाह का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। आगे हम उनके काव्य से प्रगति शैली का एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित करते हैं—

> **अब लौं नसानी अब न नसैहौं।**
> **राम कृपा भवनिसा सिरानी, जागे फिर न डसैहौं॥**
> **पाया नाम चारु चिन्तामनि, उर कर ते न खसैहौं।**
> **स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं॥**
> **परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।**
> **मन-मधुकर पन करि तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥**

तुलसी ने अपने काव्य में अलंकारों को भी व्यापक स्थान प्रदान किया है।

उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों, दोनों का सफल प्रयोग किया है। उनके काव्य में मुख्य रूप से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, व्यतिरेक और अनुप्रास नामक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अलंकारों की स्वाभाविक योजना की ओर भी सर्वत्र ध्यान दिया है। छन्द-योजना की दृष्टि से उन्होंने दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय, झूलना आदि विविध मात्रिक छन्दों को अपनाया है और छन्द-रचना के लिए आवश्यक यति-नियम और तुक-पालन की ओर उचित ध्यान दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाव-तत्त्वों की भाँति कला-तत्त्वों की योजना में भी कविवर तुलसीदास को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उनके काव्य के विषय में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय की निम्नलिखित ंक्तियाँ निश्चय ही सार्थक हैं—

कविता करके तुलसी न लसे।
कविता लसी पा तुलसी की कला॥

: ३६ :

मीराबाई

भक्ति काल की प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई का जन्म सम्वत् १५७३ मे मेवाड़ के राठौर सामन्त रत्नसिंह के यहाँ हुआ था। उनका विवाह महाराणा साँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। दुर्भाग्यवश विवाह के कुछ समय पश्चात् ही उनके पति की मृत्यु हो गई। विधवा-जीवन के दुःखों को भूलने के लिए वह अपना समय अधिकतर ईश्वर-भक्ति में व्यतीत करने लगीं। कृष्ण-भक्ति की मधुरता की ओर आकृष्ट होकर उन्होंने उन्हीं को अपने आराध्य-देव के रूप में ग्रहण किया और उनकी भक्ति में अनेक मधुर पदों की रचना की। वह कृष्ण की उपासना में इतनी अधिक तल्लीन रहने लगीं कि संसार के प्रलोभन शनैः शनैः उन्हें तुच्छ प्रतीत होने लगे। राज-परिवार में रहते हुए भी उनके निर्लिप्त और निश्चित व्यवहार को देखकर उस समय के नरेश अत्यन्त

रुष्ट होने लगे। उन्होंने उन्हें भक्ति के मार्ग से हटाने के लिए प्रत्येक सम्भव चेष्टा की, किन्तु मीरा ने इस पथ का अनेक बाधाएँ आने पर भी त्याग नहीं किया। श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनुराग क्रमशः और भी अधिक दृढ़ होता चला गया और अन्त में महाराणा के व्यवहार से दुखित होकर वह वृन्दावन चली गईं। इस स्थान पर उन्हें भक्ति-मार्ग में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा और वहीं सम्वत् १६२० तथा १६३० के मध्य उनकी मृत्यु हो गई।

मीराबाई ने अपने पदों में श्रीकृष्ण को अपने प्रियतम के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण की छवि का विस्तृत वर्णन करते हुए उनके प्रति अपनी भावनाओं को अत्यन्त मधुर रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने अपने काव्य में ईश्वर के विरह में हृदय की व्याकुलता का मार्मिक चित्रण किया है। प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से भी उनकी भावनाएँ अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ी है। उन्होंने अपने काव्य को राजस्थानी भाषा और ब्रजभाषा में अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। उनके काव्य का विशेष गुण यही है कि उसमें भाषा की स्वच्छता, शैली के प्रवाह, भावों की तन्मयता और संगीत की एकाग्रता का एक ही स्थान पर सुन्दर सम्मिलन हो गया है। उनके 'राग-गोविन्द', 'नरसी जी का मायरा', 'सोरठ के पद' और 'गीत गोविन्द की टीका' नामक ग्रन्थों में इन सभी गुणों को सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

हिन्दी की कवयित्रियों में मीराबाई का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्ति काल में भक्ति की निर्मल गंगा प्रवाहित करने वाले कवियों में भी वह अन्यतम स्थान रखती है उन्होंने अपने काव्य की रचना एक साहित्यकार के रूप में न कर एक भक्त नारी के रूप में की थी। अतः उनकी रचनाओं में काव्य-कला की सूक्ष्मताओं को खोजना व्यर्थ है। तथापि भाव-समृद्धि की दृष्टि से उनकी रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। उनके पदों में आत्म-निवेदन और भक्त के हृदय की विकलता का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इसी कारण नाभादास जी ने अपने 'भक्तमाल' शीर्षक ग्रन्थ में तथा ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त नामावली' शीर्षक कृति में उनका अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। उनके हृदयस्पर्शी भावों का उनके बाद की हिन्दी-कविता पर पर्याप्त प्रभाव

पड़ा है। आधुनिक युग में महादेवीजी के काव्य में भी हमें इसी प्रकार की मार्मिक उक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

मीराबाई की रचनाएँ आज अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है। एक ओर तो उनके द्वारा लिखे गये अनेक पद आज लुप्त हो गये हैं और दूसरी ओर उनके बाद के कवियों द्वारा लिखित कुछ पद भी उनके नाम से प्रचलित हो गये हैं। इसी प्रकार उनके पदों की भाषा और भावों में भी कहीं-कहीं अन्तर आ गया है। ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं के विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथापि उनका काव्य हमें जिस रूप में उपलब्ध है, उस रूप में भी उनके मार्मिक भाव हमारे हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं रहते। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने पदों में अपने हृदय की वेदना को पूर्णतः ढालकर रख दिया है। श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप में स्वीकार कर जिस सहज आत्मीयता के साथ उन्होंने अपने काव्य की रचना की है वैसी तल्लीनता की भावना इतनी अधिकता के साथ हिन्दी-काव्य में बहुत कम उपलब्ध होती है।

भाव-प्रतिपादन की दृष्टि से मीराबाई के काव्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक ओर तो उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति अपने प्रेम-निवेदन को शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों के अनुसार उपस्थित किया है तथा दूसरी ओर विनय-भाव से युक्त शुद्ध भक्ति-पदों की रचना की है। उनकी भक्ति माधुर्यमयी होने के कारण प्रेम-प्रधान है। इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्ण से संयोग की इच्छा प्रकट करते हुए उनकी रूप-छवि का आकर्षक वर्णन किया है। इस प्रकार के पदों में उन्होंने अपनी भावनाओं को बिना किसी संकोच के अत्यन्त स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त स्वाभाविकता भी इन पदों में आदि से अन्त तक व्याप्त रही है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए—

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहिनी मूरति, साँवरी सूरति, नैना बने विशाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, अरुण तिलक दिये भाल।
अधर सुधा रस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
क्षुद्र घंटिका कटि तटि सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबचछल गोपाल॥

मीराबाई ने अपने ईश-विरह-सम्बन्धी पदों में भी इस स्वाभाविकता को इसी प्रकार उपस्थित किया है। इस प्रकार के पदों में हृदय की विकलता का जितने मार्मिक रूप में उद्घाटन हुआ है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मीराबाई के प्राणों में श्रीकृष्ण पूर्ण रूप से समा गये थे। उनके विनय-भाव-युक्त भक्ति-पदों में भी भक्त के आत्म-निवेदन की सफल अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार के पदों में संसार की अनित्यता, माया के प्रभाव और व्यर्थ के आडम्बरों के त्याग का उपदेश देते हुए उन्होंने भक्त को शुद्ध हृदय से भगवान् की भक्ति करने का सन्देश दिया है। उन्होंने अपने पदों में अनेक स्थानों पर पुनर्जन्म से मुक्ति की इच्छा प्रकट की है। उनके भक्ति-पदों में विनय-भाव और दार्शनिक चिन्तन का सहज विकास उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

भजि मन चरण कमल अविनासी।
जे ताइ दीसे धरनि गगन बिच,
ते ताई सब उठ जासी॥
कहा भयो तीरथ ब्रत कीने,
कहा लिए करवट कासी।
इस देही का गरव न करना,
माटी में मिलि जासी॥

× × ×

अरज करीं अबला कर जोरें,
स्याम तुम्हारी दासी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
काटो यम की फाँसी॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीराबाई ने अपने काव्य में श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भक्तिमयी प्रेम-भावना और विनय-भाव को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनके काव्य का भाव-पक्ष निश्चय ही अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़ा है। उन्होंने श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का भी सुन्दर चित्रण किया है। वस्तुतः हिन्दी के प्रेम-भक्ति-काव्य में मीराबाई की रचनाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हृदय की प्रेरणा से लिखित होने के कारण उनके पदों का भक्त-जनों में अपार आदर है।

मीराबाई के काव्य में कला-तत्त्वों का उपयुक्त विकास उपलब्ध नहीं होता। इस क्षेत्र में उनकी सफलता केवल उनकी प्रगति शैली पर आधारित है। गीति-काव्य के अनुरूप मधुर शब्दावली और प्रवाह की योजना में निश्चय ही वह सफल रही हैं। उनके काव्य में गीति-काव्य के लिए आवश्यक विविध गुण इतनी अधिकता से प्राप्त होते हैं कि उन्हें हिन्दी के प्रमुख गीति-काव्यकारों में सहज ही स्थान प्रदान किया जा सकता है। अन्य कला-तत्त्वों में उनकी भाषा मधुर होने पर भी शुद्ध नहीं है। इसका कारण उनके काव्य का प्रामाणिक रूप में प्राप्त न होना भी हो सकता है। गीति-काव्य की रचना के कारण उनके काव्य में छन्दों के समावेश का प्रश्न ही नहीं उठता। अलंकारों का प्रयोग भी उनके पदों में अधिक नहीं हुआ है, किन्तु इस विषय में उन्होंने स्वाभाविकता का सर्वत्र ध्यान रखा है।

: ३७ :

आचार्य केशवदास

हिन्दी के आचार्य कवियों में कविवर केशवदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उन्होंने अपने कवि-जीवन को भक्ति-काल के अन्त में प्रारम्भ किया था, तथापि उनके काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों को ही अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। इस कारण उनकी गणना रीति काल के कवियों में ही की जाती है। उन्होंने अपने काव्य के अधिकांश भाग की रचना ओड़छा के राज-दरबार में रहकर की थी। वह अत्यन्त भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे। गुणी जनों का आदर करना और उन्हें प्रोत्साहन देना उनका स्वभाव था। उन्होंने अपने काव्य की रचना तीन रूपों में की है। एक ओर तो उन्होंने श्रीराम और श्रीकृष्ण को लेकर काव्य-रचना की है, दूसरी ओर काव्य और काव्यांगों को

स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थ लिखे हैं और तीसरी ओर आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए छन्द-रचना की है।

केशवदास ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य दोनों ही रूपों में की है। प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में उनका 'रामचन्द्रिका' शीर्षक काव्य प्राप्त होता है। इसमें राम-भक्ति का प्रतिपादन करने की चेष्टा की गई है, किन्तु शृंगारिकता और बौद्धिकता से प्रेरित होने के कारण वह इसकी रचना में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' शीर्षक काव्य का अध्ययन करने पर पाठक को जिस आत्म-सन्तोष का अनुभव होता है उसका एक बहुत बड़ा भाग केशव की 'रामचन्द्रिका' का अध्ययन करने पर अनुपलब्ध ही रह जाता है। जहाँ तुलसी ने अपने काव्य की रचना स्वान्तःसुखाय अर्थात् अपने हृदय को सन्तोष प्रदान करने के लिए की थी वहाँ केशव वैसा नहीं कर सके है। उन्होंने अपने काव्य की रचना प्रयास का आधार लेकर की है। इसके फलस्वरूप वह श्रीराम के चरित्र की मर्यादा की रक्षा नहीं कर सके है। इसी प्रकार श्रीराम और उनसे सम्बन्धित अन्य पात्रों के गौरव को भी उन्होंने उचित रूप में नहीं पहचाना है।

केशव के काव्य में प्राप्त होने वाले उपर्युक्त दोषों का प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने अलंकार-योजना के प्रति अनावश्यक मोह रखा है। केवल यमक, श्लेष और उपमा आदि अलंकारों की योजना के लिए वह ऐसे शब्दों का प्रयोग कर बैठे है जो अर्थ का अनर्थ कर देते है। यही कारण है कि राम को उल्लू तक कह गए हैं। इस प्रकार की उक्तियों के कारण उनका काव्य पाठक की सहानुभूति को जाग्रत करने में पूर्णतः असमर्थ रहता है। दरबारी कवि होने के कारण भी केशवदास अपने काव्य में गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की शान्त गरिमा को न ला पाए। उनके काव्य में अनुभव, चिन्तन और कल्याण, तीनों का ही पूर्ण विकास प्राप्त नहीं होता। इतना होने पर भी 'रामचन्द्रिका' की पूर्ण रूप से उपेक्षा नहीं की जा सकती। रीति काल में राम-काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाने वाली रचनाओं में यही ग्रन्थ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

'रामचन्द्रिका' के पश्चात् केशव के उल्लेखनीय ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' है। इन दोनों ग्रन्थों की रचना काव्य-मार्ग को स्पष्ट करने के लिए की गई है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में लेखक ने रस और रसांगों के स्वरूप को स्पष्ट किया है और द्वितीय ग्रन्थ में काव्य-स्वरूप, अलंकारों तथा पिंगल-शास्त्र का कथन किया गया है। ये दोनों ग्रन्थ कवि-शिक्षा के उद्देश्य से लिखे गए हैं अर्थात् इन्हें लिखते समय केशव का दृष्टिकोण प्रायः यही रहा है कि इनका अध्ययन करने से कवियों को काव्य-रचना में सुविधा रहे। अतः यह स्पष्ट है कि केशव ने इनमें मौलिकता और गहन चिन्तन की ओर अधिक ध्यान न देकर साधारण तथ्यों को सरल भाषा में उपस्थित करने की ओर अधिक ध्यान दिया है। 'कविप्रिया' के प्रारम्भ में निम्नलिखित दोहे में उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति का कथन किया है—

समझै बाला बालकहू, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध।।

केशव ने इन ग्रन्थों में रसों, अलंकारों आदि के लक्षणों को कविता में उपस्थित किया है और उनके उदाहरण भी स्वयं ही लिखे हैं। अपने समय के अन्य कवियों के काव्यों से उदाहरण उपस्थित करने की प्रवृत्ति इन ग्रन्थों में नहीं मिलती। इस प्रकार इनमें केशव के आचार्य-रूप और कवि-रूप, दोनों का ही साथ-साथ समावेश हुआ है। आचार्य के रूप में मौलिकता के अभाव के कारण उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है, किन्तु कवि के रूप में उन्होंने अनेक उदाहरणों की अच्छी रचना की है। इन उदाहरणों में प्रायः श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया गया है। केशव की भाँति रीति काल के अन्य कवियों में से भी अधिकांश ने आचार्य और कवि, दोनों रूपों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। केशव के बाद के आचार्य-कवियों ने उनके कार्य से पर्याप्त प्रेरणा ली है। इस प्रकार शास्त्र-रचना में स्वयं अधिक सफल न होने पर भी केशव को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इस परम्परा के अन्य कवियों को प्रेरणा प्रदान की है। जिस प्रकार कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की काव्य-धाराओं का भक्ति-काल में अनेक कवियों ने अनुकरण किया था उसी प्रकार केशव के शास्त्रीय ग्रन्थों का भी पर्याप्त समय तक अनुकरण किया गया।

केशवदास के काव्य के तृतीय पक्ष का सम्बन्ध आश्रयदाताओं अथवा अन्य लौकिक जनों की स्तुति से है। उनके 'वीरसिंह देव चरित' तथा 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' शीर्षक काव्य इसी प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त स्फुट छन्दों में भी उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है। इस प्रकार की काव्य-रचना वीरगाथा काल की भाँति रीति काल में भी पर्याप्त मात्रा में प्रचलित थी और केशवदास ने इसमें अपने समकालीन कवियों में सबसे अधिक भाग लिया है। संक्षेप में उनके काव्य के भाव-पक्ष को इन्हीं तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है, किन्तु उनका काव्य सर्वत्र दोषपूर्ण भी नहीं रहा है। कुछ स्थानों पर गम्भीर भूलें करने पर भी केशव ने अपनी रचनाओं में काव्य-कौशल का भी अच्छा परिचय दिया है।

काव्य के कला-पक्ष की दृष्टि से केशव के काव्य का अध्ययन करने पर भी हम उनकी सफलता को इसी प्रकार अपूर्ण पाते हैं। यद्यपि उन्होंने इस ओर कहीं-कहीं भाव-योजना से भी अधिक ध्यान दिया है, तथापि अपने दुराग्रह के कारण वह इस दिशा में भी सफल नहीं हो सके हैं। कला-तत्त्वों के अन्तर्गत सर्वप्रथम हम उनकी भाषा पर विचार करेंगे। उन्होंने अपने काव्य की रचना व्रजभाषा में की है और उसमें संस्कृत, अरबी, फारसी, बुन्देलखण्डी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों का भी यथास्थान समावेश किया है। भाषा की योजना में वह प्रायः सफल रहे हैं और इस विषय में उन्होंने कृत्रिमता का अधिक परिचय नहीं दिया है। शैली-प्रयोग की दृष्टि से भी उन्होंने अपनी रचनाओं में विविध शैलियों का प्रायः सफल प्रयोग किया है। इस विषय में 'रामचन्द्रिका' की सम्वाद-शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस कृति में उन्होंने पात्रों के सम्वादों को जिस संक्षिप्त, सारपूर्ण और मार्मिक रीति से उपस्थित किया है वैसा हिन्दी-काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

केशव की असफलता उनके द्वारा की गई अलंकारों और छन्दों की कृत्रिम योजना में निहित है। वह अलंकारवादी आचार्य थे अर्थात् काव्य में अलंकारों की योजना उन्हें विशेष प्रिय थी। यह अलंकार-प्रेम बढ़ते-बढ़ते मोह अथवा दुराग्रह की स्थिति तक पहुँच गया था। काव्य में अलंकारों का प्रयोग वहीं

तक प्रशंसनीय होता है जहाँ तक उनके द्वारा भाव-सौन्दर्य को हानि नहीं पहुँचती, किन्तु खेद है कि केशव इस सत्य को भूल गए थे। उन्होंने अलंकारों की योजना के लिए अनेक स्थानों पर भावों को क्षीण हो जाने दिया है। यह प्रवृत्ति उनके सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यदि उन्होंने इस ओर ऐसा आग्रह न रखा होता अर्थात् प्रयासपूर्वक अलंकार-योजना न की होती तो उनके काव्य में भावों की स्थिति निश्चय ही अधिक स्वाभाविक और समृद्ध रही होती। इसी प्रकार 'रामचन्द्रिका' में छन्दों का प्रयोग करने में भी वह विविध छन्दों का प्रयोग करने के मोह में फँस गए है। इस कृति में उन्होंने छन्दों को अत्यन्त शीघ्रता के साथ परिवर्तित किया है और सभी छन्दों का प्रयोग करने की इच्छा से व्यापक भावों को भी संक्षिप्त छन्दों में उपस्थित करने की असफल चेष्टा की है। इस प्रकार यह कृति प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त अनावश्यक रीति से छन्द-शाप का भी रूप धारण कर बैठी है। यदि केशव अपनी रचनाओं में इस प्रकार के दुराग्रह न रखते तो निश्चय ही आज उनके काव्य-कौशल की कहीं अधिक प्रशंसा की जाती, तथापि हम उनकी रचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि दोषयुक्त होने पर भी रीति काल के कवियों ने उनसे प्रेरणाएँ ली है।

: ३८ :

कविवर बिहारीलाल

रीति काल के प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल का जन्म सम्वत् १६६० के लगभग ग्वालियर राज्य में हुआ। उनके पिता श्री केशवराय माथुर ब्राह्मण थे। उनकी माता का उनके बचपन में ही स्वर्गवास हो गया था। इससे दुखी होकर उनके पिता ग्वालियर राज्य छोड़कर ओड़छा चले गए। उस समय उनकी आयु लगभग आठ वर्ष की थी। ओड़छा के पास गुढ़ौ नामक ग्राम में महात्मा नरहरिदास का आश्रम था। उनके धर्म-भाव से प्रभावित होकर श्री केशवराय

उनके शिष्य बन गए अतः बिहारीलालजी वहाँ विद्या प्राप्त करने लगे। उन्होंने ठीक समय पर संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के साहित्य का उत्कृष्ट परिचय प्राप्त कर लिया। ओड़छा रहते समय ही उनका परिचय प्रसिद्ध कवि केशवदास से हो गया और उनके प्रभाव से वह स्वयं भी काव्य-रचना के प्रति रुचि रखने लगे। इसके कुछ समय पश्चात् उनके पिता वृन्दावन की ओर चले गए। वहाँ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों ने बिहारी के कवि-हृदय को और भी अधिक प्रेरणा प्रदान की। इसी समय उनका विवाह मथुरा के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण की कन्या से सम्पन्न हो गया। कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण उन्हें विवाह के पश्चात् अपनी ससुराल में ही रहना पड़ा।

कविवर बिहारी के विवाह के पश्चात् महात्मा नरहरिदास भी वृन्दावन आ गए। सम्वत् १६७५ के लगभग जब मुग़ल शहज़ादा शाहजहाँ वृन्दावन गए तब महात्माजी ने उनका परिचय अपने शिष्य बिहारी से कराया। शाहजहाँ ने उनके काव्य-कौशल से प्रभावित होकर उन्हें आगरा आने के लिए निमन्त्रित किया। इस निमन्त्रण को स्वीकार कर बिहारी आगरा गए और वहाँ रह कर उन्होंने उर्दू तथा फारसी भाषाओं के साहित्य का विशेष अध्ययन किया। लगभग तीन वर्ष पश्चात् बिहारी आगरा छोड़कर एकान्त साहित्य-चिन्तन करने लगे। सम्वत् १६६२ के लगभग वह आमेर राज्य की ओर गए। उस समय वहाँ महाराज जयसिंह का शासन था, किन्तु वह राज-कार्य की ओर उचित ध्यान न देकर अपनी नवविवाहिता पत्नी के अनुराग में लीन थे। बिहारी ने उन्हें राज्य का स्मरण दिलाने के उद्देश्य से उनके पास निम्नलिखित दोहा भेजा—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे को पढ़ने पर महाराज जयसिंह की सुप्त चेतना फिर से जाग्रत हुई। उन्होंने मोह का त्याग कर राज-कार्य में फिर उचित भाग लेने का निश्चय किया और बिहारी का सम्मान कर उनसे उसी प्रकार के अन्य दोहों की रचना करने का आग्रह किया। बिहारी ने उनके यहाँ रहकर अनेक श्रेष्ठ दोहों की रचना की जिनका संग्रह इस समय

'बिहारी-सतसई' के रूप में उपलब्ध होता है। इन दोहों की रचना से उन्हें धन और यश, दोनों की प्राप्ति हुई। वास्तव में हिन्दी के सतसई-काव्य में कविवर बिहारी की सतसई का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। इसकी श्रेष्ठता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि अपने रचना-काल से अब तक इसने अनेक कवियों को प्रभावित किया है। बिहारी के उपरान्त न केवल रीति काल में ही, अपितु आधुनिक काल में भी दोहा छन्द में काव्य-रचना करने वाले अनेक कवियों ने उनके काव्य से प्रेरणा ली है। इसी प्रकार आलोचकों का ध्यान भी इस कृति पर विशेष रूप से केन्द्रित रहा है। इस समय 'बिहारी-सतसई' की जितनी टीकाएँ उपलब्ध होती है उतनी टीकाएँ अन्य किसी भी काव्य की नहीं की गई है। बिहारी के काव्य की आलोचना करने में भी पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि अनेक आलोचकों ने प्रमुख भाग लिया है। हिन्दी-भाषा के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू आदि अन्य भाषाओं में भी 'बिहारी-सतसई' के रूपान्तर उपलब्ध होते हैं।

बिहारी की रस-योजना

कविवर बिहारी के काव्य की सबसे बड़ी सफलता उनकी रस-योजना में निहित है। उन्होंने अपनी सतसई में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है, किन्तु उनके कुछ दोहों में शान्त रस, वीर रस और हास्य रस का भी सुन्दर समावेश हुआ है। हिन्दी के शृंगार रस के कवियों में बिहारी का उच्च स्थान है। उन्होंने इस रस के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों का व्यापक चित्रण किया है। उन्होंने अपने काव्य में श्रीकृष्ण को नायक तथा राधा और अन्य गोपियों को नायिकाओं के रूप में उपस्थित किया है। अतः उनके दोहों में शृंगार रस का सम्बन्ध भी इन्हीं पात्रों से रहा है। उन्होंने वियोग शृंगार की अपेक्षा संयोग शृंगार के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया है और इसी में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

कविवर बिहारी ने अपने काव्य में शृंगार रस के संयोग पक्ष की योजना करते समय सौन्दर्य-प्रतिपादन की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया है। उन्होंने नायिका के सौन्दर्य का विशद चित्रण करने के अतिरिक्त नायक के सौन्दर्य का उल्लेख करने की ओर भी उचित ध्यान दिया है। उनके द्वारा उपस्थित किए

गए रूप-चित्रण कल्पना और स्वाभाविकता से युक्त होने के कारण हृदय पर तुरन्त प्रभाव डालते हैं। रूप-चित्रण के साथ-साथ अनुभाव-विधान की ओर उपयुक्त ध्यान देकर भी उन्होंने अपने काव्य का शृंगार किया है। इन दोनों के अतिरिक्त उन्होंने अपने काव्य में दूती द्वारा नायक-नायिका के प्रेम-सम्बन्ध को निकट लाने और नायिका के अभिसार के लिए प्रस्थान करने का भी वर्णन किया है। संयोग शृंगार के सूक्ष्म तत्त्वों के अतिरिक्त उन्होंने उसके स्थूल तत्त्वों का भी उल्लेख किया है। आगे हम नायिका के रूप-वर्णन से सम्बन्धित उनका एक उत्कृष्ट दोहा उपस्थित करते हैं—

हौं रीझी, लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोनजुही-सी होति दुति, मिलत मालती माल॥

संयोग शृंगार की भाँति कविवर बिहारी ने वियोग शृंगार को लेकर भी अनेक दोहों की रचना की है। इन दोहों में विषय का कल्पना के द्वारा प्रायः बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। यह वर्णन अनेक स्थानों पर अस्वाभाविकता की स्थिति तक पहुँच गया है। यही कारण है कि बिहारी को वियोग शृंगार की योजना में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके विरह-वर्णनों में स्वाभाविकता का सर्वत्र अभाव रहा है। उनके कुछ दोहे इस दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए उनकी विरहिणी नायिका की नायक के लिए निम्नलिखित उक्ति देखिए—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात॥

कविवर बिहारी ने शृंगार रस के अतिरिक्त शान्त रस की भी श्रेष्ठ योजना की है। इस दृष्टि से उनके भक्ति और नीति से सम्बन्धित छन्द अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़े हैं। उनके भक्ति-सम्बन्धी दोहों में श्रीकृष्ण की उपासना की गई है। 'बिहारी-सतसई' के मंगलाचरण के दोहे में उन्होंने राधा से भी कृपा की याचना की है। उनके नीति-सम्बन्धी दोहों में भी जीवन के अनुभवों का व्यापक चित्रण हुआ है। इन दोहों में आशीर्वाद को स्पष्टतः प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इनका अध्ययन करने पर पाठक को जीवन में उन्नति करने का सन्देश प्राप्त होता है। यद्यपि उन्होंने भक्ति और नीति को

लेकर अधिक छन्दों की रचना नहीं की है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि उनके इस प्रकार के छन्दों में भक्ति-काल के कवियों के भक्ति तथा नीति-सम्बन्धी छन्दों की गरिमा उपलब्ध होती है । उदाहरण के लिए उनका निम्नलिखित दोहा देखिए—

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारन-हार ।।

शान्त रस के अतिरिक्त 'बिहारी-सतसई' में वीर रस और हास्य रस के कुछ छन्द भी उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार के छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं । वीर रस के छन्दों में उन्होंने अपने आश्रयदाता महाराज जयसिंह की वीरता की प्रशंसा की है । रस-योजना के पश्चात् उनके काव्य में प्रकृति-चित्रण और कल्पना के उपयोग का अध्ययन करना होगा । प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से उन्होंने स्वतन्त्र दोहों की अत्यन्त सीमित रचना की है, किन्तु शृंगार रस के उद्दीपन में सहायक के रूप में प्रकृति को उनके अनेक दोहों में प्रासंगिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । इसी प्रकार कल्पना का उपयोग भी उन्होंने स्वाभाविक और ऊहात्मक (बड़ा-चढ़ा कर किया गया वर्णन), दोनों रूपों में किया है ।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कविवर बिहारी ने अपने काव्य में विविध भावों को श्रेष्ठ अभिव्यक्ति प्रदान की है । उनके दोहों का विशेष सौन्दर्य उनकी समास-शक्ति में निहित है । समास-शक्ति से हमारा तात्पर्य व्यापक भावों को संक्षेप में उपस्थित करने में सहायता देने वाली शक्ति से है । बिहारी को इस दिशा में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है । उन्होंने दोहे जैसे संक्षिप्त छन्द में जिन विशद भावों का समावेश किया है उन्हें देखकर सहसा मुग्ध रह जाना पड़ता है । उनके काव्य की इस विशेषता का कारण यह है कि उन्होंने अपने दोहों में कहीं भी व्यर्थ के शब्दों का प्रयोग नहीं किया है । उनके शब्दों में दीर्घ अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति का सहज समावेश हुआ है । इसी कारण उनके काव्य के विषय में निम्नलिखित उक्ति प्रसिद्ध है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर ।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिहारी के काव्य की भाषा सुगठित है और उसमें व्यापक भावों को संक्षेप में उपस्थित करने का गुण वर्त्तमान है। अन्य कला-तत्त्वों में उन्होंने अलंकारों का भी स्वाभाविक प्रयोग किया है। उनके काव्य में विविध शब्दालंकार और अर्थालंकार व्यापक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु उन्होंने कहीं भी उनकी कृत्रिम योजना नहीं की है। उनकी शैली भी प्रवाहपूर्ण है। उन्होंने अपने काव्य की रचना केवल दोहा छन्द में की है और उसकी योजना में उन्हें सर्वत्र सफलता मिली है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि बिहारी ने केवल एक ही कृति की रचना की है, तथापि उसमें उन्हें सभी दृष्टियों से पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

: ३९ :

महाकवि भूषण

महाकवि भूषण का जन्म सम्वत् १६७० में हुआ था और मृत्यु सम्वत् १७७२ में हुई थी। उनके पिता का नाम पं० रत्नाकर त्रिपाठी था। उनके अन्य दो भाई—चिन्तामणि एवं मतिराम—भी रीति काल के उत्कृष्ट कवि थे। उनका वास्तविक नाम अज्ञात है। 'भूषण' की उपाधि उन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र द्वारा प्राप्त हुई थी। वह छत्रपति शिवाजी के आश्रित कवि थे और उनकी प्रशंसा में उन्होंने पर्याप्त काव्य की रचना की है। पन्ना नगरी के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी उनका अतिशय मान था। यहाँ तक कि एक बार महाराज छत्रसाल ने उनकी पालकी में अपना कन्धा लगा दिया था। इसी कारण उन्होंने कहा था—

सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल कौं।

भूषण के 'शिवराज-भूषण', 'शिवाबावनी' एवं 'छत्रसाल-दशक' नामक ग्रन्थ सर्वप्रसिद्ध हैं। उनके काव्य की अपनी अनेक मौलिक विशेषताएँ हैं। उन्होंने राष्ट्रीय काव्य की श्रेष्ठ रूप में रचना की है। आधुनिक दृष्टिकोण से

चाहे उन्हें राष्ट्रीय कवि न कहकर जातीय कवि कहा जाये, किन्तु उस समय की परिस्थिति को देखते हुए उनकी कविता राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत ही कही जायेगी। उन्होंने अपने काव्य में ऐतिहासिकता का भा पर्याप्त पालन किया है। रीतिकाल के शृंगारिक वातावरण में श्वास लेते हुए भी उन्होंने वीर रस के काव्य का सृजन किया है। वीर रस के अनुकूल ही उनकी भाषा भी अत्यन्त ओजस्विनी और प्रवाहपूर्ण रही है।

कविवर भूषण का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान है। उनके काव्य का महत्त्व सबसे अधिक इस बात में है कि उन्होंने उसकी रचना उस समय की जब अन्य कवि शृंगार रस की कविताएँ लिख रहे थे। उनके अतिरिक्त कविवर लाल और सूदन ने भी रीतिकाल में वीर रस का ही काव्य लिखा है। इस प्रकार इन कवियों को नवीन भावों को उपस्थित करने का गौरव प्राप्त है। इनमें भूषण का प्रमुख स्थान है। जहाँ उन्होंने वीर रस का काव्य लिखकर रीतिकाल के अन्य कवियों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया है वहाँ 'शिवराजभूषण' के रूप में काव्य-शास्त्र की रचना द्वारा उन्होंने अपने युग के कवियों की रीति-परम्परा में भी भाग लिया है।

भूषण की रचनाओं में रस-संचार की दृष्टि से 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' का अधिक महत्त्व है। नामों के अनुसार इनमें से प्रथम काव्य में ५२ छन्द तथा द्वितीय काव्य में १० छन्द होने चाहिएँ; किन्तु इस समय प्राप्त होने वाली प्रतियों में दोनों ही काव्य अधिक छन्दों से युक्त हैं। इन छन्दों की रचना स्वतन्त्र रूप में की गई है। अतः इनमें रस के समावेश में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पाई है। इन दोनों काव्यों में क्रमशः महाराज शिवाजी तथा महाराज छत्रसाल की वीरता का वर्णन किया गया है। 'शिवराज भूषण' की रचना में भूषण को इतनी सफलता नहीं मिली है। इसका कारण यह है कि उन्होंने इस काव्य को हृदय की प्रेरणा से नहीं लिखा है। यह एक अलंकार-ग्रन्थ है। अतः इसमें उन्होंने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण देने में अपनी प्रतिभा दिखलाई है। उनके द्वारा उपस्थित किए गए लक्षण साधारण है और उन्होंने इस क्षेत्र में कोई विशेष मौलिकता नहीं दिखाई है। इसी प्रकार अलंकारों के उदाहरणों में भी काव्य-सौन्दर्य का पर्याप्त अभाव रहा

है। इन उदाहरणों में उन्होंने सर्वत्र महाराज शिवाजी की वीरता का वर्णन किया है, किन्तु इनमें प्राय: भावों का उचित प्रवाह नहीं मिलता।

भूषण के काव्य में राष्ट्रीयता

भूषण के काव्य में राष्ट्रीयता की खोज करने से पहले राष्ट्रीयता के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। 'राष्ट्रीयता' से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण राष्ट्र विकास के लिए किए गए विविध कार्यों से है। इस समय कुछ विद्वान् भूषण को राष्ट्रीय कवि मानते हैं और कुछ इसका विरोध करते हैं। उन्हें राष्ट्रीय कवि न मानने का कारण यह है कि इस समय राष्ट्रीयता का अर्थ बदल गया है। मध्य युग में हिन्दू धर्म की व्यापकता के कारण हिन्दुत्व की रक्षा को ही राष्ट्रीय कार्य माना जाता था। वर्तमान युग में राजनैतिक तथा सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन आने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के द्वारा राष्ट्रीयता के क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार हुआ है। अतः भूषण के काव्य में राष्ट्रीयता की खोज नवीन दृष्टि के स्थान पर मध्य युग की राष्ट्रीय दृष्टि से ही की जानी चाहिए।

काव्य में राष्ट्रीयता का समावेश करने के लिए कवियों को अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण करना होता है। इसके लिए उन्हें अपने काव्य में राष्ट्र के सामाजिक और राजनैतिक विकास की इच्छा व्यक्त करनी चाहिए। इसके साथ ही जो व्यक्ति राष्ट्रीय विकास के लिए कार्य करते है उनकी प्रशंसा भी राष्ट्रीय काव्य में की जानी चाहिए। इस प्रकार के काव्य में कवि को राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं में निवास करने वाली प्रत्येक जाति के प्रति सद्भावना प्रकट करते हुए उनके प्रति द्वेष-भाव का त्याग कर देना चाहिए। आधुनिक युग में राष्ट्रीय काव्य में इन तीनों बातों के समावेश को आवश्यक माना जाता है। भूषण के काव्य की आलोचना करते समय हिन्दुत्व को राष्ट्रीयता का प्रतीक मानने पर हम देखते हैं कि उन्होंने अपने काव्य में हिन्दुओं के सामाजिक और राजनैतिक विकास की सर्वत्र कामना की है। इसी प्रकार उस युग में हिन्दुत्व के प्रमुख सचेतकों—महाराज शिवाजी और महाराज छत्रसाल—के यश का भी उन्होंने भरपूर वर्णन किया है। उन्होंने अपने काव्य में हिन्दुओं के सामूहिक विश्वास को आवश्यक मानते हुए विदेशी शासन के भार से मुक्त

होने की इच्छा प्रकट की है। अतः यह स्पष्ट है कि मध्य युग की राष्ट्रीय दृष्टि के अनुसार हम भूषण के काव्य को राष्ट्रीयता से युक्त मान सकते हैं। आगे हम परिचय के लिए उनके काव्य से महाराज शिवाजी की प्रशंसा में लिखित एक उत्कृष्ट छन्द उपस्थित करते हैं—

इन्द्र जिमि जंभ पर वाडव सुग्रंब पर,
रावण सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुम-दण्ड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं॥

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविवर भूषण ने अपने काव्य में वीर रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है। इस रस के सहायक रसों के रूप में उन्होंने भयानक रस और रौद्र रस का प्रयोग किया है। उनके काव्य में वीर रस के सभी अंग प्राप्त होते हैं। उसका 'उत्साह' स्थायी भाव उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त रहा है। हिन्दी में वीर-काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार महाराज शिवाजी और महाराज छत्रसाल से सम्बन्धित साहित्य की रचना करने वाले लेखकों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

कला-पक्ष की दृष्टि से भूषण ने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा में की है। उनकी भाषा में ओज गुण पूर्ण रूप से वर्तमान है और वह वीर रस सर्वथा अनुकूल है। मुग़ल-सम्राट् औरंगजेब और उनके दरबारियों का वर्णन करते समय उन्होंने अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनके काव्य की रचना दोहा, कवित्त और सवैया आदि विविध छन्दों में हुई है। अलंकारों का प्रयोग करते समय उन्होंने स्वाभाविकता और कृत्रिमता दोनों का ही परिचय दिया है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि काव्य-शिल्प की दृष्टि से भूषण का काव्य साधारणतः सफल ही है। आगे हम

उनकी काव्य-शक्ति के विषय में कविवर वियोगी हरि की 'वीर सतसई' से दो दोहों को उपस्थित कर इस निबन्ध को समाप्त करते हैं—

सिवा-सुजस-सरसिज-सुरस-मधुकर मत्त अनन्य ।
रस-भूषण-भूषण, सुकवि-भूषण, भूषण धन्य ।।
किधौं इन्द्र कौ बज्र, कै प्रलय-कृसानु अमन्द ।
किधौं रुद्र रण-चण्ड-चखु, कवि भूषण कौ छन्द ।।

: ४० :

कविवर घनआनन्द

हिन्दी के अनेक अन्य प्राचीन कवियों की भाँति कविवर घनआनन्द के जीवन के विषय में भी निश्चित रूप में अधिक बातें नहीं मिलतीं। प्रारम्भ में आलोचकों ने उनका जन्म-काल सम्वत् १७४६ माना था, किन्तु पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'घनआनन्द' शीर्षक ग्रन्थ में शोध के आधार पर उनका जन्म सम्वत् १७३० के आसपास माना है। उनका जन्म एक कायस्थ परिवार में हुआ था। वय-प्राप्त होने पर उन्होंने दिल्ली के मुग़ल-सम्राट् मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में मीर मुंशी के पद पर कार्य करना आरम्भ कर दिया। जनश्रुति के अनुसार बादशाह मुहम्मदशाह के राज-दरबार में सुजान नाम की एक नर्तकी आया करती थी। उसका दरबार में अच्छा सम्मान था। संयोग से कविवर घनआनन्द उसके सौन्दर्य और व्यवहार पर मुग्ध हो गए। यह प्रेम क्रमशः विकसित होता गया। घनआनन्द के काव्य का अध्ययन करने पर उनके इस अनुराग के स्पष्ट संकेत प्राप्त किए जा सकते हैं।

सुजान के प्रति घनआनन्द के इस प्रेम-भाव को देखकर कुछ राज-दरबारियों को उनसे द्वेष हो गया। वह बादशाह द्वारा उन्हें दण्ड दिलाने के विषय में सोचने लगे। एक योजना बनाकर उन्होंने बादशाह को यह सूचना दी कि घनआनन्द गान-विद्या में निपुण हैं—अतः उनसे किसी दिन दरबार में

गाना सुनाने का आग्रह किया जाए। यद्यपि घनआनन्द को राग-रागिनियों और वाद्य-संगीत का उचित ज्ञान था, तथापि बादशाह के कहने पर वह संकोच के कारण इस विषय में अपनी असमर्थता ही प्रकट करते रहे। इससे लाभ उठाकर उनके विरोधियों ने बादशाह से कहा है कि घनआनन्द सुजान से प्रेम करते है और उसके कहने पर दरबार में तुरन्त आ सकते हैं। बादशाह ने उसी समय सुजान को दरबार में बुलाया। उसे देखकर घनआनन्द प्रायः आत्मविस्मृत हो गए और उन्होंने अपने संगीत से पूरी राजसभा को मुग्ध कर दिया। बादशाह ने इसे अपना अपमान समझा और घनआनन्द को देश-त्याग का दण्ड दिया। घनआनन्द को इसमें कोई आपत्ति न हुई, किन्तु जब सुजान ने उनका तिरस्कार करते हुए उनके साथ जाना स्वीकार नहीं किया तब उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। ऐसी स्थिति में संसार का मोह त्यागकर उन्होंने वृन्दावन जाकर निम्बार्क भक्ति-सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली।

कविवर घनआनन्द के दीक्षागुरु श्रीयुत वृन्दावनदेव थे। अपनी 'परमहंस-वंशावली' शीर्षक कृति में घनआनन्द ने निम्बार्क-सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इस सम्प्रदाय के नियमों के अनुसार श्रेष्ठ भक्तों को 'सखीनाम' प्रदान किए जाते थे। जिन भक्तों को ऐसे नाम प्राप्त हो जाते थे उन्हें राधा-कृष्ण के अधिक निकट माना जाता था। घनआनन्द ने भी इस सम्प्रदाय में रहते हुए तन्मय होकर भक्ति की थी। इस कारण उन्हें भी 'बहुगुनी' नाम की सखी-पदवी प्रदान की गई थी। अपने 'प्रियाप्रसाद' शीर्षक काव्य में उन्होंने इसका इस प्रकार उल्लेख किया है—

राधा धर्‌यौ बहुगुनी नाऊँ।
टरि लगि रहौं बुलाएँ जाऊँ॥

रीतिकाल में आनन्द और आनन्दघन नामक दो अन्य कवि भी हुए थे। कविवर घनआनन्द से इनके नाम की समता ने भी आलोचकों के कार्य को जटिल बनाया है अर्थात् नाम-साम्य के कारण घनआनन्द के काव्य में शेष दोनों कवियों के काव्य का समावेश होने की आशंका रहती है। घनआनन्द ने अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है। अतः इस प्रकार के पद-समावेश की संभावना और भी अधिक हो जाती है।

उनके काव्य अथवा काव्यांशों की अनेक सम्पादित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'घनआनन्द' शीर्षक ग्रन्थ सर्वप्रमुख है।

घनआनन्द के काव्य का महत्त्व उनके भावों की मार्मिकता और भाषा की स्वच्छता में निहित है। उनके भाव अनुभव से प्रेरित रहे है। अतः उनमें पाठक के हृदय को प्रभावित करने की शक्ति का पूर्ण रूप से समावेश हुआ है। रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति उनके काव्य में भी श्रृंगार रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने श्रृंगार रस के संयोग और वियोग नामक दोनों पक्षों का प्रभावशाली चित्रण किया है। इस दृष्टि से जहाँ उन्होंने संयोग श्रृंगार के विविध अंगों का स्वच्छ रीति से चित्रण किया है वहाँ उनके वियोग-वर्णनों में भी ऊहात्मकता (बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना) को स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। रसात्मकता की दृष्टि से उनके छन्दों का प्रभाव रीतिकाल के किसी भी कवि के काव्य से कम नहीं है।

रस-योजना की भाँति कविवर घनआनन्द के काव्य में चरित्र-चित्रण की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रचलित कथानक को लेकर की है। अत. उनके काव्य में चरित्र-चित्रण का स्वरूप एक विशेष परम्परा पर आधारित रहा है। उनके छन्दों में प्रेम की पीर के चित्रण को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। नर्तकी सुजान के अनुराग में मग्न होने के कारण घनआनन्द के हृदय में इस प्रेम-पीड़ा का चित्रण करने के लिए आवश्यक भावात्मकता पूर्ण रूप से विद्यमान थी। उन्होंने अपने काव्य की रचना सर्वत्र एक भावुक कवि के रूप में की है। इस कारण उनके पात्रों में भी भावुकता के विकास की अधिक स्पष्ट सम्भावनाएँ हो सकी है।

भाव-सौन्दर्य की योजना के लिए रस और चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त रीतिकाल के कवि कल्पना के प्रयोग और प्रकृति-चित्रण की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया करते थे अतः घनआनन्द के काव्य में भी कल्पना का सामान्यतः अच्छा प्रयोग प्राप्त होता है। इस कल्पना का स्वरूप प्रायः स्वाभाविक ही रहा है और इसमें कृत्रिमता का आश्रय नही लिया गया है। श्रीकृष्ण के जीवन से

सम्बन्धित होने के कारण कृष्ण-काव्य में प्रकृति-चित्रण के लिए भी पर्याप्त सुविधा रहती है। इस दिशा में वृन्दावन, यमुना, कुंज-छवि आदि अनेक तत्त्वों का प्रासंगिक रूप से सहज ही वर्णन किया जा सकता है। कविवर घनआनन्द के काव्य में भी प्रसंग आने पर प्रकृति का चित्रण किया गया है। उपर्युक्त विशेषताओं द्वारा उन्होंने अपने काव्य के भाव-पक्ष को अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रीतिकाल की सभी भाव-सम्बन्धी विशेषताएँ उनके काव्य में सहज रूप से प्राप्त हो जाती है।

भाव-सौन्दर्य की भाँति काव्य की सफलता के लिए उसमें कला-सौन्दर्य की योजना भी नितान्त आवश्यक होती है। कविवर घनआनन्द ने इस आवश्यकता की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम उनकी भाषा पर विचार करेंगे। उन्होंने अपने काव्य की रचना सरल ब्रजभाषा में की है। ब्रजभाषा के मधुर स्वरूप का प्रयोग करने में उनके समान सफलता केवल कविवर रसखान को ही प्राप्त हो सकी है। उन्होंने ब्रजभाषा को जो मधुर प्रवाह प्रदान किया है और उसके स्वाभाविक रूप की जिस प्रकार रक्षा की है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। उनकी भाषा सर्वत्र विषय के अनुरूप रही है और उसमें कृत्रिमता को स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। इससे काव्य-रचना में उनकी दक्षता का पूर्ण रूप से परिचय प्राप्त हो जाता है। उनकी भाषा की स्वच्छता की सभी आलोचकों ने प्रशंसा की है। उनके बाद ब्रजभाषा में काव्य-रचना करने वाले कवियों ने उनके काव्य की मधुर भाषा का अनुकरण करने का प्रयास किया है।

कविवर घनआनन्द ने अपने काव्य में अलंकारों का भी स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया है। कवि श्री केशवदास काव्य में अलंकारों की किसी-न-किसी रूप में निश्चित प्रयोग करने की प्रवृत्ति मे विश्वास नहीं रखते थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य, दोनों के विकास में सहायक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपने काव्य की रचना करते समय एक ओर तो छन्दों का आश्रय लिया है और दूसरी ओर राग-रागिनियों के आधार पर गीति-काव्य की रचना की है। उन्हें संगीत-शास्त्र का व्यापक ज्ञान प्राप्त था। अतः अपने पदों की रचना करते समय उन्हें पूर्ण सफलता

मिली है। आगे हम उनका एक विरह-पद उपस्थित करते है—

आइ सुधि लेहु सबेरी स्याम।
औसर गएँ बहुरि कहा ऐहौ ब्रजजीवन धरि नाम॥
रही निपट मुरझाइ बिलखि बलि प्रबल बिरह के घाम।
आनन्दघन रस सींचि हरीं करौ बेलि बिचारीं बाम॥

: ४१ :

कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सम्वत् १९०७ में काशी में हुआ था। उनके पूर्वजों में इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतेन्दु जी धनी होते हुए भी अत्यन्त सरल और स्वच्छ स्वभाव वाले व्यक्ति थे। साहित्य-रचना की प्रतिभा उनमें अपने बचपन से ही विद्यमान थी। उन्होंने हिन्दी में कविताओं, निबन्धों और नाटकों की रचना की है। वह युग-प्रवर्तक कलाकार थे। साहित्य को निरन्तर विकास की ओर ले जाना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन द्वारा भी उन्होंने इस लक्ष्य को पूर्ण करने का प्रयत्न किया था। हिन्दी में गद्य-शैली को नवीन रूप में विकसित करने और खड़ीबोली में गद्य लिखने की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अत्यन्त ठोस है और मनोरंजन के साथ-साथ मार्मिक उपदेश भी प्रदान करता है। उनकी मृत्यु सम्वत् १९४१ में हुई थी।

कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र असाधारण प्रतिभा से युक्त कलाकार थे। वह अपनी शैली को विषय के अनुसार बदलने में पूर्णत: दक्ष थे। वह बोलचाल की सरल भाषा के प्रयोग के समर्थक थे। उन्होंने अपनी रचनाओं को बोझिलता से बचाने के लिए अनेक स्थानों पर शिष्ट हास्य की भी सुन्दर योजना की है। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति को स्पष्ट करने का सर्वत्र ध्यान रखा गया है।

उनके युग के अन्य कवियों में श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रताप-नारायण मिश्र, श्री श्रीधर पाठक, बाबू राधाकृष्णदास और पं० अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी कवियों ने भारतेन्दु जी के काव्य से पर्याप्त प्रेरणा ली है। भारतेन्दु जी अपने सहयोगियों को साहित्य-रचना के लिए विविध सुझाव भी दिया करते थे। इसी कारण जहाँ उन्होंने राष्ट्र और समाज को लेकर स्वयं नवीन विषयों पर काव्य लिखा है वहाँ उन्होंने अपने युग के अन्य कवियों को भी इसकी प्रेरणा प्रदान की है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियों की योजना द्वारा भी वह साहित्यकारों को प्रोत्साहन दिया करते थे।

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। उनकी रचनाओं में एक ओर तो भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति तीव्र अनुराग मिलता है और दूसरी ओर उन्होंने राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर भी अपने काव्य में अनेक उपयोगी भावनाओं को व्यक्त किया है। उनके काव्य का भाव-क्षेत्र विविध विषयों की ओर उन्मुख रहा है। उनके भावों में अनुभव और चिन्तन की छाप सर्वत्र वर्त्तमान रही है। यही कारण है कि उनके काव्य का अध्ययन करने पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय भावनाओं के अतिरिक्त उन्होंने अपने काव्य में भक्ति, प्रेम, विरह, कृष्ण-लीला तथा हास्य रस के प्रतिपादन की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। हिन्दी-कविता के गतिरोध को दूर कर उसे अनेक विषयों की ओर उन्मुख करना ही उनका मूल लक्ष्य था और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने काव्य में भाव-सौन्दर्य की योजना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। उनकी रचनाओं में रस का अबाध निर्झर प्रवाहित रहा है। उन्होंने मुख्य रूप से शृंगार रस, शान्त रस और हास्य रस का प्रयोग किया है, किन्तु अन्य रसों में से भी अधिकांश उनके काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं। उनके शृंगार रस और शान्त रस का सम्बन्ध श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व से रहा है। शृंगार रस के छन्दों में उन्होंने श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का मधुर चित्रण किया है। शान्त रस के छन्दों में भी उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति अपने भक्ति-भावों को उपस्थित किया है। रस-प्रयोग के अतिरिक्त उन्होंने कल्पना की आकर्षक योजना की ओर भी समुचित ध्यान दिया है। यद्यपि उन्होंने

कल्पना का अधिक आश्रय नहीं लिया है, तथापि उनके काव्य में उसका प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

भारतेन्दु जी की कविताओं में प्रकृति-चित्रण को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रकृति की मोहक छवि को अनेक रूपों में उपस्थित किया है। इस दृष्टि से उनकी 'गंगा-वर्णन' और 'यमुना-छवि' शीर्षक कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका प्रकृति-वर्णन आलम्बन-रूप की अपेक्षा आलंकारिक शीर्षक कविता रूप में अधिक हुआ है। आगे हम उनकी 'गंगा-वर्णन' की कुछ उत्कृष्ट पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं--

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

भारतेन्दु जी की काव्य-चेतना कुछ विशेष भावनाओं की परिधि में बँधी हुई नहीं थी। वह साहित्य, समाज, राष्ट्र, भक्ति आदि विविध क्षेत्रों की ओर सहज रूप से उन्मुख रही थी। यही कारण है कि उनके काव्य में स्थान-स्थान पर अनुभव, चिन्तन और कल्पना का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। इन तीनों से युक्त होने के कारण उनके काव्य का अध्ययन पाठक पर विशेष प्रभाव छोड़ता है। इनकी योजना में उन्हें अधिक सफलता इसलिए प्राप्त हुई है कि वे कवि के लिए मानव-जीवन और समाज-व्यवहार से परिचित होना आवश्यक मानते थे। इन दोनों की ओर उन्मुख होने पर यह असम्भव है कि कवि मार्मिक काव्य की रचना न कर सके।

भारतेन्दु जी ने अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है। स्वतन्त्र छन्दों और गेय पदों के अतिरिक्त उन्होंने अपने नाटकों में भी कुछ कविताओं का समावेश किया है। छन्द-योजना से युक्त काव्य की भाँति उन्होंने गाने योग्य पदों की अत्यन्त सफलतापूर्वक रचना की है। वह हिन्दी-भाषा के प्रबल समर्थक थे। राष्ट्र के विकास के लिए वह उसका अधिक से अधिक प्रयोग करने का परामर्श देते थे। हिन्दी-साहित्य को समृद्धि की ओर ले जाने के लिए उन्होंने एक ओर तो पद्य-रचना के लिए नवीन विषयों को अपनाया

और दूसरी ओर हिन्दी की अव्यवस्थित गद्य-शैली को भी व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। गद्य-रचना की दृष्टि से उन्होंने नाटक, निबन्ध, आलोचना और पत्र-सम्पादन के क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का उपयुक्त परिचय दिया है। वह काव्य में सजीव, स्वाभाविक और बोलचाल में आने वाली भाषा के प्रयोग पर बल देते थे। उन्होंने अपने काव्य की रचना सरल ब्रजभाषा में की है और उसमें माधुर्य गुण तथा प्रसाद गुण का उपयुक्त समावेश हुआ है। उनके काव्य की शैली भी प्रवाहपूर्ण रही है। विषय के अनुसार शैली का परिवर्तन करने में भी वह पूर्णतः कुशल थे। यही कारण है कि उनके काव्य में अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ है। इनमें से प्रगति शैली मुख्य है। आगे हम इस शैली में लिखा गया उनका एक उत्कृष्ट भक्ति-पद उपस्थित करते है—

रहै क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैननि में हरि रस छायो, तहँ भावैं किमि कोय ?
जा तन मे रमि रहे मोहन, तहाँ ग्यान क्यों आवैं।
चाहौ जितनी बात प्रबोधौ, ह्याँ को जो पतियावैं॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलैं।
हरीचन्द, ब्रज कौ कदली बन, काटौ तौ फिर फूलैं॥

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे। उन्होंने अपने काव्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद, दोनों का ही आश्रय लिया है। इस दृष्टि से उन्होंने अपने युग के लोक-जीवन का चित्रण करते हुए जनता और शासक-वर्ग को आदर्शों की ओर जाने का सन्देश दिया है। उन्होंने देश की उन्नति और अवनति का चित्रण करने की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। जहाँ विदेशियों के शासन में देश को विकसित होते हुए देखकर प्रसन्नता होती थी वहाँ देश के धन को विदेश जाते हुए देखकर उन्हें अपार दुःख भी होता था। इसी प्रकार की स्थितियों को देखकर उन्होंने निम्नलिखित भावों की करुण अभिव्यक्ति की है—

रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

: ४२ :

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

'हरिऔध' जी का जन्म सम्वत् १६२२ में जिला आजमगढ़ के निजामाबाद नामक स्थान पर हुआ था। वह हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फारसी आदि विविध भाषाओं के विद्वान् थे और उन्होंने इन सभी भाषाओं की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का अध्ययन किया था। उन्होंने काव्य, उपन्यास, आलोचना और निबन्ध के रूप में पर्याप्त साहित्य की रचना की है। उनकी मत्यु सम्वत् २००२ में हुई थी। 'हरिऔध' जी द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि थे। उनकी भाषा तथा भाव-धारा पर तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उन्होंने 'प्रियप्रवास' तथा 'वैदेही-बनवास' शीर्षक दो उत्कृष्ट महाकाव्यों के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में 'चुभते चौपदे' एवं 'चोखे चौपदे' के समान मनोरंजक तथा शिक्षात्मक कृतियों को भी उपस्थित किया है। उनकी कृतियों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें भाषा की सहजता और शैली के प्रवाह के साथ-साथ मुहावरों का चुटीलापन भी प्राप्त होता है।

'हरिऔध' जी ने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति की मनोवैज्ञानिक आधार पर उत्कृष्ट व्याख्या उपस्थित की है। उन्होंने संस्कृत के वर्णिक छन्दों में अतुकान्त काव्य की रचना करने की दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। उनके काव्य में सरल, मौलिक, गम्भीर और मार्मिक भाव-धारा प्राप्त होती है। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ पाठक के हृदय का तुरन्त स्पर्श करती है और वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने हिन्दी में बाल-साहित्य का प्रभाव देखकर किशोरावस्था के बालकों के लिए भी सुन्दर रचनाएँ उपस्थित की है। वैसे उनकी पद्य और गद्य, दोनों को लिखने में समान गति थी। आज इन दोनों ही क्षेत्रों में उनका पर्याप्त सम्मान है। गद्य के क्षेत्र में उनकी 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' शीर्षक कृति उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' शीर्षक उपन्यासों में भी उन्होंने शुद्ध खड़ीबोली का प्रयोग कर गद्य-रचना में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'हरिऔध' जी ने कविता, आलोचना और उपन्यासों की रचना द्वारा हिन्दी-साहित्य के विकास में योग प्रदान किया है। इनमें से उन्हें कविता और आलोचना के क्षेत्रो में अपनी प्रतिभा को विकसित करने का अधिक अवकाश मिला है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह मूल रूप से कवि थे, तथापि उन्होंने अपने काव्यों की भूमिकाओं और स्वतन्त्र आलोचना-ग्रन्थों द्वारा अपने आलोचक-रूप का भी स्पष्ट परिचय उपस्थित किया है। उन्होंने अपने काव्य में वर्णन के लिए अनेक विषयों को अपनाया है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने अपने काव्य में भक्ति, प्रकृति और नीति के प्रतिपादन की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना द्विवेदी-युग में की थी। अतः इस युग की अन्य भाव-विशेषताएँ भी उनके काव्य में यथास्थान उपलब्ध हो जाती हैं। भक्ति के क्षेत्र में उनकी 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-बनवास' नामक दो कृतियाँ मिलती हैं। इनमें क्रमशः कृष्ण-भक्ति को स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अपनी कतिपय स्वतन्त्र कविताओं में भी उन्होंने भक्ति को स्थान प्रदान किया है। वह भक्ति में विविध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन से दूर रहे और उन्होंने उसे सरल रूप प्रदान करने की ओर ही मुख्य ध्यान दिया। भक्त के रूप में उनकी दृष्टि आधुनिक काल के नवीन तर्कों और मनोविज्ञान से भी प्रभावित थी। इस कारण उन्होंने प्राणों में प्राप्त होने वाली अनेक अनावश्यक और अद्भुत बातों का परित्याग कर दिया है।

भक्ति के साथ-साथ 'हरिऔध' जी के काव्य में नीति को भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उनके काव्य के एक बहुत बड़े अंश का सम्बन्ध नैतिकता के प्रतिपादन से रहा है। उन्होंने अपने नीति-काव्य की रचना करते समय उसमें अपने संसार के अनुभवों का सफलतापूर्वक समावेश किया है। उनकी 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' शीर्षक रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। हिन्दी में नीति-काव्य की रचना प्रमुख रूप से भक्तिकाल में हुई थी। आधुनिक काल में इस ओर कविवर नाथूराम शंकर शर्मा, 'हरिऔध' आदि कुछ कवियों ने ध्यान दिया है। इनमें 'हरिऔध' जी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगे हम उनके काव्य से भक्ति और नीति के सम्मिलित स्वरूप को व्यक्त करने वाला एक पद उपस्थित करते हैं—

क्या हुआ मुँह से सदा हरि-हरि कहे,
दूसरों का दुख न जब हरते रहे।
जब दया वाले बने न दया दिया,
तब दया का गान क्या करते रहे॥

'हरिऔध' जी के नीति-काव्य में व्यंग्य और उपदेशात्मकता दोनों को स्थान प्राप्त हुआ है। उनके काव्य की तीसरी विशेषता उनके द्वारा किए गए प्रकृति-चित्रण में निहित है। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण को व्यापक स्थान प्रदान किया है। इसी प्रकार उनके प्रकृति-चित्र भी अनेक रूपों में प्राप्त होते हैं। अपने युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने प्रकृति और ईश्वर में सहज सम्बन्ध की स्थापना करते हुए प्रकृति को ईश्वर के गुणों का गान करते हुए भी दिखाया है। उनके काव्य में प्रकृति के अनेक शुद्ध चित्र प्राप्त होते हैं। उनके प्राकृतिक चित्रों में हर्ष, विषाद और विस्मय तीनों का समावेश हुआ है। उन्होंने प्रकृति और मानव में अत्यन्त निकट के सम्बन्ध का स्थापना की है। प्रकृति-वर्णन के लिए स्वतन्त्र कविताओं की रचना करने के अतिरिक्त उन्होंने अपने प्रवन्ध काव्यों में भी प्रकृति को पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। उदाहरण के लिए 'प्रियप्रवास' के प्रारम्भ की निम्नलिखित चार पंक्तियाँ देखिए—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा॥

कला-तत्त्व

'हरिऔध' जी के काव्य में कला-सौन्दर्य के विकास में सहायक तत्त्वों को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा और खड़ीबोली, दोनों में ही की है। उनका अधिकांश काव्य खड़ीबोली में ही उपलब्ध होता है। उनके काव्य की भाषा प्रायः सरल ही रही है और केवल 'प्रियप्रवास' में ही कहीं-कही संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता के कारण उसका स्वरूप जटिल हो गया है। अपनी भाषा को सरलता और प्रवाह प्रदान करने के लिए उन्होंने लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया

है। आधुनिक युग के कवियों में केवल वही एक ऐसे कवि हैं जो अपनी रचनाओं में मुहावरों का व्यापक रूप में प्रयोग करने में सफल हो पाए हैं। इनसे युक्त होने के कारण उनकी भाषा में एक विशेष सजीवता आ गई है। इनके फलस्वरूप उनके काव्य के अर्थों में भी कहीं-कहीं विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

भाषा-प्रयोग की भाँति शैली-योजना में भी 'हरिऔध' जी ने विविधता का परिचय दिया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में वर्णनात्मक शैली, सम्बोधन शैली, उद्बोधन शैली और प्रश्न शैली आदि विविध शैलियों का सफल प्रयोग किया है। उनकी भाषा भी शैली के परिवर्त्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती रही है। अन्य कला-तत्त्वों में से उन्होंने अपने काव्य में अलंकारों का व्यापक प्रयोग किया है। आधुनिक काल के कवियों ने प्रायः अलंकारों की योजना करते समय कृत्रिमता का आश्रय नहीं लिया है। 'हरिऔध' जी के काव्य में भी हमें यही प्रवृत्ति प्राप्त होती है। उन्होंने अपनी रचनाओं में विविध शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया है और अलंकार-योजना के कारण उनके काव्य के भाव-सौन्दर्य को हानि नहीं पहुँचने पाई है। छन्द-प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने वर्णिक और मात्रिक, दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। उनके छन्दों में छन्दों के लिए आवश्यक विविध नियमों की पूर्ण स्थिति रही है। छन्द-रचना करते समय उन्होंने संस्कृत की छन्द-प्रणाली की ओर अधिक ध्यान दिया है। 'प्रियप्रवास' में अतुकान्त वर्णिक छन्दों की योजना कर उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति की सूचना दी है। उदाहरण के लिए राधा द्वारा पवन को सम्बोधित कर कहा गया उनका निम्नलिखित छन्द देखिए—

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है॥

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'हरिऔध' जी ने अपने काव्य में भावना और कला, दोनों के क्षेत्रों में विविधता का परिचय दिया है। द्विवेदी-युग की

सामान्य काव्य-विशेषताओं को ग्रहण करते हुए उन्होंने कुछ व्यक्तिगत रुचियों के आधार पर अपने काव्य में कुछ नवीन तत्त्वों का भी विकास किया है। उनके द्वारा प्रारम्भ की गई अतुकान्त काव्य-रचना की शैली इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है और उनके पश्चात् कविवर अनूप शर्मा, आनन्दकुमार आदि अनेक कवियों ने उसे स्वीकार किया है।

: ४३ :

श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में श्रीयुत् 'रत्नाकर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने काव्य में ब्रजभाषा की सभी विशेषताओं को मौलिक रूप में ग्रहण किया है। यद्यपि उन्होंने अपने काव्य की रचना उस समय की थी जब हिन्दी-काव्य में खड़ीबोली की प्रधानता थी, तथापि उन्होंने स्वयं खड़ीबोली में काव्य नहीं लिखा है। उनके काव्य में भावना और कला, दोनों की सुन्दर रूप में योजना की गई है। इन दोनों तत्त्वों की इतनी सफल और उपयुक्त योजना ब्रजभाषा के बहुत कम कवियों के काव्य में प्राप्त होती है। इस दिशा में 'रत्नाकर' जी की सफलता का कारण यह है कि उन्होंने ब्रजभाषा की प्राचीन कविता का गहन अध्ययन किया था, इस अध्ययन के परिणामस्वरूप उनके काव्य में ब्रजभाषा के अनेक कवियों के काव्य की विशेषताओं का समन्वय प्राप्त होता है।

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में की है। उन्होंने गीति-काव्य की रचना नहीं की है। यद्यपि यह सत्य है कि गीति-काव्य में आत्माभिव्यक्ति के लिए अधिक अवकाश रहता है, तथापि 'रत्नाकर' जी के काव्य में इस तत्त्व का पूर्ण अभाव नहीं रहा है। उनकी रचनाओं में से 'हरिश्चन्द्र', 'कलकाशी' और 'गंगावतरण' प्रबन्ध काव्य है और 'हिंडोला' तथा 'उद्धवशतक' मुक्तक काव्य है। इनमें से प्रबन्ध काव्यों की

रचना में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि वह इनमें रसों की उपयुक्त योजना नहीं कर पाए हैं। इसी प्रकार उनके प्रबन्ध काव्यों में छन्द-योजना भी दोषपूर्ण रही है। इन तीनों काव्यों का सम्बन्ध प्रायः पौराणिक कथानकों से रहा है। 'कलकाशी' में उन्होंने काशी के वातावरण का विवरण उपस्थित किया है। विविध त्रुटियों के होने पर भी यह मानना होगा कि इन काव्यों में अनेक मार्मिक प्रसंगों का भी समावेश हुआ है।

'रत्नाकर' जी को प्रबन्ध काव्यों के स्थान पर मुक्तक काव्यों की रचना करने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। इस दिशा में उनकी 'हिंडोला', और 'उद्धव-शतक' नामक दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं। इन दोनों कृतियों में उनके हृदय की भावुकता पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। इनमें भी 'उद्धव-शतक' का अधिक महत्त्व है। ब्रजभाषा-काव्य में यही उनकी प्रतिनिधि रचना है। इसमें उन्होंने उद्धव और गोपियों से सम्बन्धित भ्रमरगीत के प्रसिद्ध कथानक को मौलिक रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि उन्होंने इसकी रचना स्वतन्त्र कवित्तों के रूप में की है, तथापि इन कवित्तों की योजना करते समय उन्होंने कला का निर्वाह करने का भी प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस काव्य को सहज ही 'कलात्मक मुक्तक काव्य' कहा जा सकता है। हिन्दी की भ्रमरगीत-काव्य-परम्परा में यह अपने ढँग का अकेला काव्य है। इसमें भावना और कला को अत्यन्त प्रौढ़ रूप में उपस्थित किया है।

'रत्नाकर' जी समन्वयवादी प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपने काव्य की रचना करते समय भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्य के अतिरिक्त छायावादी काव्य से भी प्रेरणा ली है। भक्तिकाल के कवियों में से उन पर कविवर सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास का अधिक प्रभाव रहा है। इसी प्रकार रीतिकाल के कवियों में वह बिहारी और पद्माकर से अधिक प्रभावित थे। बिहारी के काव्य में प्राप्त होने वाले पुष्टभावों और प्रौढ़ कला से उन्होंने सर्वाधिक सहायता ली है। उनके 'उद्धव-शतक' का अध्ययन करने पर यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में उन्होंने रीतिकाल के कवियों में से बिहारी के काव्य का ही सर्वाधिक निकट से अध्ययन किया था। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्होंने एक ओर तो 'महाकवि बिहारी' नामक ग्रन्थ लिखकर बिहारी के काव्य की विस्तृत आलोचना की थी और दूसरी

और 'बिहारी-रत्नाकर' शीर्षक ग्रन्थ की रचना कर बिहारी के दोहों की विस्तृत और प्रामाणिक टीका प्रस्तुत की थी। इन ग्रन्थों में उन्होंने आलोचक और टीकाकार के रूप में अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है।

'रत्नाकर' जी के काव्य-कौशल का परिचय प्राप्त करने के लिए उनके 'उद्धव-शतक' का अध्ययन पर्याप्त होगा। इस रचना का हिन्दी के कृष्ण-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें उन्होंने अपने भावों को अत्यन्त स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है। अन्य भ्रमरगीत-काव्यों की भाँति इसमें भी निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। ऐसा करते समय कवि ने निर्गुण भक्ति की ओर उपेक्षा-भाव नहीं रखा है। और उद्धव को अपना मत स्पष्ट करने का पूर्ण अवसर दिया है। रस-योजना की दृष्टि से उन्होंने इस काव्य में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है और शान्त रस की भी पर्याप्त अभिव्यक्ति की है। शृंगार रस की दृष्टि से उन्होंने 'उद्धव-शतक' में उसके वियोग-पक्ष का चित्रण किया है। इस दिशा में उन्होंने गोपियों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के विरह-भाव का भी मार्मिक चित्रण किया है।

'उद्धव-शतक' में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष, दोनों को ही स्थान प्राप्त हुआ है। जहाँ कवि ने श्रीकृष्ण और गोपियों की विरह-दशा तथा उद्धव पर उसके प्रभाव का चित्रण किया है, वहाँ उन्होंने हृदय-पक्ष को उपस्थित किया है और जहाँ उन्होंने दार्शनिक विचारों को स्पष्ट किया है वहाँ विचार-पक्ष की प्रधानता हो गई है। जटिल दार्शनिक सिद्धान्तों का जितना सरस और स्पष्ट प्रतिपादन उन्होने किया है उतना हिन्दी-काव्य में अधिक व्यक्त नहीं कर सके हैं। उदाहरण के लिए गोपियों के प्रति उद्धव की निम्नलिखित उक्ति देखिए—

माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक साई है।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान-आँखिनि सौं,
कान्ह सब ही में कान्ह ही मे सब कोई है॥

'रत्नाकर' जी ने 'उद्धव-शतक' में चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण की ओर भी ध्यान दिया है। इस कृति में श्रीकृष्ण, उद्धव और गोपियों के चरित्रों को स्पष्ट रूप में उपस्थित किया गया है। यद्यपि इन पात्रों के विषय में इससे पूर्व भी काफी कुछ कहा जा चुका था, तथापि उन्होंने इन्हें यत्र-तत्र मौलिक रूप में उपस्थित करने का प्रयास भी किया है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से उन्होंने प्रायः प्रकृति को उद्दीपन-रूप में ही उपस्थित किया है। उन्होंने प्रकृति-वर्णन करते समय भी गोपियों के विरह की व्यंजना उपस्थित करने का ध्यान रखा है। यद्यपि इस काव्य में विचार-पक्ष की प्रधानता के कारण प्रकृति-चित्रण के लिए अधिक अवकाश नहीं था, तथापि उन्होंने यत्र-तत्र इस ओर ध्यान अवश्य दिया है। अवसर मिलने पर उन्होंने इसमें षड्ऋतु-वर्णन भी किया है।

कला-तत्त्व

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य में कला-तत्त्वों का विविध रूपों में प्रयोग किया है। उनकी भाषा में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज नामक काव्य के तीनों प्रमुख गुणों के अनुकूल शब्दों का समावेश हुआ है। इसमें से 'उद्धव-शतक' में माधुर्य गुण को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त इस कृति में प्रसाद गुण का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। उनके वीर अभिमन्यु और भीष्म पितामह से सम्बन्धित काव्यांशों में ओज गुण का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। उनकी भाषा में सजीवता और प्रभावोत्पादन की उपयुक्त स्थिति रही है। विषय के अनुसार भाषा में माधुर्य अथवा ओज का संचार करने का भी उन्होंने पूर्ण ध्यान रखा है। उनकी शैली में प्रवाह के अतिरिक्त पाठक के सामने एक चित्र-सा स्पष्ट कर देने का गुण वर्त्तमान रहा है। भाषा को प्रवाह-पूर्ण रखने के लिए उन्होंने लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। यथा—

(अ) दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा।
(ब) ह्वै है तीन तेरह तिहारी तीन पाँच सबै॥

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य में अलंकारों का सहज-स्वाभाविक प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश का

विशेष रूप से प्रयोग किया है और अर्थालंकारों में उन्हें रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा और वक्रोक्ति विशेष प्रिय रहे हैं। 'उद्धव-शतक' में उन्होंने कवित्त छन्द का भी अत्यन्त सफल रूप में प्रयोग किया है। उनके काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने ब्रजभाषा में एक विशेष साहित्यिक एकरूपता लाने का प्रयत्न किया है। जहाँ उन्होंने अपने काव्य के भाव-पक्ष की योजना करते समय भक्तिकाल के काव्य से प्रेरणा ली है वहाँ उसके कला-पक्ष की योजना में उन्होंने रीतिकाल के काव्य से सहायता ली है। हिन्दी में ब्रजभाषा काव्य की मिटती हुई परम्परा को फिर से जीवित कर उन्होंने निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके पश्चात् ब्रजभाषा में कम-से-कम भ्रमरगीतप्रसंग को कोई भी अन्य कवि उनके समान सफल रूप में उपस्थित करने में समर्थ नहीं हो सका। उनकी इसी साहित्यिक प्रतिभा के कारण उनकी मृत्यु पर कविवर सोहनलाल द्विवेदी ने निम्नलिखित मार्मिक काव्य-पंक्तियों की रचना की थी—

एक स्वर्ण-कण खो जाने से,
हो उठता उर कातर।
कैसे धैर्य धरे वह जिसका,
लुट जाए 'रत्नाकर'।

—प्रभाती, पृष्ठ-संख्या ५७

: ४४ :

श्री मैथिलीशरण गुप्त

कविवर मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सम्वत् १९४३ में जिला झाँसी के चिरगाँव नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता सेठ रामचरण भगवान् राम के परम भक्त थे। उन्होंने बचपन में ही अपने पुत्र के हृदय में भी भक्ति-भावों

को भर दिया। इसका फल यह हुआ कि कालान्तर में जब गुप्त जी ने काव्य-रचना प्रारम्भ की तब उनका ध्यान मुख्य रूप से वैष्णव-भक्ति के प्रतिपादन की ओर ही रहा। उन्होंने अपने कवि-जीवन के प्रारम्भ में 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से पर्याप्त प्रेरणा ली थी। गुप्त जी को काव्य की ओर उन्मुख करने में द्विवेदी जी का काफी हाथ रहा है। इस कारण वह उन्हें अपने गुरु के समान मानते थे। उनके अतिरिक्त उन्होंने मुंशी अजमेरी से भी काव्य-रचना की प्रारम्भिक शिक्षा ली थी। इन दोनों व्यक्तियों से प्रोत्साहन पाकर उन्होंने अनेक श्रेष्ठ काव्यों की रचना की। भक्ति के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता को भी प्रमुख स्थान प्राप्त रहता है। इसी कारण उन्हें राष्ट्र-कवि कहा जाता है। राष्ट्र के प्रति उनकी साहित्य-सेवा को देखकर ही भारतवर्ष के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने उन्हें राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया है। गुप्त जी के छोटे भाई श्री सियारामशरण गुप्त भी हिन्दी के एक उत्कृष्ट कवि हैं।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में की है। उनकी प्रबन्ध-रचनाओं में 'जयभारत', 'साकेत', 'पंचवटी' और 'जयद्रथ-वध' प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थ महाकाव्य हैं और शेष दोनों कृतियाँ खण्ड-काव्य हैं। जयभारत उनकी नवीनतम रचना है और इसे महाभारत के कथानक के आधार पर लिखा गया है। 'साकेत' की रचना उन्होंने राम-भक्ति को लेकर की है और इसमें लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला के विरह का वर्णन करने की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसी प्रकार इसमें कैकेयी के चरित्र को भी नवीन रूप में उपस्थित किया गया है। राम-काव्य में उर्मिला की उपेक्षा की ओर उनका ध्यान आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आकृष्ट किया था। गुप्त जी ने उर्मिला और लक्ष्मण के संयोग के दृश्यों का वर्णन करते हुए विरहिणी उर्मिला के भावों के वर्णन को इस काव्य का मुख्य विषय बनाया है। इसी प्रकार इसमें कैकेयी के कलंक को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दूर करने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। अपने खण्ड-काव्यों में से उन्होंने 'पंचवटी' में श्रीराम के पंचवटी-निवास की परिस्थितियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है और 'जयद्रथ-वध' में महाभारत के एक प्रसिद्ध

कथा-भाग का वर्णन किया है। काव्य-कौशल की दृष्टि से ये दोनों कृतियाँ भी विशेष सुन्दर बन पड़ी हैं।

गुप्त जी ने अपने मुक्तक काव्यों की रचना गीति-काव्य और छन्दयुक्त काव्य, दोनों के रूप में की है। गीति-काव्य की दृष्टि से उनकी 'झंकार' शीर्षक कृति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने 'साकेत' और 'यशोधरा' शीर्षक काव्यों में भी यत्र-तत्र गीतों की रचना की है। छन्द-युक्त मुक्तक काव्य की दृष्टि से उन्होंने अनेक स्वतन्त्र कविताओं की रचना की है। उनकी कृतियों में 'भारत-भारती' और 'यशोधरा' का भी विशेष महत्त्व है। इनमें से प्रथम कृति में भारत के भूत, वर्त्तमान और भविष्य की स्थितियों का चित्रण किया गया है। इसमें कवि के चिन्तन और भारत के प्रति अनुराग का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'यशोधरा' में उन्होंने गौतम बुद्ध द्वारा संसार का त्याग करने पर उनके सम्बन्धियों के हृदय पर इस घटना का जो प्रभाव पड़ा था उसका कल्पना के आधार पर सुन्दर चित्रण किया है। इसमें महात्मा बुद्ध की पत्नी यशोधरा के हृदय की व्यथा के चित्रण को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है।

गुप्तजी समन्वयवादी कवि हैं। उन्होंने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों और काव्य-विशेषताओं के प्रति सहानुभूतिशील दृष्टिकोण को अपनाया है। इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में राम, कृष्ण, बुद्ध, सिख-गुरुओं आदि के विषय में अपनी भावनाओं को स्पष्ट किया है। कृष्ण-भक्ति की दृष्टि से उनका 'द्वापर' शीर्षक काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। सिख-गुरुओं के विषय में उन्होंने 'गुरुकुल' नामक काव्य की रचना की है। इतना होने पर भी उनके काव्य में मुख्य रूप से श्रीराम की भक्ति को ही स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने राजपूत-इतिहास की कुछ घटनाओं का भी अपने काव्य में चित्रण किया हैं। उनकी 'सिद्धराज' शीर्षक कृति इसी प्रकार की है। 'अजित' शीर्षक रचना का अध्ययन करने पर हमें राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके योग का भी अच्छा चित्रण मिलता है। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उन्होंने अपने काव्य में कुछ साहित्यिक विशेषताओं का भी सुन्दर संकलन किया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना द्विवेदी-युग में आरम्भ की थी और तब से अब तक उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की है। इस अवधि में छायावाद के रूप में जिस

नवीन काव्य-धारा का प्रारम्भ हुआ था उनकी विशेषताओं को भी उन्होंने स्वीकार किया है। इस प्रकार द्विवेदी-युग की आदर्शवाद काव्य-रचना की प्रणाली को अपनाने के साथ-साथ उन्होंने हिन्दी-काव्य में समय-समय पर आने वाली अन्य विशेषताओं को ग्रहण करने की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने मुख्य रूप से भक्ति-काव्य और राष्ट्रीय काव्य की रचना की है। इनमें उन्होंने अपने हृदय की सहृदयता का व्यापक चित्रण किया है। ईश्वर की शक्ति के प्रति उन्हें अखण्ड विश्वास रहा है और अपनी रचनाओं में उन्होंने उसका किसी न किसी रूप में उल्लेख अवश्य किया है। उनकी भक्ति विनय-भाव से सम्बन्धित रही है। उदाहरण के लिए उनके 'किसान' नामक काव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

हम पापी हों सही, किन्तु तुम हमें उबारो,
दीनबन्धु हो दया करो अब और न मारो।
करके अपना कोप शान्त, करुणाकर तारो,
अपने गुण से देव! हमारे दोष बिसारो॥

गुप्त जी के राष्ट्रीय काव्य का महत्त्व इस कारण अधिक है कि वर्तमान राष्ट्रीय समस्याओं के विषय में विचार करते समय उन्होंने भारत की प्राचीन सांस्कृतिक विशेषताओं को नहीं भुलाया है। राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाने के लिए वह स्वस्थ समाज को भी अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज की वर्तमान बुराइयों और समस्याओं को दूर करने के लिए अनेक उपयोगी सुझाव दिए हैं। उन्होंने मनुष्य की अनेक समस्याओं का हल उसके द्वारा धर्म में लीन रहने को माना है। वह भाग्यवाद में विश्वास नहीं रखते। उद्योग के महत्त्व के विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़ने योग्य हैं—

निकलता है यदि एक प्रयोग,
उसी के साथ दूसरा रोग।
मानकर इसे भाग्य का भोग,
छोड़ बैठें क्या हम उद्योग?

भक्ति, राष्ट्र और समाज के विषय में अपने विचार उपस्थित करने के अतिरिक्त गुप्त जी ने साहित्य के विषय में भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने साहित्य की रचना के लिए उपयोगी भावों, रसों और कला-तत्त्वों आदि अनेक विषयों पर स्पष्ट रूप से विचार किया है। यद्यपि इस प्रकार के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त उनके काव्य में स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलते, तथापि अवसर मिलने पर वह अपने प्रबन्ध काव्यों में भी उनका उल्लेख करना नहीं भूले हैं। वह कला को केवल कला के विकास के लिए नहीं मानते। उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला का जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध माना है। उदाहरण के लिए 'साकेत' में लक्ष्मण द्वारा उर्मिला से कही गई निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

जो अपूर्ण कला उस की पूर्ति है !

× × ×

हो रहा है जो जहाँ से हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्त जी ने अपने काव्य में विविध विषयों को उपस्थित किया है। उनके काव्य की एक अन्य विशेषता उसकी सरलता में निहित है। उन्होंने अपनी कविताओं की रचना खड़ीबोली में की है। उनकी भाषा अत्यन्त सरल और स्वच्छ है। यद्यपि यह सत्य है कि कहीं-कहीं उनकी भाषा में कृत्रिमता भी दिखाई देती है, तथापि प्रसाद गुण से युक्त होने के कारण उनकी रचनाएँ हृदय का तुरन्त स्पर्श करती हैं। उन्होंने अपनी भाषा को साधारण पाठक तक की पहुँच के भीतर रखने का प्रयत्न किया है। उनके काव्य में शैली-प्रयोग में भी विविधता की उपयुक्त स्थिति रही है। इस दृष्टि से उन्होंने चित्र-शैली, वर्णनात्मक शैली, प्रगति शैली, सम्बोधन शैली, उद्बोधन शैली आदि अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। उनके काव्य में अलंकार-योजना भी स्वाभाविक और प्रभावशाली रूप में हुई है। इस ओर उनका अधिक आग्रह नहीं रहा है। यही कारण है कि उनके अलंकारों में प्रायः कुशलता के दर्शन होते हैं। उन्होंने छन्द-योजना करते समय भी विविध छन्दों का प्रयोग किया

है और उनके सब अंगों के निर्वाह का उचित ध्यान रखा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में सरल, स्पष्ट और राष्ट्र के लिए उपयोगी रचनाएँ उपस्थित करने वाले कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

: ४५ :

श्री जयशंकर प्रसाद

आधुनिक युग के कवियों में श्रीयुत् जयशंकर प्रसाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म काशी में सम्वत् १९४६ में एक प्रसिद्ध वैश्य-परिवार में हुआ था। उनके पिता बाबू देवीप्रसाद काशी के एक प्रतिष्ठित व्यापारी थे। प्रसाद जी साहित्य की ओर प्रारम्भ से ही आकृष्ट थे। इस ओर उनकी रुचि अत्यन्त व्यापक थी। इसी कारण उन्होंने साहित्य के किसी एक अंग की ओर ध्यान न देकर कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध आदि साहित्य के विविध अंगों के विकास में योग दिया है। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के गौरव की रक्षा का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। उन्होंने साहित्य का गहन अध्ययन किया था। इसी कारण उनकी रचनाओं में भी गम्भीरता का व्यापक समावेश हुआ है। साहित्य के अतिरिक्त इतिहास और दर्शनशास्त्र के अध्ययन में भी उनकी विशेष रुचि थी। इसी कारण उनकी रचनाओं में प्रायः इन दोनों का समावेश प्राप्त होता है।

प्रसाद जी ने पद्य और गद्य, दोनों की रचना में अपनी प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया है। उनका 'कामायनी' नामक महाकाव्य आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ पद्य-कृति है। महत्त्व की दृष्टि से इस काव्य की तुलना केवल गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य काव्य-रचनाओं में 'आँसू', 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक', 'झरना' और 'लहर' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गद्य-रचना के क्षेत्र में उनका सर्वाधिक महत्त्व उनके नाटकों के कारण है। उनके सभी नाटकों का सम्बन्ध

भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग से रहा है अर्थात् उन्होंने अपने नाटकों में गुप्त-युग की भारतीय संस्कृति का चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों में बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के संघर्ष का भी व्यापक चित्रण हुआ है। उनके नाटकों में 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'राज्य-श्री', 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' उल्लेखनीय हैं। उनके उपन्यास भी सुन्दर बन पड़े हैं। उनके 'कंकाल' और 'तितली' नामक उपन्यासों में सामाजिक कथानक लिये गए हैं और 'इरावती' उनका अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास की समाप्ति से पहले ही सम्वत् १९९४ में उनकी अकाल मृत्यु हो गई।

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त प्रसाद जी ने कहानियों और निबन्धों की भी रचना की है। उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक, दोनों प्रकार की कहानियों की रचना की है। उनके 'प्रतिध्वनि', आकाश-दीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' नामक श्रेष्ठ कहानी-संग्रह प्राप्त होते हैं। इनमें प्रसाद जी ने अपनी गम्भीर शैली की सुन्दर योजना की है। उनके निबन्धों का संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक कृति में हुआ है। इन निबन्धों में उनके प्रौढ़ विचारों का सुन्दर परिचय मिलता है और इनके अध्ययन से साहित्य के विषय में उनके मौलिक दृष्टिकोण का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट करने में भारी श्रम किया है। साहित्य के इन सभी क्षेत्रों में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इस निबन्ध में हम उनके काव्य-सौन्दर्य पर विचार करेंगे।

प्रसाद जी ने अपने काव्य की रचना खड़ीबोली में की है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता मिलती है। उन्होंने अपनी भाषा और शैली को गम्भीर रूप में उपस्थित करने का सर्वत्र ध्यान रखा है। उनकी रचनाएँ प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों रूपों में प्राप्त होती हैं। 'कामायनी' उनका एक सफल प्रबन्ध-काव्य है और उनकी रचनाओं में इस कृति का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उनकी मुक्तक काव्य-रचनाओं में 'आँसू' का सर्वाधिक महत्त्व है। वास्तव में कवि के रूप में उनका महत्त्व मुख्य रूप से 'कामायनी' पर ही आधारित है। यह महाकाव्य हिन्दी के लिए गौरवपूर्ण कृति है और इसकी गणना विश्व की महत्त्वपूर्ण काव्य-रचनाओं में की जाती है। कुछ महाकाव्य इसे संस्कृति के प्राचीन महाकाव्य सम्बन्धी नियमों के आधार पर महाकाव्य नहीं मानते, किन्तु नवीन

दृष्टिकोण के अनुसार हम इसे निश्चय ही महाकाव्य कह सकते हैं।

प्रसाद जी छायावाद-युग के कवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में छायावाद की विविध विशेषताओं के समावेश की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। हिन्दी की छायावादी रचनाओं में भी 'कामायनी' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। इस रचना में कल्पना, प्रकृति-चित्रण और चिन्तन, सभी तत्त्वों की ओर ध्यान दिया गया है। माधुर्य की दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। यद्यपि यह सत्य है कि इसमें प्रसाद गुण का उपयुक्त विकास नहीं हो सका है. तथापि इसमें मानव-जीवन के सौन्दर्य के चित्रण की ओर इतना अधिक ध्यान दिया गया है कि पाठक इसके अध्ययन में अपार आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि इस काव्य के भावों, विचारों और भाषा को समझने में पाठक को प्रायः कठिनाई का अनुभव होता है, तथापि वह इसे पढ़ने का मोह नही त्याग सकता।

'कामायनी' में कवि ने मनु और श्रद्धा की प्रसिद्ध कथा का वर्णन किया है। यद्यपि इस कथा का इतिहास में अधिक उल्लेख नहीं मिलता, तथापि प्रसाद जी ने परिश्रमपूर्वक खोज करते हुए इसे अत्यन्त सुन्दर रूप से उपस्थित किया है। इस कृति में भारतीय संस्कृति के तत्कालीन स्वरूप का स्पष्ट और प्रामाणिक चित्रण किया गया है। इतिहास के अतिरिक्त इसमें, दर्शनशास्त्र का भी व्यापक आधार लिया गया है। इसमें उन्होंने 'आनन्दवाद' नामक सिद्धान्त की सुन्दर स्थापना की है। रस-योजना की दृष्टि से उन्होंने शान्त रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है और शृंगार, वीर, वात्सल्य तथा करुण आदि अन्य रसों का सहायक रसों के रूप में प्रयोग किया है। चरित्र-चित्रण करते समय भी उन्होंने रस-योजना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। 'कामायनी' में मनु, श्रद्धा और इड़ा प्रमुख पात्र हैं। प्रसाद जी ने उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया है। श्रद्धा के विषय में अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने नारी-मात्र के विषय में अपनी भावनाओं को अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग-तल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥

'कामायनी' एक रूपक-काव्य है। इसमें मनु को मन, श्रद्धा को हृदय तथा इड़ा को बुद्धि के रूप में उपस्थित किया गया है। प्रसाद जी ने इसमें अपने अनुभव, चिन्तन और कल्पना को अत्यन्त प्रौढ़ रूप में उपस्थित किया है। इन तीनों तत्त्वों से युक्त होने के कारण इसमें सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है। इसमें एक ओर जीवन के सत्य को मार्मिक रूप में स्पष्ट किया गया है, दूसरी ओर जीवन में कल्याण का समावेश करने वाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है और तीसरी ओर मनुष्य के हृदय तथा प्रकृति के सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। आगे हम इस कृति में प्राप्त होने वाले एक महत्त्वपूर्ण सत्य (मनुष्य को पारस्परिक सहयोग से जीवन व्यतीत करना चाहिए) से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ. भीषण है,
अपना नाश करेगा।।
औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ।।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रसाद' जी के काव्य का भाव-पक्ष अत्यन्त समृद्ध है। उन्होंने प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-चित्रण और रस-योजना आदि सभी क्षेत्रों में अपनी सूक्ष्म दृष्टि का सुन्दर परिचय दिया है। भाव-पक्ष की भाँति कला-पक्ष की योजना में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी भाषा में अनेक सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश किया है। प्रतीक-रूप में शब्दों का प्रयोग और लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग उनके काव्य की ऐसी ही विशेषताएँ हैं। शैली-प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने चित्र-शैली के प्रयोग की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। इस शली से युक्त छन्दों का अध्ययन करने पर पाठक के सामने विषय का चित्र-सा स्पष्ट होता जाता है। उन्होंने 'कामायनी' के 'इड़ा' सर्ग में प्रगति शैली का भी सुन्दर प्रयोग किया है। इस सर्ग के गीतों का आधुनिक युग के गीति-

काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलंकार-प्रयोग के क्षेत्र में भी प्रसाद जी ने नवीनता का परिचय दिया है। उन्होंने नवीन उपमानों का प्रयोग करते हुए अपने अलंकारों को और भी अधिक सूक्ष्म बना लिया है। उनके छन्द मात्रिक रहे हैं और उन्होंने सूक्ष्म अन्तर उपस्थित करते हुए कुछ नवीन छन्द भी बना लिये हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपने काव्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष, दोनों का अत्यन्त गम्भीर रूप में समावेश किया है और छायावाद से प्रभावित होने के कारण उनकी रचनाओं में अनेक सूक्ष्म और नवीन विशेषताओं का समावेश हो गया है।

: ४६ :

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

कविवर 'निराला' का जन्म सम्वत् १९५६ में बंगाल प्रदेश के मेदिनीपुर नामक स्थान में हुआ था। इस प्रदेश की संस्कृति का उनके जीवन पर प्रारम्भ से ही विशेष प्रभाव रहा है। इस कारण उनकी काव्य-रचनाओं पर भी इसका अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपनी प्रतिभा का साहित्य के विविध क्षेत्रों में परिचय दिया है। इस दृष्टि से वह हमारे समक्ष कवि, उपन्यासकार, निबन्धकार तथा आलोचक के रूप में आते हैं। कवि के रूप में उन्होंने 'परिमल', 'अनामिका', 'अपरा', 'गीतिका', 'नये पत्ते' तथा 'तुलसीदास' आदि अनेक श्रेष्ठ काव्यों की रचना की है। उपन्यास-लेखक के रूप में उन्होंने 'निरुपमा', 'अलका, और 'चोटी की पकड़' शीर्षक उपन्यास लिखे हैं। निबन्ध-लेखक के रूप में उन्होंने 'चाबुक', 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध-प्रतिभा' शीर्षक ग्रन्थों को उपस्थित किया है। आलोचना के रूप में उन्होंने 'पन्त और पल्लव' शीर्षक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना के अतिरिक्त कुछ आलोचनात्मक निबन्धो की भी रचना की है। इसी प्रकार उन्होंने कहानी-लेखन के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

'निराला' जी की रचनाओं में समाज-चित्रण को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है और गीति-काव्य की रचना के अतिरिक्त छन्दों में भी काव्य लिखा है। उनकी काव्य-रचनाओं में 'परिमल', 'अपरा' और 'गीतिका' मुख्य हैं। उनके काव्य में छायावाद, रहस्य-वाद और प्रगतिवाद, तीनों को स्थान प्राप्त हुआ है। अपने उपन्यासों और कहानियों में भी उन्होंने समाज के विभिन्न रूपों का ही चित्रण किया है। निबन्ध के क्षेत्र में उन्होंने साहित्यिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। इस प्रकार उनमें विषय की दृष्टि से उनके आलोचक-रूप के ही दर्शन होते हैं। आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के कुछ पक्षों की आलोचना करने के अतिरिक्त काव्य और काव्यांगों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। अपने 'गीतिका' और 'परिमल' नामक काव्यों की भूमिकाओं में भी उन्होंने गीति-काव्य और मुक्त छन्द के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

'निराला' जी ने अपनी कविताओं में अनुभव और चिन्तन को मुख्य स्थान प्रदान किया है, किन्तु उनके काव्य में कल्पना को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी प्रगतिवादी कविताओं में अनुभव का पूर्ण विकास प्राप्त होता है। अपनी छायावादी कविताओं में उन्होंने कल्पना का भी सुन्दर प्रयोग किया है। इसी प्रकार उनकी रहस्यवादी कविताओं में चिन्तन का भी अच्छा विकास हुआ है। ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति-भावना को उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है। उदाहरण के लिए उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

मेरे प्राणों में आओ !
शत शत भावनाओं के
उर के तार सजा जाओ।
गाने दो प्रिय मुझे भूलकर
अपनापन, अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीमा पर
स्वाती जल नित बरसाओ।

'निराला' जी ने अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण की ओर ध्यान देते हुए प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूपों का चित्रण किया है। उनके प्रकृति-चित्रों

पर छायावादी प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने चरित्र-चित्रण को भी अपने काव्य में स्थान प्रदान किया है। यद्यपि प्रबन्ध-काव्य की रचना न करने के कारण उनके काव्य में इसके लिए स्थान नहीं था, तथापि उन्होंने अपनी 'शिवाजी का पत्र' तथा 'पंचवटी-प्रसंग' शीर्षक कविताओं में इस ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उन्होंने राष्ट्रीय भावों से युक्त कविताओं की भी रचना की है। इस प्रकार की रचनाओं में उनके राष्ट्र-प्रेम का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उनकी 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता इसी प्रकार की है। इसमें छायावादी रीति से राष्ट्रीय भावों को उपस्थित किया गया है।

रस-योजना की दृष्टि से 'निराला' जी ने अपनी कविताओं में शृंगार रस, शान्त रस, करुण रस और वीर रस को विशेष स्थान प्रदान किया है। इनमें से भी वीर रस को उनकी कविताओं में अधिक स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। अपनी शृंगार रस की कविताओं में उन्होंने प्रायः छायावाद का आश्रय लिया है। इसी प्रकार शान्त रस की कविताओं में उन्होंने ईश्वर-भक्ति और रहस्यवादी भावनाओं को स्थान दिया है। करुण रस की कविताओं की रचना उन्होंने स्वतन्त्र रूप में भी की है और अपनी प्रगतिवादी कविताओं में भी करुण के समावेश की ओर मुख्य ध्यान दिया है। उनकी करुण रस की कविताओं में 'भिक्षुक' और 'विधवा' शीर्षक कविताएँ विशेष मार्मिक बन पड़ी हैं। आगे हम उनकी 'विधवा' शीर्षक कविता से कुछ पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है।

कला-तत्त्व

'निराला' जी ने भाव-पक्ष की भाँति अपने काव्य में कला-पक्ष की योजना की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना खड़ीबोली में की है और संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। उनकी

भाषा का स्वरूप पूर्णतः साहित्यिक रहा है। उन्होंने समास योजना की ओर अधिक ध्यान दिया है। इस कारण उनकी भाषा कठिन हो गई है। उन्होंने छायावाद की प्रकृति के अनुकूल प्रतीकात्मक और लाक्षणिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके काव्य की भाषा सर्वत्र कठिन ही रही है। अपनी अनेक कविताओं में उन्होंने जनता की बोल-चाल की भाषा का भी समावेश किया है। अपनी नवीन कविताओं में वह ग्रामों में प्रचलित अनेक शब्दों को भी ग्रहण कर रहे हैं। उनकी भाषा में ओज गुण को भी मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है, तथापि उन्होंने माधुर्य गुण का भी अच्छा प्रयोग किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने काव्य में भाषा-योजना की ओर उचित ध्यान दिया है।

शैली-प्रयोग की दृष्टि से 'निराला' जी ने अपने काव्य में प्रगति शैली, समास शैली और वर्णनात्मक शैली की ओर अधिक ध्यान दिया है। इनके अतिरिक्त उनके काव्य में कुछ अन्य शैलियों को भी स्थान मिला है, किन्तु उन्हें उनके काव्य की मुख्य शैलियाँ नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में प्रगति शैली की योजना में भाग लेने वाले कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने गीतों में संगीतशास्त्र के ज्ञान का व्यापक परिचय दिया है। उनके गीतों में संक्षिप्तता, आत्माभिव्यक्ति और प्रवाह आदि विविध विशेषताएँ पूर्ण रूप से वर्तमान हैं। समास शैली की योजना की ओर भी उन्होंने अत्यधिक ध्यान दिया है। इसका प्रयोग उन्होंने अधिकतर अपनी कविताओं की कुछ पंक्तियों में ही किया है और सम्पूर्ण कविता में इसे स्थान देने की प्रवृत्ति नहीं अपनायी है। इस शैली का परिचय उनकी निम्नलिखित ंक्ति से मिल सकता है—

शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र रवि—
संस्तुत नयन-मनोरंजन ।

'निराला' जी ने अपने काव्य में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों, दोनों का प्रयोग किया है। छायावाद के अनुकूल उन्होंने कुछ नवीन उपमानों की भी योजना की है। अलंकारों की अपेक्षा छन्दों के क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिकता का अधिक परिचय दिया है। उन्होंने अपने काव्य में मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है, किन्तु वह काव्य में छन्द-प्रयोग को पूर्णतः आवश्यक नहीं मानते।

इसी कारण उन्होंने मुक्त छन्द का समर्थन किया है अर्थात् वह छन्द-रहित प्रवाहपूर्ण कठिनता के समर्थक हैं। छन्द-योजना के लिए भावों में परिवर्त्तन करना वह उचित नहीं समझते। इस दिशा में उन्होंने अत्यन्त सफल रूप में कार्य किया है। उन्होंने मुक्त छन्द के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रारम्भ में उनके द्वारा लिखी गई छन्द-रहित कविताओं का काफी विरोध किया गया, किन्तु बाद में अनेक अन्य कवियों ने भी इस दिशा में उनका अनुकरण किया। वर्त्तमान युग में हिन्दी-काव्य में छन्द-प्रयोग के क्षेत्र में नवीन परिवर्त्तन उपस्थित करने वाले कवियों में उनका प्रमुख स्थान है। आगे हम उनका एक प्रवाहपूर्ण मुक्त छन्द उपस्थित करते हैं—

> **जड़े नयनों में स्वप्न**
> **खोल बहुरंगी पंख विहग-से,**
> **सो गया सुरा-स्वर**
> **प्रिया के मौन अधरों में**
> **क्षुब्ध एक कम्पन-सा निद्रित**
> **सरोवर में।**

: ४७ :

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सम्वत् १९५७ में अलमोड़ा के कौसानी नामक स्थान में हुआ था। वह अपने छात्र-जीवन में ही काव्य-रचना करने लगे थे। तब से उन्होंने काव्य के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का अनेक रूपों में परिचय दिया है। उन्होंने 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'युग-वाणी,' 'युगान्त', 'ग्राम्या', 'उत्तरा', 'स्वर्ण-किरण', 'अमिता' आदि अनेक काव्यों की रचना की है। आधुनिक युग के हिन्दी-कवियों में उनका प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्व है। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति को जितना व्यापक स्थान

प्रदान किया है उतना हिन्दी के किसी भी कवि ने नहीं किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के सिद्धान्तों का भी समावेश किया है। इनमें से उनका ध्यान मुख्य रूप से छायावाद के प्रतिपादन की ओर रहा है। प्रगतिवाद को लेकर उन्होंने कुछ कविताओं की रचना की अवश्य है, किन्तु अब उनका उसमें विश्वास नहीं रहा है। आगे हम उनके काव्य की विभिन्न विशेषताओं पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

रस-योजना

पन्त जी ने अपने काव्य में रस-योजना की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। उन्होंने मुख्य रूप से शृंगार रस, शान्त रस और करुण रस का प्रयोग किया है। शृंगार रस के अन्तर्गत उन्होंने संयोग शृंगार और वियोग शृंगार, दोनों के चित्रण की ओर ध्यान दिया है। उनके संयोग शृंगार सम्बन्धी चित्रों में प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार की कविताओं में मधुरता और कलात्मकता के समावेश का पूर्ण ध्यान रखा गया है। इस दृष्टि से उनकी 'गुंजन' नामक काव्य की 'भावी पत्नी के प्रति', शीर्षक कविता विशेष रूप से पढ़ने योग्य है। उन्होंने अपनी कविताओं में संयोग शृंगार के चित्रण की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। यद्यपि उनकी रचनाओं में वियोग शृंगार का अभाव नहीं है, किन्तु उस ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। अन्य रसों में उन्होंने शान्त रस का भी पर्याप्त चित्रण किया है। उनकी भक्ति और नीति सम्बन्धी कविताओं में रस का अच्छा चित्रण हुआ है। वैसे तो उन्होंने इस रस को प्रायः अपने प्रत्येक ग्रन्थ में स्थान दिया है, तथापि उनकी 'उत्तरा' और 'स्वर्ण-किरण' शीर्षक कृतियों में इसका विशेष प्रयोग मिलता है। अपनी कुछ कविताओं में उन्होंने शान्त रस के साथ-साथ करुण रस को भी एक ही स्थान पर उपस्थित किया है। आगे हम उनके काव्य से करुण रस का एक मार्मिक छन्द उपस्थित करते है—

अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ।
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल।

हाय रुक गया यहीं संसार,
बना सिन्दूर अंगार ।।

सौन्दर्य-चित्रण

पन्त जी सौन्दर्य के अनुपम चित्रकार हैं। उन्होंने अपने काव्य में प्रकृति और मानव-जगत् से सम्बन्धित विविध सौन्दर्य-चित्रों को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इनमें उन्होंने सौन्दर्य के साधारण चित्रण के अतिरिक्त उसे सूक्ष्म रूप में भी उपस्थित किया है। इस दिशा में जहाँ प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण में उन्होंने वर्त्तमान युग के कवियों में सबसे अधिक विविधता का परिचय दिया है वहाँ मानव-जीवन के सौन्दर्य का चित्रण करने की ओर भी उन्होंने व्यापक ध्यान दिया है। वह सौन्दर्य को पहचानने और उसका चित्रण करने में पूर्णतः कुशल हैं। उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से संसार में सभी कहीं सौन्दर्य के दर्शन करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

डूबे दिशि-पल के ओर-छोर,
महिमा अपार, सुखमा अछोर !
जग-जीवन का उल्लास,—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास !

प्रकृति-चित्रण

पन्त जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रकृति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्वों को भी अपने काव्य में स्थान देने का प्रयत्न किया है। उनकी कविताओं में प्रकृति के कोमल और कठोर, दोनों रूपों का चित्रण हुआ है। कोमल प्रकृति का चित्रण उनकी अधिकांश कविताओं में प्राप्त होता है। प्रकृति के भयंकर रूप को उन्होंने अपनी 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता में स्थान प्रदान किया है। उन्होंने प्रकृति का विविध रूपों में चित्रण किया है। उनके काव्य में उसके सजीव रूप में दर्शन होते हैं। प्रकृति

के शुद्ध चित्र उपस्थित करने के अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति और मानव में सहज सम्बन्ध स्थापित करने की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के दर्शन से मनुष्य के हृदय में भावना और चिन्तन को जन्म लेते हुए दिखाया है। उदाहरण के लिए उनकी 'नौका-विहार' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार,
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा-सा ही जग का क्रम,
शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम!

भाषा-शैली

पन्त जी ने अपने काव्य की रचना खड़ीबोली में की है। उन्होंने उसे कोमलता प्रदान करने की दिशा में विशेष कार्य किया है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त ब्रजभाषा और अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनका शब्दों पर पूर्ण अधिकार रहा है और प्रायः उन्होंने व्याकरण की भूलें नहीं की हैं। उनकी कविताओं में माधुर्य गुण और प्रसाद गुण को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी भाषा पर छायावाद की सूक्ष्मताओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। उसे सजीवता प्रदान करने के लिए उन्होंने अपनी कविताओं में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। उनकी कविताओं में शैली का प्रयोग भी विविध रूपों में हुआ है। इनमें से उन्होंने चित्र-शैली के प्रयोग की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। इस शैली के अनुसार लिखे गए काव्य में पाठक के सामने विषय का पूर्ण चित्र अपने आप ही स्पष्ट होता जाता है। इसके व्यापक प्रयोग के कारण पन्त जी को अपने काव्य के कला-पक्ष को सजाने में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

अलंकार-योजना

पन्त जी ने अपने भावों और भाषा को सौन्दर्यपूर्ण बनाने के लिए अर्थालंकार और शब्दालंकारों की व्यापक योजना की है। हिन्दी के प्रमुख अलंकारों

के अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी के 'मानवीकरण' और 'विशेषण-विपर्यय' नामक अलंकारों का भी प्रयोग किया है। वह अलंकारों को स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने में विश्वास रखते हैं। उनके अलंकारों में नवीन छायावादी उपमानों को भी व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। इन उपमानों की योजना करने में उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। अलंकारों की कृत्रिम योजना के स्थान पर उन्होंने रचना के भाव-सौन्दर्य को पाठक के हृदय पर अधिक प्रभाव डालने वाली माना है। उदाहरण के लिए उनके इस विचार को स्पष्ट करने वाली निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

वाणी मेरी ! चाहिएँ तुम्हें क्या अलंकार ?
तुम वहन कर सको जन-मन मे मेरे विचार।

छन्द-प्रयोग

पन्त जी ने अपने काव्य में रोला, सखी, रूपमाला और पीयूषवर्षण आदि अनेक मात्रिक छन्दों का कुशल प्रयोग किया है। छन्दों की योजना करते समय उन्होंने प्राचीन नियमों का पालन करने के अतिरिक्त कही-कहीं नवीनता भी दिखाई है। उनके छन्दों में राग और लय की अनिवार्य स्थिति रही है। इस तत्त्व के द्वारा अपने छन्दों में प्रवाह की ओर भी सफल रूप में योजना की है। इस दृष्टि से उनकी 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' नामक कृतियाँ विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं। इनमें संगीत और छन्द में सामंजस्य स्थापित करने का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। छन्द-प्रयोग के विषय में उन्होंने अपने दृष्टिकोण को 'पल्लव' की भूमिका में पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पन्त जी ने अपने काव्य में भावना और कला सम्बन्धी विविध विशेषताओं का अच्छा संयोजन किया है। इन दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने अपनी कुशलता का पूर्ण परिचय दिया है। कल्पना और सौन्दर्य से युक्त होने के कारण उनके भाव हृदय पर तुरन्त प्रभाव डालते हैं। इसी प्रकार उन्होंने विविध कला-तत्त्वों को भी सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया है। छायावाद के कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी कविताओं में अन्य विषयों को ग्रहण करने पर भी छायावाद की किसी-न-किसी विशेषता का अपनी कविताओं में संचार करने का निरन्तर ध्यान रखा है। इस समय

वह काव्य-रूपक लिखने में रुचि दिखा रहे हैं। इनमें प्रकृति और मानव-हृदय के सौन्दर्य के चित्रण की ओर मुख्य ध्यान दिया जाता है। इस दिशा में उनके 'शिल्पी' और 'रजत-शिखर' नामक दो उत्कृष्ट काव्य-रूपक-संग्रह प्राप्त होते हैं।

: ४८ :

श्रीमती महादेवी वर्मा

महादेवी जी का जन्म सम्वत् १९६४ में संयुक्त प्रान्त के फर्रुखाबाद नामक स्थान पर हुआ था। वर्तमान युग में हिन्दी-काव्य की रचना करने वाली महिलाओं में उनका सर्वप्रमुख स्थान है। साहित्य-रचना के साथ-साथ वह चित्रकारिता में भी रुचि रखती हैं और उसमें उन्हें पूर्ण कुशलता प्राप्त है। उनके 'यामा' शीर्षक ग्रन्थ में हमें उनकी कला के ये दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं। 'यामा' में उनकी 'नीहार', 'नीरजा', 'रश्मि' और 'सांध्यगीत' शीर्षक काव्य-कृतियों का संग्रह मिलता है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'दीप-शिखा' नामक एक अन्य काव्य की भी रचना की है। उनकी कविताओं का सम्बन्ध आत्म-साधना से रहा है। उन्होंने आत्मा को पत्नी के रूप में कल्पना करते हुए परमात्मा को पति के रूप में ग्रहण किया है अतः उनके काव्य में परमात्मा के विरह में आत्मा की करुण स्थिति का मार्मिक चित्रण हुआ है।

पद्य-रचना की भाँति महादेवी जी गद्य-रचना में भी पूर्णतः कुशल हैं। उन्होंने 'शृंखला की कड़ियाँ', 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' शीर्षक तीन श्रेष्ठ गद्य-ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में नारी-जीवन का चित्रण हुआ है और शेष दोनों में उन्होंने अपने जीवन में आने वाले कुछ व्यक्तियों के संस्मरण उपस्थित किए हैं। उनकी गद्य-शैली मौलिक होने के अतिरिक्त एक विशेष अपनापन लिये हुए है। हिन्दी के संस्मरण-साहित्य में उनके इन दोनों ग्रन्थों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह गद्य और पद्य, दोनों

की एक ही जैसी कुशलता के साथ रचना कर सकती हैं और इन दोनों के ही क्षेत्रों में उन्होंने खड़ीबोली को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है। आगे हम उनके काव्य की विविध विशेषताओं पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

रस-योजना

महादेवी जी के काव्य में शान्त रस और करुण रस को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शृंगार रस के भी अनेक मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक भावनाओं से रहा है। उन्होंने परमात्मा के वियोग में आत्मा की करुण स्थिति का चित्रण करते हुए करुण रस की योजना की है। इसी प्रकार परमात्मा के महत्त्व को स्पष्ट करने वाली तथा आत्म-बोध से सम्बन्धित कविताओं में उन्होंने शान्त रस की भी उपयुक्त योजना की है। यद्यपि यह सत्य है कि कबीर, सूर और तुलसी की रचनाओं में प्राप्त होने वाले शान्त रस का महादेवी के शान्त रस-सम्बन्धी काव्य से ऊँचा स्थान है, तथापि महादेवी जी की कुछ कविताओं में भी इस रस का अच्छा समावेश प्राप्त होता है। इन रसों के अतिरिक्त उन्होंने शृंगार रस के संयोग और वियोग नामक दोनों पक्षों को भी अपने काव्य में स्थान प्रदान किया है। इस रस की योजना करते समय उन्होंने आत्मा द्वारा परमात्मा को पति के रूप में ग्रहण करने की कल्पना की है। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार की कविताओं में साधारण लौकिक प्रेम की भी स्थिति हो सकती है, तथापि इनमें आध्यात्मिकता की स्थिति को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आगे हम परिचय के लिए उनके काव्य से संयोग शृंगार से सम्बन्धित कुछ इसी प्रकार की पंक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण में देख-देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष,
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

रहस्यवादी काव्य

महादेवी जी ने प्रमुख रूप से रहस्यवादी काव्य की रचना की है। आधुनिक युग के रहस्यवादी कवियों में उनका सर्वप्रमुख स्थान है। उन्होंने अपने काव्य में ईश्वर-प्रेम के अनुभव को विविध रूपों में उपस्थित किया है। उन्होंने अपने रहस्यवाद में एक ओर तो जायसी के सर्ववाद (ईश्वर विश्व में सब कहीं प्राप्त है) के सिद्धान्त को स्थान प्रदान किया है और दूसरी ओर कबीर की भाँति आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति मानकर रहस्यवाद में भावात्मकता को स्थान दिया है। उन्होंने अपनी कविताओं में रहस्यवाद की जिज्ञासा, साधना और मिलन की तीनों स्थितियों का चित्रण किया है। उन्होंने अपने से पूर्व लिखे गए रहस्यवादी काव्य से प्रेरणा लेने के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर अपने मौलिक चिन्तन का भी परिचय दिया है। अपने 'आधुनिक कवि' शीर्षक काव्य-संग्रह में उन्होंने रहस्यवाद के स्वरूप पर भी व्यापक प्रकाश डाला है। यद्यपि यह सत्य है कि कहीं-कहीं अनुभव की अपूर्णता के कारण उनकी रहस्यवादी भावनाएँ अस्पष्ट हो गई हैं तथापि प्रायः उन्होंने अपनी कविताओं में आत्म-वेदना को सजीव रूप में ही उपस्थित करने का प्रयास किया है। यथा—

छिपा है जननी का अस्तित्व,
रुदन में शिशु के अर्थ-विहीन।
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान,
चित्र की ही जड़ता में लीन।
दृगों में छिपा अश्रु का हार,
सुभग है तेरा ही उपहार!

छायावादी काव्य

आधुनिक युग में छायावाद की रचना करने वाले कवियों में महादेवी जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी कविताओं में उसकी भावना और कला-सम्बन्धी सभी विशेषताओं को स्थान दिया है। इन दोनों क्षेत्रों में उन्होंने अपनी मौलिकता को भी अनेक स्थानों पर प्रकट किया है। इस दृष्टि से उन्होने भाव-क्षेत्र में कल्पना, सौन्दर्य, प्रकृति आदि को छायावादी प्रणाली

के अनुसार सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार उन्होंने छायावाद की शैली-सम्बन्धी विशेषताओं के समावेश की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया है। 'आधुनिक कवि' (प्रथम भाग) की भूमिका में उन्होंने छायावाद के विषय में अपने विचारों को भी विस्तार के साथ स्पष्ट किया है।

अन्य भाव-सम्बन्धी विशेषताएँ

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त महादेवी जी के काव्य में कुछ अन्य विशेषताओं को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इस विषय में हम उनके काव्य में प्राप्त होने वाले प्रकृति-चित्रण, कल्पना-समावेश, राष्ट्र-भावना और दार्शनिकता पर विचार करेंगे। उन्होंने प्रकृति को छायावादी प्रणाली से चित्रित किया है। इसी करण उन्होंने प्रकृति में मानव के भाव-विकास के दर्शन किए हैं। यद्यपि उनकी कविताओं में प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र अधिक प्राप्त नहीं होते, तथापि उन्होंने अपनी कविताओं में प्रायः प्रकृति-चित्रण की ओर ध्यान दिया है। उनके काव्य में कल्पना का समावेश भी अधिकतर इन प्रकृति-चित्रों के विषय में ही हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं उनकी कल्पनाओं में समानता और गति का अभाव रहा है, तथापि उनकी कल्पनाओं में आकर्षण का भी समावेश हुआ है। महादेवी जी ने अपनी कुछ कविताओं में राष्ट्र-भावना को भी स्थान दिया है। इस प्रकार की कविताओं में राष्ट्र की दुर्दशा और जनता की वेदना का चित्रण किया गया है। यह उनके काव्य की मुख्य प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने इसकी अत्यन्त प्रभावशाली रीति से योजना की है। इनके अतिरिक्त उनके काव्य की एक अन्य विशेषता दार्शनिक विचारों का समावेश है। रहस्यवाद से युक्त होने के कारण इसके लिए उनके काव्य में पर्याप्त अवकाश रहा है। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी रचनाओं में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद का समावेश किया है।

कला-तत्त्व

महादेवी जी ने अपने काव्य में कला-तत्त्वों की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना खड़ीबोली में की है और अपनी भाषा में मधुरता तथा कोमलता का विशेष रूप में समावेश किया है। उनकी कविताओं में शब्द-योजना के विविध रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु उन्होंने अपनी भाषा

को कहीं भी कृत्रिम नहीं होने दिया है। कहीं-कहीं उन्होंने लोकगीतों की शब्दावली का प्रयोग कर अपनी भाषा को विशेष सहजता और मधुरता भी प्रदान की है। उन्होंने अपनी भाषा को माधुर्य गुण पर आधारित किया है। प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा उन्होंने अपनी भाषा को छायावाद की कला-सम्बन्धी सूक्ष्मताएँ भी प्रदान की हैं।

शैली-प्रयोग की दृष्टि से महादेवी जी ने अपने काव्य में मुख्य रूप से चित्र-शैली और प्रगीत शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण काव्य की रचना गीतों के रूप में की है। अत. प्रगीत शैली ही उनके काव्य में मुख्य रही है। उन्होंने अपनी कविताओं में गीति-काव्य की सभी स्थूल और सूक्ष्म विशेषताओं का निर्वाह किया है। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त उन्होंने सम्बोधन शैली, उद्बोधन शैली और प्रश्न शैली का भी प्रयोग किया है। प्रगीत शैली के कारण उनके काव्य में छन्दों के प्रयोग का प्रश्न नहीं उठता, तथापि उनके छन्दों की कुछ पंक्तियों में गीतिका और सार आदि विविध मात्रिक छन्दों के लक्षण भी प्राप्त होते हैं। छायावाद के अन्य कवियों की भाँति अलंकार-प्रयोग के क्षेत्र में उन्होंने भी नवीन उपमानों का प्रयोग किया है। उनकी नवीन अलंकार-दृष्टि का परिचय निम्नलिखित छन्द में प्राप्त होने वाले उपमा और रूपक नामक अलंकारों से हो सकता है—

> प्रिय ! सांध्य गगन, मेरा जीवन !
> यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
> नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग।
> छाया-सी काया वीतराग,
> सुधि-भीने स्वप्न रंगीले घन ।।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

बिहार के प्रसिद्ध कवि श्रीयुत् रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सम्वत् १९६५ में हुआ था। उन्होंने हिन्दी-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। उन्होंने काव्य, आलोचना, निबन्ध तथा कला-साहित्य के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। वह मुख्य रूप से कवि हैं, किन्तु आलोचना के रूप में भी उन्होंने अनेक मौलिक और प्रशंसनीय विचार उपस्थित किए हैं। इस दृष्टि से उनकी 'मिट्टी की ओर' शीर्षक रचना विशेष रूप से पढ़ने योग्य है। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने 'हुंकार' में 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', 'रसवन्ती', 'छन्दगीत', 'दिल्ली' और 'रश्मिरथी' आदि अनेक रचनाएँ उपस्थित की हैं। इन सभी रचनाओं में उनके चिन्तन की गहरी छाप विद्यमान है। उन्होंने छायावाद, प्रगतिवाद और राष्ट्रीयता को अपने काव्य में मुख्य स्थान प्रदान किया है। हिन्दी के राष्ट्रीय कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है और इस समय भी राष्ट्रीय भावों का प्रतिपादन ही उनके काव्य का मुख्य विषय है।

'दिनकर' जी के काव्य में भारतीय संस्कृति को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने देश की संस्कृति का गहन अध्ययन किया है। इस अध्ययन की गहनता उनके 'संस्कृति के चार अध्याय' शीर्षक ग्रन्थ में स्पष्ट देखी जा सकती है। जिस समय हिन्दी में प्रगतिवादी कविताओं की रचना प्रारम्भ हुई उस समय प्रगतिवाद की ओर आकृष्ट होकर उन्होंने भी अपनी कविताओं में उसका समावेश किया। कुछ समय तक उनकी गणना प्रगतिवाद के प्रमुख कवियों में हुई, किन्तु बाद में प्रगतिवाद में भारतीय संस्कृति का विरोध पाकर उन्होंने उसका त्याग कर दिया। इससे स्पष्ट है कि वह भारतीय संस्कृति में विशेष आस्था रखते है। इस समय भी वह आचार्य विनोबा भावे के सांस्कृतिक महत्त्व से युक्त भूदान-यज्ञ के सिद्धान्तों को लेकर काव्य लिख रहे है।

'दिनकर' जी ने अपनी रचनाओं में भारतवर्ष के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को उत्कृष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने अपनी रचनाओं में ओज गुण को मुख्य स्थान प्रदान किया है। यही कारण है कि उनके राष्ट्रीय काव्य का

अध्ययन करने पर पाठक अपने मन में विशेष उत्साह का अनुभव करता है। इस ओजपूर्ण वातावरण को उपस्थित करने के लिए उन्होंने अपनी भाषा को भी विशेष सजीवता प्रदान की है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में अनुभव और चिन्तन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। अनुभव के आधार पर लिखी गई होने के कारण उनकी कविताओं में कृत्रिमता का कहीं भी समावेश नहीं हुआ है। यहाँ अनुभव से हमारा तात्पर्य समाज-दर्शन अथवा समाज की स्थिति को देखने से है। इसका समावेश करने के अतिरिक्त उन्होंने चिन्तन के आधार पर अपने मत को और भी पुष्ट रूप में उपस्थित किया है।

रहस्यवादी काव्य

यद्यपि 'दिनकर' जी रहस्यवाद के प्रमुख कवि नहीं हैं, तथापि उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं रहस्यवादी सिद्धान्तों का भी समावेश हुआ है। इस दृष्टि से उनके 'सामधेनी' शीर्षक काव्य-संग्रह की अनेक कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने रहस्यवादी साधना-प्रणाली के अनुसार संसार को नश्वर अर्थात् नष्ट हो जाने वाला माना है। उन्होंने ब्रह्म में जीव को उसी प्रकार व्याप्त माना है जिस प्रकार पानी में उसकी एक बूँद लीन रहती है। ब्रह्म के महत्त्व का प्रतिपादन कर उन्होंने व्यक्ति को मोह का त्याग करते हुए साधना का संदेश दिया है। ईश्वर के प्रभाव और महत्त्व के विषय में 'साम-धेनी' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

ग्रहण करती निज सत्य स्वरूप,
तुम्हारे स्पर्श-मात्र से धूल।
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल॥

जीवन-सिद्धान्त

'दिनकर' जी ने अपने काव्य में मानव-जीवन के चित्रण की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। यह चित्रण सर्वत्र अनुभव पर आधारित रहा है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक पक्ष का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया है। संसार के विषय में अपने अनुभवों को उन्होंने गम्भीर और स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने संसार में मनुष्य के जीवन में आने वाले संघर्षों का चित्रण करते हुए अन्त में

मनुष्य को आशा न छोड़ने का सन्देश दिया है। वह कर्म में विश्वास रखते हैं और मानव को आत्मविश्वास की ज्योति से युक्त देखना चाहते हैं। उनकी रचनाओं में अनुभव स्थान-स्थान पर बिखरे हुए हैं। इन अनुभवों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने सूक्ति-शैली का भी प्रयोग किया है। यथा—

(क) **दुखियों का जीवन कुरेदना भी है पाप बड़ा।**

(ख) **अश्रु पोंछने वाला जग में विरले को मिलता॥**

यह अनुभव 'दिनकर' जी के अपने मन तक ही सीमित नहीं रहा है। उन्होंने इसे मानवता में परिवर्तित कर दिया है। उनकी रचनाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने राष्ट्र को आगे बढ़ते हुए देखना चाह कर भी वह मानवमात्र का कल्याण चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने मनुष्य को संघर्षों का त्याग कर विश्व-शान्ति के लिए प्रयत्न करने का सन्देश दिया है। संघर्ष की समाप्ति और मनुष्यों की समता के प्रचार को ही वह शान्ति की ओर ले जाने वाले प्रमुख तत्त्व मानते हैं। उदाहरण के लिए उनके 'कुरुक्षेत्र' शीर्षक काव्य में भीष्म पितामह की युधिष्ठिर के प्रति निम्नलिखित उक्ति देखिए—

शान्ति नहीं तब तक, जब तक,
सुख-भोग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो!

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'दिनकर' जी के काव्य में अनुभव और चिन्तन को मुख्य स्थान प्राप्त है। इनके अतिरिक्त उन्होंने कल्पना का आधार लेकर भी अपने भावों को सजाया है। वर्त्तमान युग के कवियों में उनकी विशेषता उनकी स्पष्ट कथन की प्रणाली के कारण है। वह अपनी बात को जितने तीखे और स्पष्ट रूप में कहते है उतना आधुनिक युग में अन्य किसी भी कवि ने नहीं किया है। इससे उनके अध्ययन की गम्भीरता और हृदय की शक्ति, दोनों का अच्छा परिचय मिलता है। इस शैली से युक्त होने के कारण उनकी रचनाओं का पाठक के हृदय पर निश्चित रूप से व्यापक प्रभाव पड़ता है।

'दिनकर' जी ने अपने काव्य की रचना खड़ीबोली में की है। उन्होंने अपनी भाषा की योजना करते समय संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त उर्दू, अरबी और फारसी के शब्दों का भी पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। वास्तव में उनका प्रयास अपनी भाषा को कृत्रिम न बनाकर उसे जनता के लिए सहज रूप में उपस्थित करना रहा है। उनकी भाषा में सर्वत्र सहज प्रवाह की स्थिति रही है। भाषा को सजीवता प्रदान करने के लिए उन्होंने अपने काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। शैली-प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य में विविध शैलियों को स्थान प्राप्त हुआ है। इन सभी शैलियों में उन्होंने स्पष्ट कथन की प्रणाली का अनिवार्य रूप से समावेश किया है। साधारणतः उन्होंने अपने काव्य की रचना छन्दों में की है। किन्तु गीति-काव्य के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है तथापि उन्होंने गीतों की अधिक मात्रा में रचना नहीं की है।

'दिनकर' जी ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों रूपों में की है। प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में उनके 'कुरुक्षेत्र' शीर्षक काव्य का विशेष स्थान है। इस कृति में उन्होंने 'महाभारत' में प्राप्त होने वाले कुरुक्षेत्र के युद्ध-सम्बन्धी कथानक को नवीन रूप में उपस्थित किया है। हिन्दी में 'महाभारत' के अंशों को लेकर लिखे गए काव्यों में इस कृति का सबसे अधिक महत्त्व है। प्रबन्ध-काव्य की भाँति मुक्तक काव्य की रचना में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने दीर्घ और संक्षिप्त, दोनों प्रकार की मुक्तक कविताएँ लिखी हैं, किन्तु संक्षिप्त कविताओं की तुलना में उन्होंने अपनी दीर्घ कविताओं के भाव-तत्त्व अथवा विचार-तत्त्व को शिथिल नहीं होने दिया है।

द्वितीय खण्ड

आर्थिक

सामाजिक

राजनैतिक

विचारात्मक

परिचयात्मक

भारत सम्बन्धी निबन्ध

: १ :

जगद्गुरु भारत

दो वर्ष पूर्व भारत के प्रधान मन्त्री और लोकनायक पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विदेशों में जाकर पंचशील के उस महान् और पवित्र संदेश का प्रचार किया, जिसका आधार प्राचीन भारत की आध्यात्मिक और नैतिक संस्कृति है। वे जहाँ जाते, वहीं की जनता उनका संदेश सुनने के लिए आतुर हो उठती। वे जहाँ जाते, वहाँ महात्मा गांधी का—सचाई तो यह है कि महात्मा बुद्ध का अहिंसा और प्रेम का संदेश सुनाते। आज अणुबम की विभीषिका से डरा हुआ पश्चिम केवल भारत की ओर आशाभरी नजरों से देख रहा है। सर्वनाश की आशंका से भयभीत संसार को केवल भारतवर्ष की शिक्षा ही प्रकाश की किरण घने बादलों में आशा की चमकीली रेखा के रूप में दीखती है। विश्व को भस्म करने वाले महायुद्धों के प्रचण्ड दावानल को शान्त करने की शक्ति भारत की अहिंसा और प्रेम की शीतल वाणी में ही है। यही कारण है कि सारा संसार भारतवर्ष की शिक्षा को सुनने को उत्सुक है।

भारतवर्ष आज इस २०वीं सदी में ही जगत् को नई शिक्षा नहीं देने लगा है, अत्यन्त प्राचीन काल से हमारा देश जगद्गुरु रहा है। आज से हज़ारों वर्ष पूर्व भारत के प्रथम स्मृतिकार भगवान् मनु ने लिखा था कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि संसार के लोग भिन्न-भिन्न कोनों से भारतवर्ष में आते थे और यहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे। यदि प्राचीन धर्मों का इतिहास देखा जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पारसी धर्म पर वैदिक मान्यताओं का प्रभाव पड़ा था। ईसाई धर्म पर बुद्ध की शिक्षाओं की छाप स्पष्ट रूप से दीखती है। पारसियों की अग्नि-पूजा भारतीयों के यज्ञों का ही एक रूप है।

हमारे राम और सीता के उत्सव प्राचीन अमेरिका में भी मनाये जाते थे, मैक्सिको में प्राचीन मूर्त्तियाँ आज भी देखी जा सकती हैं। इण्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि देशों में हमारे देश के आचार्य और व्यापारी जाकर उन्हें धर्म, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता का पाठ पढ़ाते थे। अशोक के समय चीनी तुर्किस्तान में भारतीय उपनिवेश की नींव पड़ी थी। वहाँ चीनियों के आने से पूर्व ही वर्त्तमान यारकन्द नदी को सीता नाम दिया गया था। इस प्रदेश में भारतीय सभ्यता के इतने अधिक अवशेष मिले हैं कि इसे 'उपरला हिन्द' कहा जाता है। सातवाहनों के उत्कर्ष के समय (५० ई० पूर्व से ७८ ई०) में भारतीयों ने दक्षिण के पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में अपना राज्य और अपनी संस्कृति स्थापित करके 'उपरले हिन्द' का निर्माण किया।

भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों में छठी शती ई० पू० से ही आ रहे थे। ईस्वी सन् के शुरू में वर्त्तमान वीतनाम (फ्रांसीसी हिन्द-चीन) में कौठार और पांडुरंग नाम के दो छोटे भारतीय राज्य थे। मेकांग नदी के तट पर एक तीसरा बड़ा भारतीय राज्य था, जिसकी स्थापना कौण्डिण्य नामक ब्राह्मण ने की थी। चीनी इस राज्य को फूनान कहते थे। जावा व सुमात्रा में भी प्राय: शैवों ने भारतीय बस्तियाँ बसाईं। १९२ ई० में चम्पा (अनाम) में भारतीयों ने एक राज्य स्थापित किया जो उस समय से १२ सौ वर्ष तक किसी प्रकार चलता ही रहा। ईसा की पहली शती में पश्चिम में मैडागास्कर द्वीप में भारतीय बस्तियाँ बसीं। वस्तुतः प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार कर साइबेरिया से श्रीलंका और ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान से प्रशांत महासागर के बोरनियो और बाली टापू तक फैल गई थी।

धर्म व संस्कृति का प्रचार

सम्भव है कि किसी समय महत्त्वाकांक्षी भारतीय राजाओं ने अपनी विशाल सेनाओं द्वारा विदेशों पर आक्रमण किया हो, किन्तु यह कोई हमारे लिए विशेष गौरव की बात नहीं है। भारत का तो गौरव इस बात में है कि खून की बूँद बहाये बिना भारत ने अत्यन्त विशाल प्रदेश में संस्कृति और धर्म का महान् राज्य स्थापित कर लिया था। भारत के साहसी भिक्षुकों, धर्मोपदेशकों और व्यापारियों ने हिमालय की उत्तुँग चोटियों को लाँघकर तथा विशाल

सागरों के वक्षःस्थल को चीरकर दूर-दूर के प्रदेशों को भारतीय संस्कृति के रंग में रंग दिया। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल में संस्कृति का मूल आधार धर्म था। उसी के साथ वर्णमाला, भाषा, साहित्य, कला, शिल्प आदि मनुष्य को सुसंस्कृत और सभ्य बनाने वाली कलाएँ भी वहाँ पहुंच जाती थीं। दक्षिणी-पूर्वी एशिया का यह भू-भाग भारत का ही अंग समझा जाता था। उस समय यूनानी इसे 'गंगा पार का हिन्द' कहते थे। उत्तर दिशा में मध्य एशिया और अफ़ग़ानिस्तान में भी, जो आजकल मुस्लिम राज्य है, बुद्ध की पूजा होती थी। मिस्री, यूनानी और अरबी संस्कृतियों पर भारत की संस्कृति व शिक्षा का अद्भुत प्रभाव पड़ा था। आज यह सत्य निर्विवाद कोटि तक पहुंच गया है कि अंकगणित के मौलिक सिद्धान्त भारत से दूसरे देशों में गये थे। भारतीयों की यह विदेश-विजय केवल साम्राज्य या आर्थिक लोभ के कारण नहीं हुई थी। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इसका एक प्रेरक कारण लोक-कल्याण व धर्म-प्रचार की भावना भी थी। उस समय के सम्भवतः सबसे विस्तृत राज्य के स्वामी अशोक के पुत्र व पुत्री धर्म-प्रचार की पुनीत भावना से भिक्षु-वेश धारण करके विदेशों में गये थे। व्यापारियों के साथ भारत का सांस्कृतिक प्रभाव भी पहुंचता था।

विदेशों में भारतीय उपनिवेश स्थायी रूप से बस जाते थे। यह कार्य दो तरह से होता था, भारतीय राजकुमार हिन्दू राज्यों की नींव डालते थे अथवा कौण्डिण्य या अगस्त्य जैसे ऋषि-मुनि आश्रम व तपोवन स्थापित करते थे। चीन और मंगोलिया जैसे देशों में अनेक बौद्ध आचार्यों ने जाकर बौद्ध धर्म फैलाया था। पहली सदी में भारतीय संस्कृति चीन पहुंची और वहाँ से कोरिया तथा कोरिया से छठी सदी में जापान। १२०० वर्षों तक भारतीय विद्वान अपार कष्ट सहते हुए चीन जाकर संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषान्तर करते रहे। जापानी विद्वान् नानजियो के त्रिपिटिक की प्रसिद्ध सूची में चीनी में अनूदित १६६२ संस्कृत-ग्रंथों का वर्णन है। अश्वघोष तथा नागार्जुन आदि प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों का परिचय चीनी साहित्य से हुआ है। ह्वानसांग और फाहियान जैसे चीनी यात्री यहाँ आकर ज्ञान व संस्कृति का परिचय प्राप्त करते रहे। सातवीं सदी में इसने तिब्बत में प्रवेश किया और तिब्बत के धर्म-दूतों ने इसे मंगोलिया तक पहुँचाया। यह जानकारी शायद बहुत मनोरंजक होगी कि तिब्बत की वर्णमाला

की आवश्यकता थी। वह थोन संभोर नामक तिब्बती विद्वान को कश्मीर भेजकर प्राप्त की गई। इसके बाद भारतीय ग्रंथों के अनुवाद हुए और भारतीय संस्कृति का तिब्बत में प्रसार हुआ। दक्षिण-पूर्वी एशिया में करीब १।। हजार वर्ष तक हिन्दू राज्य विद्यमान थे, १६वीं सदी में इस्लाम का वहाँ प्रवेश हुआ और हिन्दू राज्य वहाँ समाप्त हो गये।

भारतीय साम्राज्य कागौरव

एक ऐतिहासिक विद्वान् ने जगद्गुरु-भारत द्वारा देश-विदेशों में ज्ञान व संस्कृति के प्रचार को संक्षिप्त परन्तु सुन्दर शब्दों में इस तरह व्यक्त किया है—

"भारत ने उस समय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किये थे, जबकि सारा संसार बर्बरतापूर्ण कृत्यों में डूबा हुआ था। यद्यपि आज के साम्राज्य उनसे कहीं अधिक विस्तृत हैं, पर उच्चता की दृष्टि से वे इनसे कहीं बढ़-चढ़कर थे, क्योंकि वे वर्त्तमान साम्राज्यों की भाँति तोपों, वायुयानों और विषैली गैसों द्वारा स्थापित न होकर सत्य और श्रद्धा के आधार पर खड़े हुए थे।"

परन्तु समय एक-सा नहीं रहता। देश के अन्दर अनेक सामाजिक दोष उत्पन्न हो गये। भारत में कर्मण्यता, महत्त्वाकांक्षा, धर्म-भावना और उत्साह शिथिल होने लगे। इस्लाम के आने के साथ ही मुस्लिम जातियों ने भारत पर आक्रमण किया। राजनैतिक पराधीनता के साथ-साथ भारतीय ज्ञान व संस्कृति का प्रचार भी विदेशों में समाप्तप्रायः हो गया तथापि उसने इस्लाम पर प्रभाव अवश्य डाला। मुस्लिम विदेशी शासक यहाँ की कला से प्रभावित हुए। अल-बेरूनी, जो महमूद गजनी के साथ भारत आया था, भारतीय ज्ञान व संस्कृति के कोष का संग्रह करता रहा। दाराशिकोह ने उपनिषदों का अनुवाद फारसी में किया। पंचतंत्र आदि ग्रंथों का अनुवाद मुस्लिम देशों में किया गया और वे बहुत लोकप्रिय हुए।

समय का प्रवाह चलता रहा। देश में मुस्लिम शासन भी न रहा और अंग्रेज शासक बन गये। स्वय परतन्त्र देश किसी को क्या संदेश देता, परन्तु भारत की रत्नप्रसविनी भूमि ने विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि विद्वान उत्पन्न किये, जो यूरोप, अमेरिका आदि में प्रचार करते रहे। ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य से मैक्समूलर प्रभावित हुए। अनेक जर्मन व अमेरिकन विद्वानों ने उपनिषदों, गीता व

कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा गया है। बहुत से हिन्दू विचारकों को सैकुलर राज्य की स्थापना से ही मतभेद है। उनका कहना है कि हिन्दू-प्रधान भारत के संविधान में हिन्दू धर्म को स्वीकार किया जाना चाहिए, भले ही अल्पसंख्यकों को पूर्ण संरक्षण की गारण्टी दी जाय। उनकी सम्मति में व्यक्ति नहीं, पंचायत को राज्य की इकाई मानना चाहिए। कुछ लोग राज्यों को अधिक अधिकार देने के विरोधी है तो दूसरे विधान में केन्द्र को दिये गये अधिकारों को आवश्यकता से अधिक मानते हैं।

इन सब आलोचनाओं में कोई सचाई न हो, यह बात नहीं है। परन्तु यह भी सत्य है कि संविधान के निर्माताओं ने विविध दृष्टिकोणों का समन्वय करने की कोशिश की है। ऐसा संविधान बनाना सम्भव नहीं था, जिस पर सभी विचारक तथा राजनीतिज्ञ पूर्णतः एकमत हों।

: ४ :

धर्म-निरपेक्ष राज्य

भारतवर्ष के संविधान की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह धर्म-निरपेक्ष राज्य है। अंग्रेजी में इस राज्य-पद्धति को "सैकुलर गवर्नमेण्ट" कहते है। जब संविधान में धर्म-निरपेक्षता का निश्चय हुआ, तब बहुत से लोगों ने इसका विरोध किया था। आज भी बहुत से विचारक यह मानते है कि धर्म-निरपेक्षता आदर्श नहीं है।

आक्षेप

हमारा महान् देश धर्म-प्रधान रहा है। धर्म उसकी आत्मा में है। उसकी उपेक्षा करके हम भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व को नष्ट कर रहे हैं। भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दुओं का देश रहा है और आज भी देश-विभाजन के पश्चात् भी—इस देश में लगभग ३१ करोड़ हिन्दू रहते हैं, जब कि अन्य सब

मतावलम्बियों की संख्या पाँच करोड़ से अधिक नहीं है। इसलिए भारतवर्ष के संविधान में ईश्वर और धर्म को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। यह क्या खेद की बात नहीं है कि राम और कृष्ण के देश में, वेदों, उपनिषदों और पुराणों के देश में, ऋषियों और मुनियों के देश में जो संविधान बने, उसमें संसार की सबसे महान् शक्ति ईश्वर का उल्लेख भी न हो। भारतवर्ष हिन्दुओं का राज्य रहा है और आज भी है। अतएव यह हिन्दू राज्य होना चाहिए। ऐसे विचारक इस आरोप का विरोध करते हैं कि भारत को 'हिन्दू राज्य' कहने से दूसरे सम्प्रदायों की स्थिति चिन्ताजनक हो जायगी। उनका कहना है कि संविधान में अल्पसंख्यक जातियों को उनके हितों की—उनके धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ आदि की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी जायगी। देश का सामान्य धर्म हिन्दू होते हुए भी प्रत्येक नागरिक अपने-अपने धर्म-पालन में स्वतंत्र होगा। इसके समर्थन की पुष्टि में वे इंगलैण्ड आदि देशों का उदाहरण देते हैं। इंगलैण्ड प्रोटैस्टैट ईसाइयों का राज्य है, किन्तु वहाँ सभी धर्म अपनी-अपनी संस्कृति और धर्म को मानने में स्वतन्त्र हैं। इसलिए इस आरोप में कोई सचाई नहीं है कि भारत को हिन्दू राज्य घोषित कर देने से हिन्दू-भिन्न धर्मों के साथ कोई अत्याचार या अन्याय होने लगेंगे या उनका देश में रहना कठिन हो जायगा।

धर्म-विहीन राज्य स्वयं एक बड़ा दोष है। ऐसे राज्य में नीति और चरित्र की रक्षा भी सुगम नही होगी। जिस देश के बच्चे धर्म-विहीन राज्य का आदर्श अपने सामने देखेंगे, उनसे कैसे यह आशा की जा सकती है कि वे वेद और उपनिषद्, गीता तथा दर्शन, सन्तों और गुरुओं की पुण्य शिक्षाओं का अनुसरण भी करना चाहेंगे। धर्म-विहीन राज्य का आदर्श देश को भयंकर भौतिकवादी बना देगा।

इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त युक्तियों में एक सचाई है। भारतवर्ष में अपने देश की महान् पुण्य धार्मिक संस्कृति की रक्षा अवश्य की जानी चाहिए। देश को अपनी संस्कृति से विहीन कर देना उसकी आत्मा का हनन कर देना है। महात्मा गांधी इस महान् राष्ट्र के निर्माता है। वे प्राचीन संस्कृति के, जिसका मूल उद्गम धार्मिकता, ईश्वर-विश्वास और त्यागमय जीवन में है, महान् समर्थक थे। भारत को उस संस्कृति से विमुख कर देना कहाँ तक उचित है?

विशेष परिस्थितियों की प्रतिक्रिया

प्रश्न यह है कि वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं अथवा वे कौनसे कारण थे, जिनसे विवश अथवा प्रेरित होकर भारत जैसे धार्मिक देश के संविधान के निर्माताओं ने राज्य को धर्म-निरपेक्ष घोषित कर दिया। भिन्न-भिन्न विचार-धाराएँ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। जब संविधान बना, तब भारत साम्प्रदायिकता का भीषण उन्माद देख चुका था, जिसमें हिन्दुओं, सिखों व मुसलमानों का हजारों की संख्या में कत्लेआम किया गया था। देश की पुत्रियों की सरे बाज़ार में इज्ज़त लूटी गई थी। हमारे महान् देश को दो परस्पर युद्ध-शील राज्यों में बाँट दिया गया। यह परिस्थितियाँ थी, जिनमें देश का नया संविधान बना। इसलिए यह स्वाभाविक था कि देश के प्रतिनिधि सम्प्रदाय, मजहब व धर्म के प्रति कठोर विरोधी रुख अपनाते। इस धर्म के नाम पर जब महान् पवित्र देश में मनुष्य पशु से भी बदतर हो गया था, धर्म के सम्बन्ध में सहानुभूति की भावना नष्ट हो गई। इस धर्म-विरोधी वातावरण में हमारा संविधान बना। उस समय हमारे देश के प्रतिनिधि यह सोच रहे थे कि जिस धर्म के नाम पर यह सब बर्बर काण्ड हुए हैं, उसको भुला देना ही अच्छा है। कम से कम राज्य और संविधान की दृष्टि में उसकी सत्ता स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। धर्म के प्रति यह प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक थी और इसके लिए देश के विधान-निर्माताओं को दोष नहीं दिया जा सकता। यह भी ठीक है कि हमारे कुछ नेताओं का दृढ़ विश्वास था कि धर्म को सब स्थानों पर थोपना उचित भी नहीं है।

राज्य और धर्म

राज्य का धर्म के साथ क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर कुछ अधिक गम्भीर विचार की आवश्यकता है। राज्य का सम्बन्ध नागरिक की भौतिक उन्नति से है। उसका कर्त्तव्य नागरिक की शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और भौतिक उन्नति के लिए आवश्यक सुविधाएँ उत्पन्न करना है। देश की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना उसके प्रधान कर्त्तव्य है। उसकी दृष्टि में सब नागरिक चाहे वह किसी धर्म के मानने वाले हों, एक समान हैं। कोई धर्म विशेष उसकी दृष्टि में महत्त्व नहीं रखता। धर्म का

सम्बन्ध मानव के परलोक से है इस लोक से नहीं। कानून की दृष्टि में किसी धर्म विशेष को मानने वाला न ऊँचा होना चाहिए न नीचा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, तब सत्य, नैतिकता, परोपकार, दया तथा सदाचारमय जीवन का उल्लेख नहीं कर रहे। यह तो मानव के शाश्वत धर्म हैं, जिनके आदेश सभी सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों में दिये गये हैं। हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य का किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। इसलिए यह भय निराधार है कि भारत को हिन्दू व धर्म-विशेष का राज्य न कहने से देश धर्म के उदात्त तत्त्वों को छोड़कर अनैतिक हो जाएगा। वस्तुतः सैकुलर शब्द का अर्थ न धर्म-विहीन राज्य है न धर्म-निरपेक्ष। मानव-धर्म की उपेक्षा करें तो कोई राज्य चल ही नहीं सकता। चोरी, अहिंसा, बलात्कार और बेईमानी अदि अनैतिक पापों को रोकना तो राज्य का परम उद्देश्य होता है। 'सैकुलर' शब्द का ठीक अर्थ तो यह है कि किसी सम्प्रदाय विशेष से राज्य का सम्बन्ध न हो अर्थात् राज्य की दृष्टि में सम्प्रदाय समान हों। सैकुलर का अर्थ असाम्प्रदायिक राज्य है न कि धर्म-विहीन। हमें विश्वास है कि सैकुलर शब्द को ठीक समझने के पश्चात् इसका विरोध बहुत कम हो जायगा।

धर्मराज्य से हानियाँ

पाकिस्तान ने अपने राज्य को इस्लामी राज्य घोषित किया है। इस कारण उसकी सर्वत्र निन्दा हो रही है। वहाँ इसी भावना के कारण यह घोषित किया गया है कि कोई गैर-मुस्लिम राष्ट्रपति नहीं बन सकता। पाकिस्तान में शासकों के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का ही यह स्वाभाविक परिणाम है कि वहाँ हिन्दुओं पर निरन्तर घोर अत्याचार हो रहे है। भारत के मुस्लिम शासन-काल में मुसलमान बादशाहों ने इसी दुर्भावना के कारण हिन्दुओं पर अत्याचार किये, यह कौन नहीं जानता। स्वय इगलैण्ड का इतिहास प्रोटैस्टैंटों और रोमन कैथोलिकों के एक दूसरे पर अत्याचारो का दुखद इतिहास है। जब कि एक दफा आप स्वीकार कर लेते हैं कि राज्य किसी विशेष धर्म को स्वीकार करता हैं तब उसका स्वाभाविक परिणाम यह हो जाता है कि उस धर्म को न मानने वाले हीन कोटि में आ जाते है और यही विचारमात्र सम्भावित अनर्थो का

अन्य धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया और ज्ञान प्राप्त किया। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने संसार को यह बताया कि वृक्षों में जीव है और वे भी जीवित प्राणियों की भाँति सुख-दुःख अनुभव करते हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अमर काव्य ने यूरोप की आत्मा को प्रभावित किया। गांधी के सत्य व अहिंसा का संदेश पं० जवाहरलाल के द्वारा आज भी विश्व को प्रभावित कर रहा है। सचमुच भारत जगद्गुरु है।

: २ :

२६ जनवरी

३१ दिसम्बर १६२६ का दिन था और रात के १२ बजे थे। पंजाब की सख्त सर्दी थी, लोग ठिठुर रहे थे, पर रावी के पुण्य तट पर एक शानदार पण्डाल में इस महान् देश के महान् नेता और सभी प्रान्तों के माननीय प्रतिनिधि हर्षविभोर होकर पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ-साथ नाच रहे थे, जोश और उमंगों के कारण लाहौर के भीषण शीत का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। इसका एक कारण था। इसी समय रात के १२ बजे उन्होंने पं० नेहरू के सभापतित्व में एक प्रस्ताव पास किया था कि वे पूर्ण स्वतन्त्र होकर रहेंगे। पूर्ण स्वराज्य से कम किसी भी शर्त पर वे अंग्रेजों से समझौता नहीं करेंगे। अपने इस प्रस्ताव को राष्ट्र के दृढ़ संकल्प के रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने २६ जनवरी १६३० का दिन नियत किया था।

२६ जनवरी १६३०

१६३० की २६ जनवरी को रविवार था। समस्त राष्ट्र ने सैकड़ों नगरों व हजारों कस्बों में पूर्ण स्वाधीनता दिवस मनाया। तिरंगे झंडों के नीचे वन्देमातरम् तथा राष्ट्रीय गीतों के साथ हजारों की भीड़ ने अपने नेताओं द्वारा नियत एक प्रतिज्ञा-पत्र पढ़ा, जिसमें यह दृढ़ संकल्प किया गया था कि 'पूर्ण स्वाधीनता' हमारा लक्ष्य है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम सभी

प्रकार का बलिदान करने को कटिबद्ध हैं। इसके बाद से प्रतिवर्ष २६ जनवरी का दिन आता और समस्त राष्ट्र नये उत्साह व नई उमंगों के साथ इस संकल्प को दुहराता। महान् राष्ट्र का यह संकल्प ब्रिटिश शासन को दहला देता था, इसलिए उसका दमन-चक्र वेग से चलता था। लाठियाँ चलतीं, गिरफ्तारियाँ होतीं और कभी-कभी गोलियाँ भी चलाई जातीं। प्रति वर्ष यह घटना दुहराई जाती—जनता का दृढ़ संकल्प और अपूर्व उत्साह तथा दूसरी ओर नृशंसता-पूर्ण हत्याकाण्ड तथा दमन-चक्र। इसलिए २६ जनवरी का दिन देश के राष्ट्रीय संघर्ष में असाधारण महत्त्व प्राप्त करता गया। लम्बे संघर्ष के बाद एक समय आया कि २६ जनवरी का दृढ़ संकल्प पूर्ण हो गया और देश स्वाधीन हो गया।

नये संविधान का आरम्भ

देश को स्वाधीनता १५ अगस्त को मिली थी, इसलिए यह दिन देश के राजनैतिक इतिहास में असाधारण महत्त्व रखता है, किन्तु इससे २६ जनवरी का महत्त्व कम नहीं हुआ है। राष्ट्र यह भूला नहीं है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के महान् संग्राम की सफलता का श्रेय २६ जनवरी के इस संकल्प को है। इसलिए जब नये संविधान के लागू होने का प्रश्न आया, तो देश ने इस दिन के महत्त्व को देखते हुए २६ जनवरी से ही इसे लागू करने का निश्चय किया। १९४९ के अन्त में भारत की संविधान सभा ने देश का गौरवपूर्ण संविधान पास कर दिया और २६ जनवरी १९५० को यह संविधान लागू हो गया। इसके लागू होते ही ब्रिटिश शासन का अन्तिम चिह्न—गवर्नर-जनरल—भी देश से विदा हो गया। देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद ने राष्ट्रपति के रूप में नये संविधान के अनुसार देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। १५ अगस्त, १९४७ से देश का वैधानिक स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश का एक भाग था। अब वह सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बन गया। ब्रिटिश नरेश का भारत के साथ वैधानिक सम्बन्ध भी समाप्त हो गया।

इस तरह २६ जनवरी का महत्त्व देश के इतिहास में और भी बढ़ गया। १९३० में इसी दिन राष्ट्र ने 'पूर्ण स्वराज्य' का दृढ़ संकल्प किया और उसने अपने सिर पर स्वाधीनता-संग्राम के लिए दिन-रात एक करने व प्रत्येक संभव बलिदान करने का उत्तरदायित्व लिया था। ठीक २० वर्ष बाद इसी दिन राष्ट्र

ने पूर्ण लोकतन्त्र शासन की घोषणा की और इसके साथ नागरिकों ने राष्ट्र के शासन व देश की रक्षा का महान् गम्भीर उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया। पूर्ण स्वाधीनता का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व उस उत्तर-दायित्व का है, जो इस दिन समस्त राष्ट्र के नागरिकों ने अपने कंधों पर लिया। वस्तुतः इस दिन को मनाते समय हमें अपने उस गम्भीर उत्तरदायित्व को नहीं भूलना चाहिए, जो हमारे सिरों पर इस दिन आ पड़ा है।

लोकतंत्र का उत्तरदायित्व

किसी राजनीतिज्ञ ने कहा है कि स्वाधीनता प्राप्त करने से भी अधिक कठिन स्वाधीनता की रक्षा करना है। यों तो प्रत्येक स्वाधीन देश के नागरिकों को देश की रक्षा करनी चाहिए, किन्तु लोकतंत्रात्मक राष्ट्र के नागरिकों पर तो यह उत्तरदायित्व और भी अधिक है। लोकतंत्र व राजतंत्र शासन-पद्धति में एक अन्तर है। राजतंत्र-पद्धति में देश का स्वामित्व राजा के हाथ में रहता है, जबकि लोकतंत्रात्मक देश में देश का स्वामित्व और पूर्ण उत्तरदायित्व जनता पर आ जाता है। जब विदेशी शासन होता है, अथवा एक राजा ही समस्त शासन करता है, तब जनता अपना उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करती, लेकिन लोकतंत्र-पद्धति में तो जनता ही स्वयं स्वामिनी या शासक एवं शासित दोनों है। शासक उसी के प्रतिनिधि रूप में शासन करते हैं। शासन की अच्छाई या बुराई के लिए वही स्वयं जिम्मेदार है। उसका हानि-लाभ उसी को होता है। देश की उन्नति हो या अवनति, प्रत्येक नागरिक पर उसकी जिम्मेदारी है।

यदि हम २६ जनवरी का दिन मनाना चाहते हैं, तो रागरंग या आनन्द-हर्ष के साथ हमें गम्भीरता से यह भी सोचना चाहिए कि स्वतंत्र और लोकतंत्री देश के नागरिक के नाते हम पर कर्त्तव्य द्वारा उत्तरदायित्व का भी कितना भार आ पड़ा है। उसे हमें उठाना है। इस दिन हमें अपनी पुण्य भारत जननी की अखण्ड मूर्त्ति का स्मरण करके यह सोचना है कि उसका शौर्य, उसका तेज, उसका वर्चस्व बढ़ाने के लिए हम क्या कर रहे हैं और हमें क्या करना चाहिए। देश की आर्थिक, नैतिक व सामाजिक उन्नति में हम कितना योगदान कर रहे हैं। देश का शासन कुछ सत्ताधारियों के हाथ में सीमित न हो जाय, शुद्ध लोक-

तंत्रवाद की परम्परा व मर्यादा स्थिर रहनी चाहिए। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के एक मंत्र के अनुसार हमें यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥

अर्थात् चलते हुए या ठहरे हुए, बैठे हुए या उठे हुए हम दाँयें या बाँयें पैर से अपनी मातृभूमि को कष्ट न दें। आज देश आर्थिक दृष्टि से दूसरी पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहा है। हम प्रति २६ जनवरी को यह सोचें कि इस योजना की सफलता के लिए हमने क्या किया और क्या करना शेष है। इसी दिन हम यह सोचें कि भारत माता की स्नेहमयी विशाल गोद में ३६ करोड़ पुत्र-पुत्रियाँ खेल रहे हैं। उन सब के प्रति हम अपना कर्त्तव्य-पालन करें। भारत माता की जिस विशाल अखण्ड पुण्यमयी मूर्त्ति का स्मरण कर हम सुजलाम्, सुफलाम्, शस्यश्यामलाम् माता को नमस्कार करते हैं, २६ जनवरी को उसी ममतामयी, पुण्यजननी का स्मरण कर हम यह निश्चय करें कि इसकी सम्मान-वृद्धि के लिए इसके भौतिक व नैतिक अभ्युदय के लिए हम सदा प्रयत्नशील रहेंगे।

२६ जनवरी के भारतवासियों के लिए दो संदेश हैं, स्वाधीनता और लोकतंत्र। ये दोनों महान् संदेश हैं। इनका स्मरण सदा हमें उन्नति का मार्ग-प्रदर्शन करेगा।

: ३ :

हमारा महान् संविधान

अत्यन्त प्राचीन काल में एक बहुश्रुत भारतीय कथा के अनुसार जब देश में अराजकता थी, मत्स्य-न्याय का बोलबाला था, बड़ा छोटे पर अत्याचार करता था, किसी की कोई सम्पत्ति या परिवार तक सुरक्षित न था, जनता के विचारशील लोगों ने इस भय व आतंकपूर्ण स्थिति से तंग आकर उस समय के अत्यन्त

प्रभावशाली, अत्यन्त विद्वान और अत्यन्त चरित्रवान महान् मनु के पास जाकर निवेदन किया—भगवन् ! इस अराजक अत्याचारपूर्ण स्थिति से हमें बचाइये, जिसमें कुछ भी निश्चित नहीं है, कुछ भी स्थिर नहीं है, प्रति क्षण अपने से बलवान अत्याचारी का भय रहता है। तब मनु ने उनके परामर्श से देश में एक शासक व दण्ड-व्यवस्था स्थापित की और राज्य-संस्था का सूत्रपात हुआ। इसके बाद के दीर्घकालीन भारतीय इतिहास में गणतन्त्र का वर्णन मिलता है, परन्तु समस्त देश के संविधान का निर्माण देश की विशाल जनता के प्रतिनिधियों द्वारा हुआ हो, इसका उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता।

संविधान की रूपरेखा

१९४९ के अन्त में स्वतन्त्र भारतवर्ष की संविधान सभा ने—जिसमें समस्त देश की जनता के प्रतिनिधि थे—भारत के समस्त ज्ञात इतिहास में पहली बार देश का शासन-विधान तैयार किया। इस विधान के निर्माण में करीब ढाई वर्ष लगे। प्रत्येक धारा पर खूब विचार-मन्थन हुआ और उसके बाद ३९५ धाराओं व ८ अनुसूचियों का महान् संविधान पास हुआ। २६ जनवरी १९५० के दिन उसे देश में लागू किया गया और इसके साथ ही भारत सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बन गया। इस संविधान की संक्षेप से निम्नलिखित रूपरेखा है—

इस देश का नाम भारत है। यह सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। इसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई है। इन अधिकारों में समानता, धर्म, संस्कृति और शिक्षा से सम्बन्धित अधिकार, सम्पत्ति और जायदाद की रक्षा तथा शारीरिक स्वतन्त्रता आदि सम्मिलित हैं। देश का सर्वोच्च शासक राष्ट्रपति होता है, जो पाँच साल के लिए संसद् या विधान-सभाओं के सदस्यों द्वारा चुना जाता है। शासन-कार्य वह मंत्रिमण्डल की सहायता से करता है। संसद् में बहुमत दल के नेता को राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल बनाने के लिए निमंत्रित करता है, फिर उसके परामर्श से शेष मंत्रियों की नियुक्ति करता है। यह मंत्रिमण्डल देश के समस्त शासन व नीति तथा सब खर्चों के लिए संसद् के सदस्यों के सामने उत्तरदायी रहता है। संसद् का विश्वास न रहने पर मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है। यही लोकतंत्र का स्वरूप है।

संसद् के दो सदन हैं—लोकसभा व राज्यसभा । लोकसभा के ५०० सदस्य ५ वर्षों के लिए बालिग मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं और राज्यसभा के सदस्य विधानमण्डलों के सदस्यों द्वारा । कुछ सदस्यों को साहित्य, कला, विज्ञान आदि के प्रतिनिधि रूप में राष्ट्रपति मनोनीत करता है। राज्यसभा के एक-तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष बदल जाते हैं। कोई भी कानून या प्रस्ताव दोनों सदनों में से किसी में पेश हो सकता है, परन्तु उसके पारित होने के बाद दूसरे सदन में पेश करना पड़ता है। वित्तीय बिल पहले लोकसभा में पेश होते हैं।

राष्ट्रपति के हाथ में कानूनी तौर पर बहुत अधिकार होते हैं। संसद् को वह भंग कर सकता है, किसी राज्य का शासन अल्प समय के लिए अपने हाथ में ले सकता है, राज्यों के राज्यपाल व सुप्रीम कोर्ट तथा हाई कोर्टों के जजों की नियुक्ति करता है, कुछ समय के लिए आर्डिनेंस जारी कर सकता है; किसी पास शुदा विधेयक को रोक सकता है या पुनर्विचारार्थ संसद् में भेज सकता है ।

राज्यों में राज्यपाल प्रमुख शासक रहता है जो मंत्रिमण्डल के सहयोग से शासन करता है। कुछ राज्यों में दो सदन हैं, कुछ में एक। राज्यों के मंत्रि-मण्डल भी विधान सभा के सदस्यों के प्रति जिम्मेवार होते हैं।

संविधान में निम्नलिखित चार प्रकार के राज्य स्वीकार किये गये थे—

'क' श्रेणी के राज्य—असम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल (पश्चिम), बम्बई, बिहार, मद्रास और मध्य प्रदेश ।

'ख' श्रेणी के राज्य—मध्य भारत, राजस्थान, सौराष्ट्र, मैसूर, जम्मू और कश्मीर, हैदराबाद, तिरुवांकुर-कोचीन, पैप्सू, हिमाचल प्रदेश ।

'ग' श्रेणी के राज्य—दिल्ली, अजमेर, कुर्ग, भोपाल, बिलासपुर, मणिपुर।

'घ' श्रेणी के राज्य—अण्डमान-निकोबार ।

भाषा के आधार पर पुनर्गठन के लिए नियत कमीशन ने राज्यों के पुन-र्गठन की सिफारिशें की । इनके अनुसार कई राज्य परस्पर मिला दिये गये या उनकी सीमाओं में कुछ हेर-फेर किया गया। इस समय भारत में निम्नलिखित राज्य हैं—असम, आन्ध्र, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, केरल,

पंजाब, बंगाल, बम्बई, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, मैसूर, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा अंडमान-निकोबार।

विशेषताएँ

भारतीय संविधान की उपर्युक्त रूपरेखा के बाद इसकी कुछ उन विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिनके कारण इसका गौरव बहुत अधिक बढ़ गया है।

(१) यह लोकतंत्रात्मक विधान है। भारत में सदियों से चली आती राजतंत्र-पद्धति को समाप्त कर दिया गया है और इस दृष्टि से भारत संसार के उन्नततम राष्ट्रों में गिना जाने लगा है। सचाई तो यह है कि लोकतंत्र का पालन जिस खूबी से भारत जैसे विशाल देश में हो रहा है, उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। प्रथम चुनाव में यहाँ १७ करोड़ मतदाताओं की सूची बनाई गई थी। अमेरिका, रूस व ग्रेट ब्रिटेन की कुल जनसंख्या ही इसके बराबर या इससे बहुत कम है।

(२) नागरिकों को बोलने, लिखने, अपना धर्म मानने और निःशस्त्र संगठन करने की स्वतन्त्रता दी गई है। किसी अन्य देश में भारत से अधिक स्वतन्त्रता नागरिकों को नहीं मिली है।

(३) हिन्दू धर्म के कलंक स्वरूप अस्पृश्यता की सदियों से चली आने वाली प्रथा को समाप्त कर दिया गया है।

(४) देश का शासन-विधान न बहुत अधिक केन्द्रीय है, न राज्यों को बहुत अधिक स्वतन्त्रता दी गई है। केन्द्रीय और संघ-विधान के बीच की परिस्थिति को स्वीकार किया गया है। राज्यों की स्वतन्त्रता को छीना नहीं गया, किन्तु राज्यों पर राष्ट्रपति के नियन्त्रण की व्यवस्था रखी गई है, ताकि वहाँ अराजकता और अव्यवस्था को रोका जा सके।

(५) अमेरिका की तरह राष्ट्रपति को बहुत अधिक अधिकार नहीं दिये गये। मंत्रिमण्डल को इंगलैंड की भाँति शासन के लिए उत्तरदायी माना गया है। इस प्रकार अमेरिकन राष्ट्रपति व ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का समन्वय किया गया है।

(६) प्रत्येक वयस्क को मतदान का अधिकार दिया गया है। स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, अमीर-गरीब का कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा गया है।

(७) रूस की भाँति यह संविधान साम्यवादी नहीं है। इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया है। किन्तु उत्पत्ति के समान वितरण तथा ऐसी अर्थ-पद्धति की ओर, जिससे देश की संपत्ति कुछ हाथों में केन्द्रित न हो जाय, ध्यान देने का आदेश दिया गया है।

(८) संविधान में सरकार को कुछ निर्देश दिये गये हैं कि ग्राम-पंचायतों की स्थापना, गोवध-निषेध, मद्य-निषेध और अनिवार्य शिक्षा आदि की ओर वह ध्यान दे।

(९) हिन्दी को राष्ट्र की भाषा माना गया है। १५ वर्षों में (अर्थात् १९६५ तक) हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रचलित करने का वचन दिया गया है; तब तक अंग्रेजी राजभाषा के रूप में प्रयुक्त होती रहेगी, परन्तु उसका प्रयोग क्रमशः कम होता जायगा।

(१०) राज्य को 'सैकुलर' (धर्मनिरपेक्ष) माना गया है जिसका किसी धर्म-विशेष से सम्बन्ध नहीं है।

संविधान पर आक्षेप

साधारण दृष्टि से देखें तो यह संविधान बहुत उत्कृष्ट कोटि का है। संसार के किसी भी अन्य देश के संविधान से इसकी तुलना की जा सकती है, फिर भी इसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न विचारकों ने इसमें भिन्न कमियाँ बताई हैं। साम्यवादी विचारक इसीलिए इससे असन्तुष्ट हैं कि इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। वे समस्त देश में जमींदारी-उन्मूलन के कानून से भी इसीलिए सन्तुष्ट नहीं हैं क्योंकि उसमें जमींदारों की ज़मीन का मुआवजा दिया गया है। मजदूरों के लिए न्यूनतम वेतन आदि की तथा लोगों को रोजगार की गारंटी नहीं दी गई। गांधीवादी विचारकों को भी इस संविधान से कुछ शिकायतें हैं। गाधीवाद की मूल आत्मा शासन और उद्योग का विकेन्द्रीकरण, सादा जीवन तथा अहिंसा और सदाचार आदि है। परन्तु इस संविधान में न ग्राम-पंचायतों पर पूरा जोर दिया गया है और न ग्राम-उद्योगों को बड़े उद्योगों से बचाने का प्रयत्न किया गया है। यूरोपियन अर्थशास्त्र को देश के आर्थिक विकास का आधार माना गया है। वोट देने तथा उम्मीदवार बनाने के लिए सदाचार और योग्यता आदि का

कारण हो सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य को किसी विशेष धर्म के साथ न बाँधा जाय।

समस्त धर्मों की एकता

कविवर रवीन्द्र ने हिन्दू-धर्म की एक बड़ी विशेषता यह लिखी है कि उसने अनेकता में एकता को देखा है। यही कारण है कि परस्पर अत्यन्त विरोधी, नास्तिक, आस्तिक, शैव, शाक्त और वैष्णव, बौद्ध, जैन, वेदान्ती और द्वैतवादी सभी को हिन्दू धर्म के विशाल क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया है। कुछ विचारकों का यह विचार है कि यदि इस्लाम तलवार और बल-प्रयोग से धर्म-प्रचार नहीं करता तो उसको भी महान् हिन्दू-धर्म अपने आँचल में ले लेता। आज धर्म का वह स्वरूप, जो किसी समय समस्त देश को एक सूत्र में बाँधता था, राज्य ने ले लिया है। आज राज्य ही देश के समस्त नागरिकों को एक सूत्र में बाँधता है। इसलिए राज्य का उत्तरदायित्व देश के समस्त सम्प्रदायों के लिए एक-सा हो जाता है और इसीलिए राज्य का असाम्प्रदायिक रहना आवश्यक है।

यदि किसी तरह देश के संविधान को हिन्दू-धर्म के साथ जोड़ दिया जाय, तो यह संघर्ष उत्पन्न होगा कि हिन्दू-धर्म का कौनसा स्वरूप राज्य को इष्ट है। आर्यसमाजी, जैनी, हिन्दू, सिक्ख तथा अन्य साम्प्रदायिक परमात्मा का स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते हैं। किसी विशेष देवता व पूजा-पाठ की विशेष पद्धति को संविधान में स्थान देना संघर्ष का कारण बन जायगा। आज कुछ क्षेत्रों में हिन्दू-धर्म की अपेक्षा अपने-अपने सम्प्रदाय पर अधिक बल देने की प्रवृत्ति है और वे जनसख्या में अपने को हिन्दू लिखना भी पसन्द नहीं करते। काशी के एक पत्र में बौद्ध-धर्म व अशोक के राज्य-चिह्न को अहिन्दू कहकर आलोचना की गई थी। इस दृष्टि से भी राज्य का धर्म-निरपेक्ष व असाम्प्रदायिक रहना ही आवश्यक है। जहाँ तक भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध है, वहाँ तक देश ने उसे अपनाने की दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। देश का राज्य-चिह्न अशोक का धर्म-चक्र है। "सत्यमेव जयते" राज्य का आदर्श वाक्य है। देव-नागरी में लिखी गई हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा नियत हुई है। गोवध-निषेध और मद्य-निषेध को भारतीय संविधान ने स्वीकार किया है। देश का नाम भारत रखा गया है। यह सब इस बात के सूचक हैं कि देश के शासक और प्रतिनिधि भारतीय संस्कृति के विरोधी नहीं है।

: ५ :

राज्यों का पुनर्गठन

स्वाधीनता प्राप्ति से पहले हमारे देश की तीन बड़ी राजनैतिक समस्याएँ थीं। पहली और सबसे बड़ी समस्या यह थी कि हमारा देश पराधीन था। देश को स्वाधीन करना आसान काम नहीं था। हमें अंग्रेजों के शक्तिशाली प्रबल शासन का मुकाबला करना था। महात्मा गांधी के योग्य नेतृत्व में देशभक्तों के बलिदान और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण हम स्वाधीन हुए और हमारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनैतिक समस्या का समाधान हो गया। दूसरी राजनैतिक समस्या यह थी कि हमारा देश ६०० खंडों में बँटा हुआ था। इन छः सौ रियासतों को एक सूत्र में पिरो देना अर्थात् सब रियासतों की स्वाधीनता छीनकर उन सब को एक संघ में विलीन करने का अत्यन्त कठिन कार्य महामति सरदार पटेल ने अत्यन्त कुशलता के साथ बिना एक बूँद खून बहाये सम्पन्न कर लिया। यह दूसरी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक समस्या का समाधान था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के ठीक बाद ही हमारे सामने तीसरी समस्या यह आई कि देश का संविधान कैसा बनाया जाय। इस दिशा में पहले भी अनेक प्रयत्न हुए थे, किन्तु देश के स्वाधीन होने के पश्चात् तो इस समस्या को बहुत जल्दी हल करना ज़रूरी हो गया। भारत के नेताओं, विचारकों और विधानविदों के अथक परिश्रम और लगन से यह काम पूर्ण हो गया और २६ जनवरी १९५० के शुभ दिवस पर देश का महान् संविधान लागू हो गया। इस संविधान में एक साथ अमरीका और इंगलैंड के संविधानों की विशेषताओं का समन्वय किया गया था। नागरिकों के पूर्ण अधिकार, समाजवाद और गांधीवाद आदि के सामंजस्य का प्रयत्न किया गया था। गरीब-अमीर, ब्राह्मण और दलित, अशिक्षित या शिक्षित, पुरुष या स्त्री सबको एक समान राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और नागरिक अधिकार देकर १७ करोड़ लोगों को मतदाता बना दिया। कल्पना तो कीजिए कि भारत के १७ करोड़ मतदाता कितनी बड़ी संख्या है! इसकी महत्ता का अनुमान इसी से लग सकता है कि यह संख्या अमरीका की

कुल जनसंख्या के बराबर है। इतने महान् देश का संविधान बनाना सरल समस्या नहीं थी। परन्तु योग्य नेतृत्व के कारण यह काम भी सम्पन्न हो गया।

किन्तु इन तीन मुख्य समस्याओं के समाधान का यह अर्थ नहीं है कि देश के सामने अब कोई नई समस्या नहीं है। प्रत्येक देश में समय-समय पर नई-से-नई समस्याएँ पैदा होती हैं। इन दिनों जो राजनैतिक समस्याएँ देश के सामने आईं और आ रही हैं, उनमें से मुख्य तीन समस्याएँ हैं—

(१) राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन;

(२) विदेशी राजनीति ; और

(३) शासनसूत्र हाथ में लेने के लिए राजनैतिक दलों में संघर्ष।

किन्तु इन पंक्तियों में हम केवल प्रथम समस्या पर विचार करेंगे।

आज से बहुत वर्ष पूर्व जब विदेशी शासक एक के बाद एक भाग पर अधिकार कर रहे थे, तब प्रान्तों का विभाजन किसी विशेष भौगोलिक आधार पर नहीं किया गया था। जैसा उस समय के शासकों को सूझा वे प्रान्तों की सीमा का निर्धारण करते गये। राष्ट्रीय काँग्रेस ने इस चीज़ का विरोध किया और वैज्ञानिक आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की माँग की। स्वाधीनता मिलने के पश्चात् अभी देश पूर्णतः संगठित नहीं हो पाया था और राष्ट्र निर्माण के पथ पर चल भी नहीं पाया था कि अनेक प्रान्तों में भाषा के आधार पर प्रान्त-विभाजन की माँग की जाने लगी। अनेक स्थानों पर यह आन्दोलन बहुत उग्र हो गया। इस आन्दोलन के नेता अपनी पुण्य भूमि, मातृभूमि और भारत के अखण्ड-स्वरूप को भूलकर संकुचित प्रादेशिकता के प्रवाह में बह गये। जिस तरह साम्प्रदायिकता और वर्ग-संघर्ष ने राष्ट्रीयता की भावना को धक्का पहुँचाया है, उसी तरह भाषा के, जिन्हें प्रान्तीय बोली कहना ठीक होगा, आधार पर भी हम अखिल राष्ट्रीयता को भूल गये। अनेक राज्यों में अपनी भाषा व बोली के आधार पर एक दूसरे के राज्य के जिलों को हथियाने का आन्दोलन चल पड़ा। इस आन्दोलन में हिंसात्मक प्रदर्शन भी हुए। भारत सरकार ने इस आन्दोलन से विवश होकर एक कमीशन नियुक्त किया। उसने जो सिफारिशें पेश कीं, भाषावादियों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और उनका संघर्ष जारी रहा। महा-

राष्ट्र में संयुक्त महाराष्ट्र बनाने की माँग ने जोर पकड़ लिया और बम्बई में हिंसात्मक प्रदर्शन हुए। बंगाल और बिहार की सीमा के प्रश्न पर दोनों राज्यों में काफी मन-मुटाव हो गया। पंजाब में पंजाबी सूबे के नाम पर झगड़ा बहुत बढ़ गया।

दुःख की बात यह थी कि इन क्षुद्रता-पूर्ण परस्पर संघर्षों में काँग्रेसी भी बहुत उत्साह से शामिल होते रहे और उनकी वजह से देश की अखण्डता और शान्ति खतरे में पड़ गई। हमारी नम्र परन्तु सुनिश्चित सम्मति है कि भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का नारा उसी तरह राष्ट्रघाती था जिस तरह सम्प्रदाय व वर्ग के नाम पर किये गये संघर्ष। जब संविधान में प्रत्येक नागरिक को उसकी भाषा और संस्कृति की रक्षा का आश्वासन दे दिया गया; तब इस प्रकार के आन्दोलन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। बम्बई में यदि गुजराती और मराठी अबतक एक साथ रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि आगे भी एक साथ क्यों न रह सकें। यदि कोई जिला बिहार के पास है तो वहाँ के बंगालियों को किसी खतरे का सामना करना पडेगा, यह कैसे माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ नेता अपने-अपने भौतिक स्वार्थों के लिए भाषा का नारा लगाकर लोगों को भड़काते रहे। भारत के नेताओं और शासकों के सामने यह सबसे बड़ी समस्या थी। हमारी निश्चित सम्मति है कि देश की सब भाषाओं की लिपि यदि नागरी कर दी जाय और राष्ट्रभाषा हिन्दी का पढ़ना अनिवार्य कर दिया जाय तो भाषा के आधार पर पारस्परिक संघर्ष की भावना बहुत कम हो जायगी। जो हो, आज यह समस्या विकट रूप से सामने है। श्री राजगोपालाचार्य ने यह सुझाव दिया कि अभी कुछ वर्षों तक पुनर्गठन की यह योजना स्थगित कर देनी चाहिए ताकि लोगों का जोश कुछ ठंडा हो सके। राजाजी का यह सुझाव बहुत दूरदर्शितापूर्ण था।

पुनर्गठन की रूपरेखा

राज्य-पुनर्गठन-आयोग ने जो सिफारिशें की उन पर देश के अनेक भागों में बहुत जोर का आन्दोलन छिड़ गया। उनमें से अनेक सिफारिशें आश्चर्यजनक थीं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने उन सिफारिशों पर विचार-विनिमय के बाद आवश्यक परिवर्तन करने का विचार प्रकट किया। फिर क्या था, प्रायः

प्रत्येक राज्य मे उन सिफारिशों के विरुद्ध संशोधन पर संशोधन आने लगे। बम्बई व पंजाब में भूकम्प-सा आने लगा। सरकार ने सब दृष्टियों का समन्वय करने के लिए पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों में कुछ परिवर्त्तन किये। सरकार ने पुनर्गठन के लिए एक विधेयक संसद् में पेश किया और निश्चय हुआ कि—

(१) असम, बिहार व बंगाल की सीमाओं में थोड़े से हेर-फेर किये जायें, जिससे एकप्रान्तीय भाषा-भाषी जिले उस प्रान्त में मिल जायँ।

(२) उत्तर प्रदेश यथापूर्व रहे अर्थात् न उसकी सीमाएँ कम की जायँ और न बढ़ाई जायें।

(३) दिल्ली केन्द्रीय शासन के नीचे रहेगा।

(४) पंजाब व पैप्सू मिला दिये जायें, परन्तु यह संयुक्त पंजाब व्यवहार के लिए दो क्षेत्रों में—पंजाबी व हिन्दी में बँट जायगा। असेम्बली, गवर्नर और मन्त्रिमण्डल एक ही रहेगा। हिमाचल प्रदेश फिलहाल पृथक् इकाई रहे।

(५) राजस्थान में अजमेर राज्य सम्मिलित कर लिया जाय। सिरोही का आबू प्रदेश भी, जो बम्बई राज्य में शामिल कर दिया गया था, राजस्थान में फिर मिला दिया जाय। मध्यभारत की कुछ सीमाओं में भी परिवर्त्तन किया जायगा।

(६) बम्बई राज्य के गुजराती प्रदेश व सौराष्ट्र, बम्बई के मराठीभाषी प्रदेश व विदर्भ (नागपुर आदि) मिलाकर एक बम्बई राज्य बनाया जाय। हैदराबाद का कुछ प्रदेश भी इसमें सम्मिलित किया जायगा। यह द्विभाषी राज्य होगा।

(८) हैदराबाद राज्य को खण्ड-खण्ड कर दिया जाय। इसके कुछ प्रदेश आंध्र मैसूर और बम्बई में मिलाये जायेंगे।

(९) आंध्र व तैलंगाना मिलाकर एक विस्तृत राज्य बनाया जायगा।

(१०) मद्रास, मैसूर व केरल राज्य भी दक्षिणी भारत में रहेंगे।

(११) मध्य प्रदेश (मराठी भाग निकालकर), भूपाल, विंध्य प्रदेश तथा मध्य भारत को सम्मिलित करके एक राज्य बनाया जायगा। इसका नाम मध्य प्रदेश होगा।

(१२) जम्मू और कश्मीर यथापूर्व पृथक् राज्य रहेगा।

इन सब परिवर्त्तनों के साथ अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण निश्चय किये गए हैं। जम्मू और कश्मीर को छोड़कर सभी 'ख' श्रेणी के राज्य 'क' श्रेणी के स्तर पर लाए जायँगे। राजप्रमुख का पद समाप्त कर दिया गया है। पुनर्गठन आन्दोलन के समय यह अनुभव किया गया कि इससे पृथक्ता की भावना बढ़ती है। इसलिए सारे देश को पाँच क्षेत्रों में बाँट दिया गया है :

(१) उत्तरी क्षेत्र—जम्मू-कश्मीर, पंजाब, राजस्थान दिल्ली हिमाचल प्रदेश।
(२) मध्यक्षेत्र—उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश।
(३) पूर्वी क्षेत्र—बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा।
(४) पश्चिमी क्षेत्र—बम्बई।
(५) दक्षिणी क्षेत्र—मैसूर, मद्रास, आंध्र और केरल।

इन पाँच क्षेत्रों की पृथक्-पृथक् समितियाँ हैं जो किसी राज्य-विशेष की अपेक्षा समस्त क्षेत्र के हित की दृष्टि से विचार करती हैं। यह क्षेत्रीय समितियाँ यदि ठीक दिशा में काम कर सकीं तो पृथक्ता की द्वेषपूर्ण भावना को शान्त करने में अवश्य सहायता मिलेगी।

: ६ :

स्वतन्त्र भारत के दस वर्ष

एक विद्वान का कथन है कि "देश की उन्नति उस समय रुक जाती है जबकि वह पराधीनता के पाश में जकड़ दिया गया हो और उसकी उन्नति उस समय से प्रारम्भ हो जाती है जब उसमें स्वातन्त्र्य-भावना का उदय हो गया हो। स्वतन्त्र होने के बाद से तो प्रायः उसकी उन्नति की गति बहुत तीव्र हो जाती

है।" इन शब्दों में जो सच्चाई है, प्राय: प्रत्येक देश का इतिहास उसका समर्थन करता है। इंगलैंड रोम के शासन से मुक्त होने के बाद ही यूरोपियन राष्ट्रों का समकक्ष हो गया और बाद में उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। जर्मनी के विभिन्न भागों को प्रिंस बिस्मार्क ने विदेशी शासन से मुक्त करके जब से एक किया, उसका सितारा बुलन्द हो गया। मैज़िनी, कावूर और गैरिबाल्डी के प्रयत्नों से स्वतन्त्र होकर इटली ने उन्नति के मार्ग पर चलना शुरू किया। अमरीका, ब्रिटिश दासता से मुक्त होकर आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में जिस उन्नति-शिखर पर जा पहुँचा, उसे कौन नहीं जानता? बीसवीं सदी में प्रथम विश्व-युद्ध के बाद टर्की ने कमाल अतातुर्क के नेतृत्व में जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, उसने समस्त टर्की का काया-कल्प कर दिया। चीन का इतिहास भी इसी सच्चाई का एक उदाहरण है। बात यह है कि राजनैतिक पराधीनता देश में न प्रतिभा को ऊँचा उठने का अवसर देती है और न देशवासियों में आगे बढ़ने की प्रेरणा व स्फूर्ति दे पाती है। जो उपर्युक्त सत्य अन्य देशों के लिए सत्य था, वह भारत के लिए भी पूर्ण सत्य हो रहा है, इसका स्पष्ट प्रमाण १९४७ के बाद के कुछ वर्ष हैं।

हमारी समस्याएँ

जब भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ, उसके सामने निम्नलिखित समस्याएँ उपस्थित थीं—

(१) शरणार्थियों की समस्या ;

(२) आर्थिक संकट, अन्न-वस्त्र की दुर्लभता, महँगाई, बेकारी और उद्योग-धन्धों की कमी ;

(३) ६०० स्वतन्त्र रियासतों की विकट समस्या ;

(४) भावी संविधान का निर्माण ;

(५) कश्मीर का संघर्ष तथा पाकिस्तान से झगडे ;

(६) राष्ट्र-निर्माण ; और

(७) स्वतन्त्र विदेश-नीति।

विस्थापितों का पुनर्वास

देश के विभाजन के समय किसी ने यह कल्पना भी न की थी कि जनता को भी किसी समय अपने सदियों के घरबार छोड़कर दर-दर भटकना पड़ेगा। किन्तु अविश्वास, द्वेष, रक्तपात और अमानुषिक बर्बरता के इस संसार में जो हो जाय, थोड़ा है। पाकिस्तान का जन्म ही दो जातियों के द्वेषपूर्ण सिद्धान्त के आधार पर हुआ था। विद्वेष, घृणा, झूठ और पशुता पाकिस्तान की नीव में थे। वहाँ हिन्दू-सिखों पर अत्याचार हुए। ६० लाख से अधिक हिन्दू-सिख वहाँ से निराश होकर भारत आये। उनके पुनर्वास और उन्हें रोजी देने की समस्या भीषण रूप से देश के सामने आई। पूर्वी पाकिस्तान से भी ५० लाख हिन्दू यहाँ आने को विवश हुए हैं और आज भी वहाँ से निष्क्रमण जारी है। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने एकदम इस समस्या को हाथ में लिया। आज पश्चिमी पाकिस्तान के शरणार्थी करीब-करीब घरों में बस चुके हैं। उन्हें जमीन व जायदादें मिल रही हैं। २३ लाख शरणार्थी खेती-बाड़ी में लग चुके हैं। शहरी क्षेत्रों में १२ लाख व्यक्तियों को निष्क्रान्ताओं के घरों में और १० लाख को २ लाख नये घरों में बसाया गया है। उनको क्षति के एवज़ में करीब ३१ करोड़ रुपया मिल चुका है। जो योजनाएँ बनी है, उन्हें देखते हुए भी यह आशा की जानी चाहिए कि निकट भविष्य में शरणार्थी, शरणार्थी न रहेंगे और समृद्ध, समर्थ व बलवान नागरिक के रूप में भारत की उन्नति में अपना भाग अदा करने वाले बन जायेंगे।

पूर्वी बंगाल में आज भी पाकिस्तान की सरकार हिन्दुओं को परेशान कर रही है। इस कारण हिन्दू वहाँ से त्रस्त होकर भारत में आ रहे है। उनकी समस्या को हल करना अभी आसान काम नहीं है परन्तु सरकार निरन्तर प्रयत्न कर रही है कि उन्हें विभिन्न राज्यों में बसा दिया जाय।

आर्थिक संकट

आर्थिक संकट की समस्या भी कम विकट न थी। स्वतंत्रता प्राप्ति से तीन-चार वर्ष पूर्व बंगाल में ३५,००,००० आदमी भूख से तड़पकर मर चुके थे। अन्न-वस्त्र आदि जीवनोपयोगी पदार्थों की बेहद कमी थी। बेकारी कम न थी, कोई चीज सुलभ न थी, चोरबाज़ार, भ्रष्टाचार आदि का बोलबाला था। एक ओर मर-

कार ने विदेशों से अन्न मँगाया, राशन व कंट्रोल के क्षेत्र को बढ़ाया, दूसरी ओर पंचवर्षीय योजना[1] बनाकर अन्न, वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी पदार्थों को अधिक सुलभ करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। प्रथम योजना पूर्ण हो चुकी है और दूसरी पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ हो चुका है। प्रथम योजना के पाँच वर्षों में २० अरब रुपया व्यय हुआ है। इसके कारण देश बहुत समृद्ध हो गया है। राष्ट्रीय आय १७·५ प्रतिशत बढ़ गई है। करीब डेढ़ करोड़ टन अनाज ज्यादा पैदा हुआ। दूसरी फसलों में भी काफी वृद्धि हुई है। बहुत से नये उद्योग खोले जा चुके हैं, जिनकी कल्पना भी पाँच वर्ष पहले करनी कठिन थी। वस्तुतः, देश आर्थिक समृद्धि के मार्ग पर चल पड़ा है। यह स्वतन्त्र भारत की ऐसी सफलता है, जिस पर हम गर्व कर सकते हैं।

रियासतों का विलीनीकरण

अंग्रेज शासक भारत से जाते हुए केवल देश को दो खण्डों में विभक्त ही नहीं कर गये, परन्तु भारत में अराजकता फैलाने तथा अपने अड्डे कायम रखने के लिए देश की ६०० रियासतों को बिल्कुल आजाद कर देने का भारी षड्यंत्र भी कर गये। उनका विचार था कि १७वीं और १८वीं सदी की तरह यह रियासतें फिर परस्पर लड़ने लगेंगी और देश पर हम फिर अधिकार कर लेंगे। वस्तुतः यदि यह रियासतें स्वतन्त्र रहतीं तो दो सदी पहले के गढ़े मुर्दे फिर उखड़ते और यह रियासतें न केवल परस्पर लड़ने लगतीं अपितु भारतवर्ष की स्वतन्त्रता और अखण्डता के लिए भारी खतरा बन जातीं। महामति सरदार पटेल की नीति-कुशलता के आगे अंग्रेजों की कूट-नीति परास्त हो गई। उन्होंने बिना एक बूँद खून बहाये व्यावहारिक कुशलता से सब रियासतों को भारतीय संघ में सम्मिलित कर लिया। सैकड़ों छोटी-छोटी रियासतों का अस्तित्व ही नहीं रहा है। बड़ी-बड़ी रियासतें भी पड़ौसी राज्यों में अथवा रियासती संघों में विलीन कर दी गई। जिस कार्य के लिए जर्मनी के प्रिंस बिस्मार्क या चीन के चाँगकाई शेक को वर्षों तक युद्ध करने पड़े, वह काम सरदार पटेल ने बिना खून बहाये कर

---

१. पंचवर्षीय योजना, औद्योगिक उन्नति आदि के सम्बन्ध में दो लेख और भी दिये गये हैं।

दिया। स्वतन्त्र भारत की यही एक ऐसी सफलता है जिसकी ओर संकेत करके वह संसार के राजनीतिज्ञों से पूछ सकता है कि इसके मुकाबले का कोई चमत्कार तुमने भी किया है ?

संविधान का निर्माण

किसी देश के संविधान-निर्माण का प्रश्न बहुत कठिन होता है। अनेक प्रकार के स्वार्थ अनेक प्रकार की विचारधाराएँ, किसी एक सर्वसम्मत संविधान को बनने नहीं देतीं। यह काम कितना कठिन होता है, इसके लिए पाकिस्तान की ओर निर्देश कर देना काफी है। वहाँ अब तक संविधान का अन्तिम रूप निश्चित नहीं हो सका। परन्तु भारत ने अनेक भीषण समस्याओं के बावजूद १९४९ के अन्त तक संविधान बना लिया और २६ जनवरी, १९५० से तो वह लागू भी हो गया। यह संविधान कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसमें कितनी विशेषताएँ हैं, स्थानाभाव से इसकी चर्चा हम इन पंक्तियों में नहीं कर सकते।[1] इतने सुन्दर संविधान का निर्माण स्वतन्त्र भारत की बहुत बड़ी सफलता है।

दो महान् चुनाव

गत दस वर्षों में दो महान् चुनाव भारत ने देखे। भारत के वयस्क मतदाताओं की संख्या ही चीन को छोड़कर अन्य किसी भी देश से अधिक है। १७ करोड़ मतदाता भारत में हैं ; जिनमें करीब ५० प्रतिशत ने चुनाव में अपने वोट दिये। लोकतन्त्र के इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर और इतने अधिक शान्तिपूर्ण चुनाव असाधारण महत्त्व रखते हैं। सब दलों को चुनाव के प्रचार में पूरी आजादी दी गई थी और जनता ने निःसंकोच होकर अपने मत प्रदान किये।

कश्मीर का संघर्ष

हम ऊपर कह आये हैं कि सरदार पटेल की व्यवहार-कुशलता से सब रियासतें भारतीय संघ में सम्मिलित हो गईं। वे सब भारतीय सीमा के अन्तर्गत थीं। किन्तु कश्मीर की भौगोलिक स्थिति इन से भिन्न थी। उसकी सीमा एक ओर भारत से मिलती थी और दूसरी ओर पाकिस्तान से। कश्मीर

१. भारतीय संविधान पर एक स्वतन्त्र लेख इसी संग्रह में अन्यत्र देखिये।

ने किसी भी राज्य में मम्मिलित न होने का निर्णय किया। पाकिस्तान ने उस पर जबर्दस्ती दबाव डालने के लिए आक्रमण कर दिया। इस पर कश्मीर के महाराजा और वहाँ की सबसे बड़ी सार्वजनिक संस्था नेशनल कान्फ्रेंस ने भारत में सम्मिलित होने का ऐलान कर दिया। अब कश्मीर पर आक्रमण भारत पर आक्रमण था, इसलिए काश्मीर को बचाना भारत के लिए आवश्यक हो गया। भारत के लिए कश्मीर में अपनी सेनाएँ पहुँचाना अत्यन्त कठिन था, क्योंकि भारतीय सीमा से कोई सड़क काश्मीर नहीं जाती थी। भारत ने अत्यन्त दूरदर्शिता व चुस्ती से काम लिया और एक ही दिन में भारत में चलने वाले हवाई जहाजों को एकत्र करके अपनी सेनाएँ श्रीनगर के हवाई अड्डे पर पहुँचा दीं। कुछ घण्टों की देर खतरनाक साबित हो जाती, क्योंकि पाकिस्तानी मुसलमानों की आक्रामक सेनाएँ हवाई अड्डे से कुछ ही मील दूर रह गई थीं। भारतीय सेना के वहाँ पहुंचते ही नक्शा बदल गया। कुछ समय में उन्होंने अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। भारत की सेनाएँ और भी आगे बढ़ जातीं, परन्तु यह मामला सुरक्षा-परिषद् में पहुंच चुका था, और विराम-संधि करनी पड़ी। आज भी कश्मीर का मामला वैसा ही उलझा हुआ है, क्योंकि राष्ट्रसंघ अमेरिका के दबाव में आकर यह घोषणा करने में टालमटोल कर रहा है कि आक्रमणकारी कौन है। पंडित नेहरू ने उदारतावश यह घोषणा की थी कि यदि कश्मीर से सब आक्रमणकारी निकल गये तो हम कश्मीरी जनता का मत लेंगे कि वह किस राज्य में सम्मिलित होना चाहती है। एक ओर यह शर्त पूरी नहीं हो रही, दूसरी तरफ अमरीका ने पाकिस्तान से सैनिक सहायता की संधि कर ली है। इसलिए मत-ग्रहण का प्रश्न भी अब टल सा गया है। वयस्क मताधिकार के आधार पर कश्मीर की नवनिर्वाचित असेम्बली ने भी भारतीय संघ में सदा के लिए सम्मिलित होने की घोषणा कर दी है। उधर पाकिस्तान कश्मीर को लेने के लिए सख्त कोशिश कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कश्मीर का एक-चौथाई भाग जो पाकिस्तान में है, उसी के पास रहेगा और शेष तीन-चौथाई भाग भारत के पास। दूसरा कोई विकल्प संभव नहीं दीखता। अमरीका व ब्रिटेन की सहानुभूति इस सम्बन्ध में पाकिस्तान के साथ है। लेकिन भारत की शक्ति और भारतीय पक्ष की सबलता के कारण वे अब पाकिस्तान का अधिक समर्थन करने में संकोच कर रहे है। अक्तूबर १९५७ में फिर यह

मामला सुरक्षा परिषद् में पेश हो रहा है, किन्तु कोई हल निकलेगा इसकी सम्भावना कम ही है।

पाकिस्तान से सम्बन्ध

देश-विभाजन के साथ ही नहरी पानी, व्यापारिक यातायात, शरणार्थियों की सम्पत्ति, पुराने लेन-देन का हिसाब तथा अल्पसंख्यक हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार आदि अनेक विवादग्रस्त प्रश्न भी अभी तक सुलझ नहीं पाये हैं। भारत की नीति प्रत्येक प्रश्न को शान्ति और समझौते के साथ तय करने की है। इसलिए इन प्रश्नों पर स्वभावतः देरी लग रही है और दस वर्ष के लगभग होने को आये, यह प्रश्न अभी तक सुलझे नहीं हैं।

राष्ट्र-निर्माण

जब अंग्रेज शासन करते थे, उनका मुख्य ध्यान देश के आर्थिक शोषण की ओर था। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा राष्ट्र-निर्माण की अन्य प्रवृत्तियों की ओर उनका ध्यान बहुत कम गया और लाखों गाँवों की तो उन्होंने सर्वथा उपेक्षा कर दी। इसलिए स्वतन्त्र भारत के सामने राष्ट्र-निर्माण की एक बहुत बड़ी समस्या थी। यही कारण है कि पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्र-निर्माण पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। प्रथम योजना में समाज-सेवा के विविध अंगों पर करीब साढ़े पाँच अरब रुपया व्यय करने का निश्चय किया गया और दूसरी योजना में साढ़े नौ अरब रुपया। अब प्रायः प्रत्येक राज्य सरकार गाँव-गाँव में स्कूल, हस्पताल खोलने, प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य करने तथा दलित जातियों को उन्नत करने आदि पर ध्यान दे रही है। ऐसी आशा की जाती है कि आगामी पाँच वर्षों तक भारत में स्कूलों और हस्पतालों का जाल बिछ जायगा। सामुदायिक योजनाओं का जो जाल सारे देश में फैला है, उससे भी राष्ट्र-निर्माण की प्रवृत्तियों की बहुत प्रगति हुई है।

विदेश-नीति

भारत को स्वतन्त्र होते ही जिन गम्भीर प्रश्नों का सामना करना पड़ा, उनमें से विदेश-नीति भी एक थी। अब तक भारत की नीति ब्रिटेन की विदेश-नीति के साथ बँधी हुई थी। ब्रिटेन के मित्र भारत के मित्र थे, उसके शत्रु हमारे भी शत्रु थे। भारत इस नीति को अपना नहीं सकता था। जब भारत

स्वतंन्त्रता प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर पहली बार आया, उसने देखा कि उस पर दो परस्पर-विरोधी गुट एक-दूसरे को मात देने के लिए चालें चल रहे हैं। दोनों ने भारत को अपने गुट में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया, पर हमारे दूरदर्शी नेता पं० नेहरू ने तटस्थ नीति अपनायी। वे किसी गुट में सम्मिलित नहीं हुए, वे दोनों के मित्र हैं। उनकी यह तटस्थता नीति पहले किसी को समझ में नहीं आई, पर अब शनैः शनैः अनेक देश भारत के पंचशील के सिद्धांतों को पसन्द करने लगे हैं। भारत का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है और यह स्पष्ट होता जा रहा है कि विश्व-शान्ति की स्थापना में भारत सब देशों का नेतृत्व करेगा।[1] कुछ ही वर्षों में भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़े-बड़े राष्ट्रों को पीछे कर अपना प्रमुख स्थान बना लिया है।

परन्तु

हमने संक्षेप से गत दस वर्षों में भारतीय गणतन्त्र की सफलताओं पर प्रकाश डाला है। इन पर हम गर्व कर सकते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें अब कुछ करना नहीं है। अभी अनेक बातों पर ध्यान देने का या तो अवकाश नहीं मिला है अथवा उनके महत्त्व को समझ नहीं पाये हैं। ऐसी समस्याओं में से एक है राष्ट्र के नैतिक पतन की समस्या। पिछले महायुद्ध ने जिस अनैतिकता का बीज बो दिया था, आज वह बृहदाकार वृक्ष के रूप में उपस्थित है। समाज में छोटे और बड़े अंग आज चरित्रहीन हो उठे हैं। धनलोलुपता और वासनामयता हमारे चरित्र के अंग बन गए हैं। इसी तरह शराब, मांस और तम्बाकू का भी प्रचार बढ़ रहा है। देश में अनुशासनहीनता भी बढ़ती जा रही है। भारतीय संस्कृति का प्रचार भी आज नहीं हो रहा। विदेशी संस्कृति का प्रभाव दूर होने की बजाय बढ़ रहा है।

पर निराश या चिन्तित होने की बात नहीं है। संक्रांतिकाल में ऐसी बातें स्वाभाविक हैं। राष्ट्रीय नेताओं और विचारकों का ध्यान इधर जा रहा है। यह आशा करनी चाहिए कि जिस तरह अन्य क्षेत्रों में देश उन्नति कर रहा है, उसी तरह नैतिकता की दिशा में भी भारत उन्नति कर लेगा।

---

१. विश्व-शान्ति और भारत वाला लेख पढ़िये।

: ७ :

भारत का महान् उज्ज्वल भविष्य

एक प्राचीन उक्ति है कि देवता भी भारत में जन्म लेने के लिए तरसते थे। वस्तुतः हमारी भारत-भूमि इतनी सुन्दर और इतनी सम्पन्न है कि इसकी तुलना विश्व के किसी अन्य भाग में नहीं हो सकती। भारत जैसी सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलां पुण्यभूमि के दर्शन अन्यत्र दुर्लभ हैं। किसी समय इस देश में उत्पन्न होने का सौभाग्य जिन्हें होता था, वे देवता कहलाते थे। ३३ करोड़ देवताओं की कल्पना इसी की पुष्टि करती है। केवल प्रकृति का वरदान ही इसे नहीं मिला, इस भूमि पर उत्पन्न होने वाली पुण्य आत्माओं ने भी इसे अमर कर दिया। ऋग्वेद केवल भारत का ही नहीं, समस्त विश्व का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। भारत ने संसार को—साइबेरिया से लेकर लंका तक तथा ईरान से प्रशान्त महासागर तक—जिस संस्कृति व ज्ञान की शिक्षा दी, उस पर वह भारत गर्व कर सकता है। भारतीय संस्कृति का विश्व के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद यह माना जाने लगा है कि इससे पुरानी कोई सभ्यता न थी। अपनी अद्भुत विशेषताओं के कारण यह संस्कृति अमर हो गई है। चीनी संस्कृति के अतिरिक्त पुरानी दुनिया की अन्य सभी—मैसोपोटामिया कई सुमेरियन, असीरियन तथा बैबिलोनियन और खाल्दी प्रभृति तथा मिस्र, ईरान, यूनान और रोम की संस्कृतियाँ काल के कराल गाल में चली गई, केवल कुछ ध्वंसावशेष आज उनकी गौरव-कथा सुनाने के लिए बच गए हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति कई हजार वर्षों तक काल के क्रूर थपेड़े खाती हुई भी आज जीवित है। अपनी उन्नत, सुसमृद्ध संस्कृति और अनन्त अगाध ज्ञान-कोष के कारण यह देश जगद्-गुरु रहा है। इस देश के वेद-वेदांग, उपनिषद्, दर्शन, सूत्रग्रन्थ, पुराण, महा-भारत, रामायण तथा संस्कृत के काव्यों आदि का कौन प्राचीन देश मुकाबला कर सकता है? राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य और उसके बाद आने

वाली महात्मा गांधी तक सन्तों की अनन्त परम्परा के दर्शन किसी अन्य देश में हम नहीं पाते। अजन्ता की कलापूर्ण कृतियाँ इसका पर्याप्त प्रमाण हैं कि भारत की कला किसी भी अन्य देश से उच्च थी। प्राचीन मन्दिर व मठ, गुफाएँ तथा कीर्ति-स्तम्भ भारत की वास्तु कला की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए बहुत काफी हैं। महाकवि रवीन्द्र के इन शब्दों में सच्चाई है—"प्रभात उदय तव गगने। प्रथम सामरव तव तपोवने।"

यह ठीक है कि काल-प्रवाह सदा एक-सा नहीं रहता। इतिहास के दीर्घ काल में अनेक दोष भारत में पैदा हो गये। भारत में जो शौर्य और तेज था, वह मन्द हो गया। देश ने धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से दुर्दिन देखे। बड़ी लम्बी रात तक भारत सोया। पर अब वह अंगड़ाइयाँ लेकर जाग उठा है। उसकी चिर-निद्रा समाप्त हो चुकी है। इस समस्त निद्रा-काल में भी भारत की आत्मा मृत नहीं हुई थी। मुसलमानों के दीर्घशासन काल में रत्नप्रसू भारत-भूमि ने कबीर, तुलसी, नानक, तिरुवल्लुवर, नरसी भगत, तुकाराम, रामदास, चैतन्य महाप्रभु, जैसे रत्न पैदा किये; शिवाजी और राणा प्रताप जैसे वीर योद्धा उत्पन्न किये। अंग्रेजी शासन भी भारत की आत्मा का हनन नहीं कर सका। ऋषि दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्र, गांधी और विनोबा विदेशी शासन-काल में ही उत्पन्न हुए। आचार्य जगदीशचन्द्र वसु, श्री सी० वी० रमण और आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे उच्च कोटि के वैज्ञानिक भी इसी विदेशी शासन काल में पैदा हुए। विद्वानों, वैज्ञानिकों और व्यावसायिकों की दृष्टि से भारत आज बहुत से देशों की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखता है। इस देश की प्रसुप्त आत्मा को ऋषि दयानन्द, लोकमान्य तिलक, श्री गोखले, दादाभाई नौरोजी, स्वा० विवेकानन्द, लाला लाजपतराय, अरविन्द घोष, देशबन्धु चितरंजन दास, स्वामी श्रद्धानन्द, महामना मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल प्रभृति राजनैतिक नेताओं ने प्रबुद्ध किया है। चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि सैकड़ों आतंकवादी वीरों का बलिदान इसके जाग्रति-भवन की नींव में हुआ है। हजारों-लाखों स्वयंसेवकों एवं बहनों ने तिरंगे झण्डे के नीचे राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए जेल काटी है, लाठी गोली खाई है।

इन सब का बलिदान व्यर्थ नहीं जा सकता था, और न ही गया। भारत स्वतन्त्र हो गया।

इस संघर्ष-काल में 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' का मन्त्र उसने पढ लिया था। स्वतन्त्र होते ही भारत ने अँगड़ाई ली और उठ खड़ा हुआ। निद्रा व तंद्रा के सब अवशेषों को त्यागकर अब वह उन्नति के मार्ग पर दौड़ने लगा है। उसने देखा कि देश में अन्न नहीं है, वह अन्न पैदा करने में जुट गया। उसने देखा कि देश में कपड़े का अभाव है, किसान ने कपास बोनी शुरू की, कलों व चरखों पर सूत कातकर वह कपड़ा बुनने में लग गया। मकानों की कमी थी, देश में कई लाख नये मकान बन गये। पटसन का क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया, उसने पटसन की खेती अधिक कर दी। खेती के लिए सिचाई की व्यवस्था अंग्रेजों ने बहुत कम की थी। अब बड़े-बड़े बाँध बनाने तथा नहरों का जाल बिछाने में वह तन्मय हो गया। शिक्षणालयों व हस्पतालों की कमी देखी, तो वह धड़ाधड़ बनने लगे। सारांश यह कि उसने जहाँ अभाव देखा, उसकी पूर्ति में लग गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना पूरी हो गई और दूसरी योजना आरम्भ हो गई।

विदेशी शासन-काल में भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति शून्य थी। आज जब कोई नई समस्या पैदा होती है, ससार के सभी राजनीतिज्ञ और पत्रकार नई दिल्ली की ओर उत्सुकता से देखते हैं कि वहाँ से क्या विचार प्रकट होते हैं। ब्रिटेन, अमरीका या रूस जैसे देश आज प्रत्येक समस्या पर भारत की प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक रहते है। सभी देश हमारी मैत्री प्राप्त करने को उत्सुक हैं। रूस, ब्रिटेन, अमरीका और जर्मनी भारत की औद्योगिक उन्नति में सहयोग दे रहे है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में पं० नेहरू का नक्षत्र सबसे अधिक प्रकाशमान है। महात्मा बुद्ध व महात्मा गांधी के अहिंसा व प्रेम के सिद्धान्तों पर आधारित पंचशील का संदेश आज सब देश सुन रहें हैं। चीन, रूस, इण्डोनेशिया, बर्मा, लंका, मिस्र, यूगोस्लाविया आदि अनेक देश आज पंचशील के आधार पर उसे विश्व-शान्ति के लिए सहयोग दे रहे हैं। कोरिया, इण्डोचीन अणुबम व निःशस्त्रीकरण आदि के पेचीदे प्रश्नों पर भारत से नेतृत्व की आशा की जा रही है।

भारत के पास अध्यात्म-संस्कृति पहले थी। भौतिक उन्नति यूरोप के पास थी। विज्ञान की शक्ति पाकर वह दैत्य हो उठा। आज भय यह हो गया है कि न जाने किस क्षण यह समस्त विश्व, ये गगनचुम्बी नगर, यह संस्कृति, ये वैज्ञानिक रचनाएँ अणु व उद्जन शक्ति से नष्ट हो जायें। इस भय के वातावरण से त्रस्त विश्व को भारत की आध्यात्मिक शक्ति शान्ति प्रदान कर सकती है। यही आज हो रहा है, इसीलिए भारत का भविष्य उज्ज्वल है। पहले भी वह जगद्गुरु था और आज भी जगत् को वह शिक्षा दे रहा है। भारत ने भौतिक क्षेत्र में पश्चिम से बहुत कुछ लिया है, और अपनी अध्यात्म-संस्कृति व आत्मा को पुनर्जीवित कर रहा है। अध्यात्म और भौतिक संस्कृति के परस्पर सहयोग के कारण हमारी पुण्यभूमि भारत का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है, इसमें सन्देह नहीं।

: ८ :

नागरिक के अधिकार व कर्त्तव्य

मानव एक सामाजिक प्राणी है। मानव और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव के बिना समाज नहीं है और समाज के बिना मानव का जीवन दुर्लभ है, इस प्रकार की बातें हम प्रायः सुनते हैं। इनमें सच्चाई है और बहुत अधिक सच्चाई है। किन्तु इसके होते हुए भी विचारक सदा से यह प्रश्न पूछते आ रहे हैं कि मानव बड़ा है या समाज। मानव के लिए समाज बना है अथवा समाज की रक्षा के लिए मानव को अपने सर्वस्व की आहुति दे देनी चाहिए। अन्ततोगत्वा समाज चरम लक्ष्य है अथवा मानव ? इस प्रश्न पर यूरोप व भारत के विद्वानों ने चिरकाल तक गहरा विचार किया है और भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। एक समय ऐसा रहा, जबकि समाज को अधिक महत्त्व दिया गया

और कहा गया कि राज्य, समाज या बिरादरी के आगे मानव का कोई अस्तित्व नहीं है। फिर इस विचार ने जोर पकड़ा कि नहीं, समाज की रचना अन्ततोगत्वा मानव के लिए ही तो हुई थी। राज्य, समाज, पंचायत या बिरादरी आदि सभी का मुख्य उद्देश्य मानव की नैतिक उन्नति के लिए ही सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना है। मानव पहले स्वतन्त्र और निर्द्वन्द्व विचरण करता था। अपनी असुरक्षा और असुविधा को देखकर उसने समाज बनाया, राज्य की संस्था को उत्पन्न किया और उसे अपने कुछ अधिकार सौंपकर अपनी स्वतन्त्रता इसलिए सीमित कर ली कि वह निश्चिन्त होकर उन्नति की सब सुविधाएँ पा सके। समाज की विविध संस्थाओं ने मानव से ही अधिकार पाकर उसकी रक्षा और सामूहिक उन्नति के लिए अवसर प्रदान करने का कार्य अपने हाथ में लिया। आज इसी दिशा में अधिकांश लोग विचार करते हैं। संसार का इतिहास इन दोनों विचारधाराओं के संघर्ष की कहानी रहा है। जब राज्य ने अपने हाथ में निरंकुश अधिकार लेकर देश के मानवों पर—जनता पर—अत्याचार शुरू कर दिये, जनता ने क्रांति का बिगुल बजाकर उस राज्य को नष्ट कर दिया। राज्य और जनता के इस संघर्ष में जल्दी या देर में जनता की विजय हुई है। राज्य को झुकना पड़ा और मानव के अधिकारों की घोषणा करनी पड़ी। आज प्रायः प्रत्येक राज्य के संविधान में नागरिकों के अधिकारों की घोषणा की जाती है। इन अधिकारों को हम नागरिकों के धार्मिक, आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता के अधिकार कह सकते हैं। विदेशी राज्य के साथ घोर संघर्ष के बाद भारत का संविधान बनाया गया। स्वभावतः भारत के संविधान में इन सब अधिकारों को इस तरह सूचीबद्ध कर दिया गया है कि एक साथ नागरिक के प्रायः सभी अधिकारों को हम देख सकते हैं।

भारतीय संविधान में

भारत के संविधान में नागरिक के अधिकार इस तरह गिनाये गये हैं—

(१) जाति, धर्म या लिंग के भेद-भाव के बिना प्रत्येक वयस्क नागरिक को चुनाव में मत देने, नौकरी व सहायता पाने का अधिकार।

(२) भाषा, लेखन, निःशस्त्र संगठन, देश में बिना किसी रुकावट के

भ्रमण, निवास और सम्पत्ति के उपार्जन तथा व्यवसाय का प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता।

(३) अदालत में दण्ड की स्वीकृति के बिना किसी नागरिक को कोई दण्ड न दिया जा सकेगा।

(४) बेगार नहीं ली जायगी और न नर-नारी या बालक की बिक्री हो सकेगी।

(५) धर्म, संस्कृति, पूजा-पाठ की स्वतन्त्रता।

(६) किसी नागरिक की सम्पत्ति बिना मुआवजे के छीनी न जा सकेगी।

(७) किन्हीं विशेष परिस्थितियों में नागरिक के कुछ अधिकारों में कमी भी की जा सकेगी।

इन अधिकारों के अतिरिक्त संविधान में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की भी घोषणा की गई है, जिनसे नागरिक के कुछ अधिकारों को और भी पुष्टि मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका के पर्याप्त साधन, किसी बालक व बालिका को किशोरावस्था में श्रम पर न लगाने की गारण्टी, प्रत्येक नागरिक को कार्य करने का अधिकार, बेकारी, बुढ़ापे तथा असमर्थता की अवस्था में राष्ट्र द्वारा उसकी सहायता, प्रत्येक नागरिक को निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा और अस्पृश्यता-निवारण आदि निर्देश नागरिकों के मूल अधिकारों को और भी पुष्ट व स्पष्ट करते हैं।

रूज़वेल्ट के चार अधिकार

इन सब नागरिक अधिकारों के मूल में यह भावना काम कर रही है कि समाज का निर्माण इसलिए हुआ है कि वह नागरिकों की उन्नति, निश्चिन्तता और सुरक्षा की सुविधाएँ दे सके, क्योंकि नागरिक या मानव ही समाज को अपने ऊपर नियंत्रण या नियमों द्वारा कार्य-संचालन का अधिकार देता है। यदि समाज यह सब सुविधाएँ न दे, नागरिक की स्वतन्त्रता का ही अपहरण कर ले, तो फिर समाज-संगठन का लाभ ही क्या होगा? इसलिए प्रत्येक सभ्य देश के संविधान में नागरिक के मौलिक अधिकारों की योजना की जाती है। यह अधिकार न हों तो क्यों कोई नागरिक राज्य या समाज की

अधीनता स्वीकार करे ? क्यों कोई अपनी गाढ़ी कमाई से राज्य को कर दे ? जब द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के दिन आये और विश्व की भावी व्यवस्था के सम्बन्ध में बड़े देशों के राजनीतिज्ञ विचार करने लगे, तो अमरीका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने जिन चार विशेषताओं पर बल दिया, वे संसार भर के नागरिकों के आधारभूत अधिकारों के सम्बन्ध में थीं। वे निम्न-लिखित हैं—

भाषण-स्वातन्त्र्य—प्रत्येक नागरिक अपने विचारों का प्रचार करने में स्वतन्त्र हो।

धार्मिक स्वातन्त्र्य—प्रत्येक नागरिक अपने धार्मिक विश्वास के साथ पूजा, उपासना तथा व्रत अनुष्ठान में स्वतन्त्र हो।

अभाव से निश्चिन्तता—प्रत्येक देश के नागरिक को भोजन, वस्त्र और विकास की सुविधाएँ प्राप्त हों।

भय से मुक्ति—विदेशों के, विधर्मियों के अथवा विजातीयों के आक्रमण का भय किसी नागरिक को चिन्तित न करे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी इस प्रश्न पर बहुत अधिक विचार किया। कई वर्षों तक इस प्रश्न के विविध पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् नागरिक के अधिकारों का महत्त्वपूर्ण घोषणा-पत्र जारी किया गया। इसमें भी इन अधिकारों को पूर्णतः स्वीकार किया गया है। इन अधिकारों की स्वीकृति का अर्थ है कि मानव को यह ध्यान रहेगा कि राज्य या समाज उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करेगा। सामूहिक काम करने से उसे बहुत सी सुविधाएँ मिल जाती हैं और वह अपनी नैतिक या भौतिक उन्नति निश्चिन्त होकर कर सकेगा।

समाज साधन है, उसकी भी उपेक्षा नहीं

हमने उपर्युक्त विवेचन में यह स्वीकार कर लिया है कि मानव या नागरिक की उन्नति साध्य है और समाज या राज्य उसका साधन। परन्तु समाज के ऊपर मानव के महत्त्व को मानते हुए भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि साधन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि साधन दृढ़ न हुआ तो भी कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं। घोड़ा या गाड़ी साधन हैं, पर उनकी भी चिन्ता करनी

पड़ती है। यदि कोई आदमी घोड़े या गाड़ी की चिन्ता नहीं करता, तो वहउनसे काम भी नहीं ले सकता। कमजोर घोड़ा सवार को कितनी दूर ले जायगा ? इसी तरह साधन होते हुए भी समाज की उपेक्षा नहीं की जा सकती। समाज को बलवान, प्रभावशाली और सशक्त बनाने के लिए नागरिक को भी त्याग करना पड़ेगा, कुछ उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का निर्वाह करना पड़ेगा। मैं जो अपने लिए चाहता हूँ, वही दूसरा भी पा सके, इसके लिए मुझे जो कुछ करना है, मेरा कर्त्तव्य कहा जायगा। जब सभी नागरिक मिलकर अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे, समाज को अपना पूरा सहयोग देंगे, तभी समाज बलवान और समर्थ होकर मानव की उन्नति व रक्षा में सहायक हो सकेगा।

पाँच प्रकार के कर्त्तव्य

नागरिक के सैकड़ों कर्त्तव्यों को राजनीति व नागरिकशास्त्र के विद्वानों ने पाँच वर्गों में विभक्त किया है—

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य;
(२) अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य;
(३) अपने मुहल्ले, ग्राम या नगर के प्रति कर्त्तव्य;
(४) अपने देश के प्रति कर्त्तव्य; और
(५) विश्व के प्रति कर्त्तव्य।

जिस तरह किसी मकान की मजबूती के लिए यह आवश्यक है कि उसमें लगी सामग्री, ईटें, सीमेंट, लकड़ी और लोहा, उत्कृष्ट कोटि की हों, उसी तरह किसी समाज या देश को बलवान, उन्नत और सभ्य बनाने के लिए देश के नागरिकों का भी स्वस्थ, सुशील, सदाचारी, शिक्षित और बलवान होना जरूरी है। यदि देश के नागरिक ही दुर्बल, अस्वस्थ, आलसी और अशिक्षित हैं, तो देश क्या उन्नति करेगा ? इसीलिए प्रत्येक नागरिक की अपनी व्यक्तिगत उन्नति न केवल उसके अपने लिए, बल्कि समाज या देश के लिए भी आवश्यक है। परिवार की उन्नति के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को एक दूसरे के प्रति दया, सहानुभूति और सेवा के गुण आवश्यक हैं, अन्यथा परिवार उन्नति नहीं कर सकेगा। अपने मुहल्ले, ग्राम या नगर की उन्नति के लिए भी कर्त्तव्य की भावना आवश्यक है। यदि हम निकम्मे और स्वार्थी सदस्यों को चुन लेते

हैं तो ऐसे सदस्यों की बनी हुई पंचायत या नगरपालिका (म्यूनिसिपल कमेटी) से नगर की उन्नति की कोई आशा नहीं की जा सकती। इन संस्थाओं को सहयोग हम नहीं देंगे, कर नहीं देंगे, सफाई या दूसरे नियमों का पालन न करेंगे, तो ये संस्थाएँ क्या काम कर सकेंगी ? स्वतन्त्र और बलवान देश की समर्थ सरकार ही हमारी रक्षा कर सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि देश पर जब कभी कोई आपत्ति आये, हम अपना सर्वस्व देकर भी उसकी रक्षा करें। अपने प्रान्त, वर्ग, धर्म, जाति या भाषा के आधार पर देश को हानि न पहुँचाएँ; उसे खण्डित करके दुर्बल न बनावें। आत्मा परिवार, ग्राम या नगर तथा देश तक अपना क्षेत्र विस्तृत कर लेता है। उसके आगे उसे अपनी दृष्टि विश्व तक व्यापक कर लेनी चाहिए। उग्र राष्ट्रीयता या स्वार्थपूर्ण देश-प्रेम बड़े-बड़े विश्व-युद्धों का कारण बनता है। इसलिए अपने देशवासियों के समान दूसरे देशों के नागरिकों से भाईचारा पैदा कर लेना चाहिए। हम अपने ग्राम, नगर, प्रान्त या देश के ही नागरिक नहीं हैं विश्व के भी नागरिक हैं। विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार होगा, तो विश्व-शान्ति स्थापित रह सकेगी और एक दूसरे देश की उन्नति में सहयोग देते हुए समस्त विश्व समृद्ध और सुखी हो जायगा।

: ९ :

प्रथम पंचवर्षीय योजना

किसी समय पंचवर्षीय योजना का शब्द सर्वथा अपरिचित व नया रहा होगा, किन्तु आज तो इस शब्द को सभी जानते हैं। आज कोई शिक्षित भारतीय ऐसा न होगा, जो इस शब्द से अपरिचित हो। सबसे पहले आर्थिक क्षेत्र में रूस ने इस शब्द का आविष्कार किया। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वहाँ अन्न-वस्त्र आदि का भयंकर संकट हो गया। विदेशों से उसे सहायता मिलनी बन्द हो गई और उन्होंने उससे व्यापार भी बन्द कर दिया। रूस के नेताओं

ने इस आकस्मिक भीषण विपत्ति से न घबराकर अपने देश को स्वावलम्बी बनाने का दृढ़ संकल्प कर लिया। परिणामस्वरूप एक पंचवर्षीय योजना बनाई गई। इसके कुछ विशेष उद्देश्य रखे गये कि इन पाँच वर्षों में अन्न, वस्त्र, मकान, स्कूल, हस्पताल, रेलगाड़ियाँ, नियत संख्या में पैदा करने या तैयार करने हैं। समस्त देश योजना में जी-जान से कूद पड़ा और संसार ने आश्चर्य से देखा कि पाँच वर्षों के लक्ष्य चार वर्षों में पूरे हो गए। रूस ने इससे प्रोत्साहित होकर नई पंचवर्षीय योजना बनाई, पहली से बड़ी और अधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण। रूस की इस सफलता का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। अमरीका में प्रेज़िडेंट रूज़वेल्ट ने आर्थिक संकट को दूर करने के लिए विशाल योजना बनाकर टैनेसी घाटी का विकास किया, तीन वर्षों में १,६०,००० मकान बनवाए और ६५ लाख बेकार आदमियों को वन-स्थापना के काम पर लगाया गया। इटली में मुसोलिनी ने भी विकास की निश्चित योजना बनाई और कुछ लक्ष्य निर्धारित कर इटली को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने पर वह तुल गया। हिटलर ने जर्मनी और ब्रिटिश सरकार ने इंगलैंड में विशेष लक्ष्य लेकर योजनाएँ बनाई। सामान्यत: पूँजीवादी देशों में उद्योगपति अपने-अपने लाभ को देखकर उद्योगों की स्थापना करते हैं, किन्तु उक्त योजनाओं में सरकार देश की आवश्यकता को देखकर निश्चय करती है कि अमुक वस्तु का इस मात्रा में नियत अवधि में निर्माण कर लेना है—अन्न प्रति व्यक्ति को अमुक मात्रा में मिलना चाहिए, अमुक मात्रा में वस्त्र तैयार होने चाहिएँ, एक नियत संख्या में मकान बनने चाहिएँ। कितने मील सड़कें बननी हैं, कितने कारखाने लोहे या मशीनरी के खोलने हैं, कितनी नहरें खोदनी हैं, कितने बिजलीघर बनाने हैं आदि लक्ष्य निर्धारित कर लिये जाते हैं और फिर उनकी पूर्त्ति के लिए साधन जुटाये जाते हैं।

भारत में

जब अन्य देशों में योजनाएँ बनाकर आर्थिक विकास किया जा रहा था, तब भारत की विदेशी सरकार कुछ नहीं कर रही थी। काँग्रेस ने पुनर्निर्माण की निश्चित योजना के महत्त्व को समझा और पं० नेहरू की अध्यक्षता में एक प्लानिंग कमीशन बनाया। इसने एक योजना के लिए निम्नलिखित आधार नियत किये—प्रत्येक व्यक्ति को स्वास्थ्ययुक्त भोजन, कम से कम ३० गज

वार्षिक कपड़ा और १०० वर्ग फुट निवास-गृह मिलना चाहिए। फिर तो कई योजनाएँ प्रस्तुत हुईं। सरकार को भी इस दिशा में विचार करना पड़ा। विश्वव्यापी युद्ध ने स्वावलम्बन का महत्त्व समझने के लिए विवश भी कर दिया था। युद्ध-काल में समस्त शक्तियाँ युद्ध व सैनिकों की सामग्री तैयार करने में केन्द्रित हो गई। युद्ध समाप्त होने के कुछ समय बाद ही भारत स्वतन्त्र हो गया।

जब हमारा देश स्वतन्त्र हुआ, हमारे कुछ उद्योग ज़रूर पनप रहे थे, पर देश की साधारण आर्थिक स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय थी। अन्न-संकट का भयंकर राक्षस १९४३ में ३५ लाख व्यक्तियों की बलि ले चुका था। फिर भी वह मुँह बाये खड़ा था। वस्त्र, चीनी, कागज़, घी, दूध, तेल सभी जीवनोपयोगी पदार्थ बहुत दुर्लभ और मँहगे थे। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस संकट को दूर करने के कुछ तात्कालिक उपाय किये। पर कहीं विदेशों से अन्न मँगाकर या राशन कंट्रोल जारी करके समस्याएँ सुलझती हैं? निश्चय किया गया कि देश को स्वावलम्बी बनाया जाय। देश और विदेशों की पंचवर्षीय योजनाओं का अध्ययन हुआ। समस्त देश में निश्चित योजनापूर्वक उन्नति का विचार किया गया। इसी काम के लिए एक योजना आयोग मार्च १९५० में बनाया गया। इस योजना आयोग ने १५ मास तक विचार-विनिमय के बाद एक योजना उपस्थित की। बाद में इसमें कुछ संशोधन भी किये गये। अन्तिम रूप के अनुसार यह योजना २३ अरब रु० की बनाई गई। इस योजना के मुख्य अंग निम्नलिखित थे—

(१) कृषि और ग्राम विकास; (२) सिंचाई और बिजली; (३) यातायात और संचार; (४) प्रधान उद्योग; (५) समाज-सेवा कार्य; और (६) पुनस्संस्थापन।

सबसे प्रधान समस्या अन्न व कृषिजन्य अन्य पदार्थों की थी। इसके लिए सिंचाई की व्यवस्था आवश्यक थी। भारत में प्रकृति अत्यन्त उदार रही है। सुजला भूमि में पानी की कमी नहीं है, कमी है केवल इसे खेत में पहुँचाने की। आयोग ने बड़ी-बड़ी नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनाकर देश भर में नहरें खोदने का निश्चय कर लिया। इन बाँधों के साथ-साथ बिजलीघर भी बनाने और गाँव-गाँव में बिजली के तारों का जाल बिछाने की योजना भी बनाई गई।

इसके लिए ६६१ करोड़ रु० व्यय करने की योजना बनाई गई। कृषि के विकास के लिए और भी व्यवस्थाएँ की गई, जिनमें राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक योजनाएँ मुख्य हैं। ट्रैक्टरों द्वारा अनुपजाऊ भूमि को उपजाऊ बनाने, बढ़िया बीज, वैज्ञानिक खाद आदि आजकल के अनेक साधनों के द्वारा कृषि-उत्पादन बढ़ाने का विचार किया गया। वस्त्र, चीनी, सीमेन्ट, लोहा आदि उद्योगों के भी उत्पादन-लक्ष्य नियत किये गये।

देश के आर्थिक विकास के लिए सड़कों, रेलों तथा जल-मार्ग के विकास की भी सख्त ज़रूरत है। इस कार्य के लिए ५५० करोड़ रु० का व्यय नियत किया गया। किन्तु हमारे देश की बहुत बड़ी संख्या, लगभग ८५ फीसदी जनता अशिक्षित है। गाँवों में बीसियों मील तक न किसी प्राइमरी स्कूल का पता है, न किसी छोटी-सी डिस्पेंसरी का। लोगों में कुरीतियाँ हैं, जहालत है, पिछड़ी हुई जातियों में वर्त्तमान संस्कृति व शिक्षा का नाम-निशान नहीं। इसलिए शिक्षा, चिकित्सा और जागृति की दिशाओं में भारी काम करने की जरूरत है। इन भारी कामों की दिशाओं में कोई प्रगति न हो तो राष्ट्र उन्नति कतई नहीं कर सकता। इसलिए यह निश्चय किया गया कि इन पर ५५६ करोड़ रु० व्यय किया जाय। इस तरह एक विशाल पंचवर्षीय योजना तैयार की गई।

योजना तैयार करना आसान है, पर उसे पूरा करना बहुत कठिन है। लोगों को इस योजना के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था, उनमें उत्साह न था, सरकारी अधिकारियों को अनुभव नहीं था, प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता भी नहीं थे, फिर यह भी मालूम नहीं था कि देश में कौनसा साधन कहाँ किस मात्रा में मिल सकता है, लेकिन राष्ट्र-नेताओं के आदेश से देश भर में कार्य शुरू कर दिया गया। पहले दो साल कार्य बहुत हलका हुआ, पर अनुभव व साधनों की प्राप्ति के साथ-साथ उत्साह भी बढ़ा। कृषकों को खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से जमींदारी भी समाप्त कर दी गई या की जा रही है। नहरों की खुदाई के साथ उनका उत्साह और बढ़ा। औद्योगिक क्षेत्र भी पीछे न रहा। पाँच सालों में नियत अनेक लक्ष्य पूरे कर लिये गये। खेती व उद्योग में उत्पादन की वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश की

राष्ट्रीय आय १८ प्रतिशत तक बढ़ गई। १९५१-५२ में राष्ट्र की कुल आय ९,१०० करोड़ रु० अर्थात् २५० रु० प्रति व्यक्ति थी, १९५४-५५ में यह आय १०,१७० करोड़ रु० अर्थात् २६९ रु० हो गई। अनाजों का उत्पादन नियत लक्ष्य से भी अधिक बढ़ गया। रुई और तिलहन आदि की उपज में वृद्धि हुई। इन पाँच वर्षों में सिंचाई की नई योजनाओं से एक करोड़ एकड़ और बड़ी योजनाओं से ६० लाख एकड़ में अधिक सिंचाई होने लगी। इससे खेती की आमदनी निश्चित रूप से बढ़ गई। छोटे और बड़े उद्योगों में भी १९४६ की अपेक्षा ६१ प्रतिशत वृद्धि हुई। लोहा, सीमेंट, पटसन, साइकिल, जहाज और खाद आदि सभी उद्योग करीब-करीब अपना लक्ष्य पूर्ण करने में सफल रहे। बहुतसी ऐसी चीज़ें बनने लगीं, जो पहले नहीं बनती थीं। अखबारी कागज, पैनिसिलीन, रेलवे इंजन, मशीन टूल आदि नये उद्योग आरम्भ हुए। मिलों का कपड़ा तो नियत लक्ष्य से भी बढ़ गया। गाँव-गाँव में सामुदायिक योजनाएँ विकसित हुईं। हजारों गाँवों में लोगों ने सामूहिक उन्नति की, शिक्षा प्राप्त की और हजारों हस्पताल खुले, गाँव-गाँव में स्कूल खुले और लोगों में स्वावलम्बन की शिक्षा से नया उत्साह उत्पन्न हुआ।

प्रथम योजना की सफलता ने देश में सचमुच एक नई उमंग पैदा कर दी है। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में पहली योजना की सफलता से लोगों में विश्वास की भावना का उदय हुआ है और उसके परिणामस्वरूप हमारे राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति की नींव रखी जा चुकी है। वस्तुतः प्रथम योजना की सफलता पर देश गर्व कर सकता है।

: १० :

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

प्रथम पंचवर्षीय योजना के निर्माण के समय ही यह स्पष्ट कर दिया गया था कि आर्थिक विकास के लिए यह तो पहला कदम है। इसके बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी योजना बनेगी और इस तरह हम आर्थिक विकास के मार्ग पर चलते जायेंगे। उस योजना को बनाते समय न सरकारी अधिकारियों व योजना-निर्माताओं को कुछ अनुभव था, न उन्हें यह मालूम था कि देश के साधन कितने हैं, कार्यक्षमता कितनी है। देश की वास्तविक समस्याओं व मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के सम्बन्ध में तथा सामुदायिक योजना आदि संचालन के लिए छोटे-बड़े प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं व अफसरों का भी सर्वथा अभाव था। इसलिए बहुत संकोच के साथ प्रथम योजना बनाई गई थी। पर दूसरी योजना बनाते समय ये सब कठिनाइयाँ नहीं थीं। प्रथम योजना के कार्य-संचालन ने हमें अनुभव दे दिया, प्रशिक्षित व अनुभवी कार्यकर्त्ता दिए, सुलभ साधनों की जानकारी प्राप्त हुई और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का भी पूरा ज्ञान हो गया। यह भी कल्पना कर ली गई कि देश की जनता का कितना रुपया और किस रूप में मिल सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि प्रथम योजना की सफलता ने हमारा उत्साह बढ़ा दिया। हमने अपने लक्ष्य ऊँचे किए और महत्त्वाकांक्षाएँ ऊँची कीं तथा अपनी शक्ति पर विश्वास के साथ दूसरी योजना पहली से बहुत बड़ी बनाई। प्रथम योजना थी २२ अरब रु० की, नई योजना बनी ४८ अरब रु० की अर्थात् पहली योजना से करीब सवा दो गुनी। पर पीछे से यह भी बढ़ाकर करीब ६० अरब रु० कर दी गई। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि निजी क्षेत्र के लिए २४ अरब रु० के व्यय का अनुमान इस राशि से पृथक् है।

इस दूसरी योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित रखे गये—

(१) राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि।

(२) तेजी से उद्योगों की वृद्धि ; विशेष रूप से मूल उद्योगों तथा बड़े-बड़े उद्योगों की वृद्धि और घरेलू तथा छोटे उद्योगों का योजनापूर्वक अधिक से अधिक विकास।

(३) रोजगार की व्यापक वृद्धि।

(४) आय और सम्पत्ति की असमानता में कमी तथा आर्थिक साधनों का समान वितरण।

आरम्भ में ४८ अरब रुपये की जो योजना बनाई गई थी उसमें व्यय का अनुपात निम्नलिखित रखा गया था, यद्यपि अब योजनाओं में कुछ परिवर्त्तन तथा मूल्य-वृद्धि के कारण कुछ तबदीलियाँ कर दी गई हैं, किन्तु इन संख्याओं से यह अवश्य मालूम हो जायगा कि योजना में विभिन्न मदों को किस अनुपात से महत्त्व दिया गया है।

१. कृषि और सामुदायिक विकास	५६८ करोड़ रु०
२. सिंचाई और बाढ़-नियन्त्रण	४८६ करोड़ रु०
३. बिजली	४२७ करोड़ रु०
४. उद्योग और खनिज पदार्थ	८९० करोड़ रु०
५. परिवहन और संचार	१,३८५ करोड़ रु०
६. समाज-सेवा, आवास तथा पुनस्संस्थापन	९४५ करोड़ रु०
७. विविध	९९ करोड़ रु०
कुल	४,८०० करोड़ रु०

यद्यपि देश ने समाजवादी लक्ष्य को स्वीकार कर लिया है, तथापि निजी उद्योग के महत्त्व को योजना-निर्माताओं ने स्वीकार किया है और प्रथम योजना की अपेक्षा बहुत बड़ी राशि २४ अरब रु० निजी क्षेत्रों के लिए अनुमानित की गई है। वस्तुस्थिति भी ऐसी है, जिसमें निजी उद्योग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके सहयोग के बिना औद्योगिक उन्नति सम्भव नहीं है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में पहली योजना से ७५ प्रतिशत अधिक पूँजी कारोबार में लगाई जायगी। सरकारी और निजी क्षेत्र में पूँजी नियोजन का अनुपात प्राय ६१ : ३९ का होगा।

इतनी बड़ी योजनाएँ बना लेने से, कागज पर लिख लेने से, काम नहीं बनता। इसके लिए साधन जुटाने पड़ते हैं। केन्द्र और राज्यों की सरकारों को विकास कार्यक्रम पर अमल करने के लिए जो धन की आवश्यकता होगी उसके जुटाने की योजना इस प्रकार सोची गई है—

१. चालू राजस्व से बचत		१२०० करोड़ रु०
(क) करों की वर्तमान (५५-५६) दर से	३५० करोड़ रु०	
(ख) अतिरिक्त करों से	८५० करोड़ रु०	
२. जनता से उधार		१,२०० करोड़ रु०
(क) कर्ज	७०० करोड़ रु०	
(ख) छोटी बचत	५०० करोड़ रु०	
३. बजट की अन्य मदों से		४०० करोड़ रु०
(क) विकास कार्यक्रम में रेलों का योग	१५० करोड़ रु०	
(ख) प्रावीडेंट फंड इत्यादि से	२५० करोड़ रु०	
४. विदेशों से सहायता		८०० करोड़ रु०
५. घाटे की अर्थ-व्यवस्था से		१,२०० करोड़ रु०
	कुल	४,८०० करोड़ रु०

विभिन्न कारणों से दुनिया के बाज़ारों में मशीनरी आदि के दाम बहुत बढ़ गये हैं। कुछ योजनाओं के लक्ष्य बढ़ाये गये और कुछ मज़दूरी में भी मँहगाई के कारण वृद्धि करनी पड़ी। इन सब कारणों से योजना का प्रस्तावित व्यय ६० अरब से भी ऊपर हो गया है। देश के वर्त्तमान साधनों से इतना रुपया मिलना असम्भव है। देश के नेताओं के ख्याल में योजना के लक्ष्यों में कमी करना हमारी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। इसीलिए एक ओर जनता पर

पुराने करों में वृद्धि की जा रही है, सम्पत्ति-कर तथा व्यय-कर आदि नये कर लगाये जा रहे हैं ; दूसरी ओर विदेशों से पर्याप्त ऋण की प्राप्ति के प्रयत्न किये जा रहे हैं ।

इन अंकों से दो-तीन बातें स्पष्ट हैं । पहली तो यह कि कृषि की अपेक्षा उद्योग पर इसमें बहुत बल दिया गया है । प्रथम योजना के समय अन्न-सङ्कट मुँह बाये खड़ा था, इसलिए उसमें कृषि विकास पर जोर दिया गया था । कृषि और सिंचाई पर कुल योजना का ४३.२ प्रतिशत व्यय का लक्ष्य निर्धारित किया गया था जब कि नई योजना में ३०.८ प्रतिशत राशि व्यय की जायगी। किन्तु इससे इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि कृषि-योजनाओं पर पहले से व्यय कम होगा, वह तो बहुत बढ़ा दिया गया है । पिछली योजनाओं में कुल व्यय १,०१८ करोड़ रु० था, अब बढ़ाकर १,४८१ करोड़ रु० नियत किया गया है, तथापि उद्योग-विकास आदि पर बहुत अधिक राशि बढ़ाई गई है । सिर्फ उद्योग में १७९ करोड़ रु० (७.६ प्रतिशत) की जगह ८९० करोड़ रु० (१८.५ प्रतिशत) तथा उद्योग में परम सहायक परिवहन व्यवस्था के विकास के लिए ५५७ करोड़ रु० की जगह १,३८५ करोड़ रु० व्यय नियत किया गया है । यह अच्छी तरह समझ लिया गया है कि उद्योग के सामान्य विकास के लिए बड़ी मशीनों का निर्माण और इस्पात उद्योगों का विकास आवश्यक है । इस्पात का उत्पादन १९५५-५६ के १३ लाख टन से बढ़कर १९६०-६१ में ४३ लाख टन करने की योजना है । इसी प्रकार कोयले का उत्पादन ३ करोड़ ८० लाख टन से ६ करोड़ टन, सीमेंट का ४८ लाख टन से १ करोड़ ३० लाख टन और मुख्य रासायनिक पदार्थों का २ लाख ७५ हजार टन से ५ लाख २० हजार टन करने का लक्ष्य है ।

अन्य भी अनेक उद्योगों का विकास केन्द्र व राज्यों की सरकारें स्वयं अपने हाथ में ले रही हैं ।[1] निजी क्षेत्र में भी अनेक उद्योगों के विकास की आशा है । ग्रामोद्योगों के विकास के लिए नई योजना में विशेष राशि नियत की गई है ।

कृषि और उद्योग दोनों के विकास का यह स्वाभाविक परिणाम होगा कि

१. उद्योग-नीति पर निबन्ध पढ़िये ।

देश की राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। जितना अधिक उत्पादन होगा, उतनी ही आमदनी बढ़ेगी। एक अनुमान के अनुसार—

दूसरी योजना के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि होने की आशा है, यानी १९५५-५६ की राष्ट्रीय आय १०,८०० करोड़ रु० से बढ़ कर १९६०-६१ में १३,४८० करोड़ हो जायगी। इसका मतलब यह हुआ कि प्रति व्यक्ति आय में १८ प्रतिशत की वृद्धि होगी अर्थात् १९६०-६१ में ३३० रु० हो जायगी, जो १९५५-५६ में २८० रु० थी। लगभग १ करोड़ व्यक्तियों को रोजगार मिल सकेगा। इस अवधि में हर साल ९० लाख मजदूर बढ़ेंगे और कुछ कम आय वाले लोगों को अच्छा काम मिल जायगा।

कृषि व उद्योग में उत्पादन की नई पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य नहीं है। भारत के जनसाधारण और विशेषकर ग्राम-ग्राम की जनता को स्वावलम्बी, परिश्रमी, सम्पन्न, सुखी व खुशहाल बनाना भी इसका उद्देश्य है। इस उद्देश्य के लिए एक ओर ग्रामों के विकास के लिए सामुदायिक योजनाओं का क्षेत्र विस्तृत किया जा रहा है, जिसमें ग्रामवासी अपने पैरों पर स्वयं खड़े हो सकें, दूसरी ओर समाज-सेवा का विस्तृत कार्य-क्रम रखा गया है। इस कार्य के लिए ९४५ करोड़ रुपये की राशि नियत की गई है। इससे शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास पिछड़ी जातियों व श्रमिकों का कल्याण तथा पुनःसंस्थापन आदि कार्य किये जावेंगे।

जन-सहयोग

किन्तु ये सब योजनाएँ केवल सरकार पूर्ण नहीं कर सकती। इसके लिए समस्त देश के जनबल के सक्रिय सहयोग की अपेक्षा होगी। भारत माता को यदि समृद्ध, सुखी और सम्पन्न बनाना है, दरिद्रता के अभिशाप से उसे मुक्त करना है, तो यह जरूरी है कि प्रत्येक नागरिक इसमें सहयोग दे। इन योजनाओं के लिए अरबों रुपये की ज़रूरत है। सरकार करों द्वारा, बैंकों में बचत के द्वारा हम से रुपया लेना चाहे तो हमें सहयोग देना होगा। इस योजना-पूर्ति के लिए सरकार ने ८०० करोड़ रु० अतिरिक्त कर लगाने का निश्चय किया है। श्रम-दान करके करोड़ों रु० का कार्य हमने मिलकर करना है। तभी तो हम अपनी पुण्य भारतजननी को सुजला, शस्यश्यामला बना सकेंगे।

: ११ :

भारत की औद्योगिक नीति

किसी देश की औद्योगिक नीति वहाँ की परिस्थिति से, आवश्यकताओं और आर्थिक व राजनैतिक विचारधाराओं से निर्धारित होती हैं। जब भारत विदेशी शासन के अन्तर्गत हुआ तो उसकी नीति भारतीय हितों की अपेक्षा ब्रिटिश हितों को देखकर निर्धारित की जाने लगी। अंग्रेजों के आने के समय भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत समृद्ध था भारत के जहाज लाखों करोड़ों रुपये का माल विदेशों के द्वीप-द्वीपान्तरों तक ले जाते थे। उस समय भारतीय जहाजों को देखने के लिए विदेसी बन्दरगाहों पर बड़ी भीड़ एकत्र हो जाती थी। कलापूर्ण सुन्दर व महीन वस्त्रों के लिए भारत विख्यात था। भारतीय इस्पात और इस्पात के बने शस्त्रास्त्रों की धाक यूरोप ही नहीं, संसार के बहुत से देशों में थी। संसार के चारों ओर से अपार धन-राशि खिचकर भारत पहुँचती थी। परन्तु यह सब विदेशी शासकों को कैसे सहन हो सकता था? उन्होंने अपने भौतिक बल से तथा नाना प्रकार के छल-छिद्र से भारतीय उद्योग को कमजोर करना शुरू किया। यूरोप में इंजिन व मशीनरी के आविष्कार से वहाँ की चीजें सस्ती भी तैयार होने लगीं। एक-एक करके भारतीय उद्योग नष्ट होने लगे और हम सुई व पिन तक के लिए विदेशों के मुहताज बन गये। कपड़ा ही ७०-८० करोड़ रुपये का प्रतिवर्ष विदेशों से यहाँ आने लगा। ब्रिटिश सरकार भारत को केवल कृषि-प्रधान देश बनाना चाहती थी। उसकी आन्तरिक इच्छा पूर्ण हुई और भारत ब्रिटिश कारखानों के कच्चा माल पैदा करने वाला तथा तैयार माल की मंडी बन गया।

लेकिन समय बदला। १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। यूरोप में विदेशी वस्तुओं का माल जहाजी कठिनाइयों के कारण कम हो गया। इसलिए माल यहाँ बनाने की आवश्यकता अनुभव की गई। फिर देश की राजनैतिक चेतनता के साथ-साथ स्वदेशी की भावना का भी प्रचार हो चुका था, इसलिए

अनेक भारतीय उद्योगपतियों ने खतरा लेकर सरकार का उपेक्षापूर्ण रुख होते हुए भी यहाँ अनेक उद्योग खड़े कर दिये और अपनी प्रतिभा, व्यवहार-कुशलता तथा अध्यवसाय के कारण देश को औद्योगिक विकास के पथ पर ला खड़ा किया। काल-चक्र व राजनैतिक परिस्थितियों से विवशता और कुछ यूरोप में द्वितीय महायुद्ध की आशंकाओं से ग्रस्त ब्रिटिश सरकार ने भारत के औद्योगिक विकास में कुछ रुचि लेनी शुरू की। मशीनों के निर्माता कुछ ब्रिटिश पूँजीपति भी भारत में अनेक उद्योगों की उन्नति चाहते थे, क्योंकि इसमें उनकी भारी मशीनरी बिकती थी। ब्रिटिश सरकार को भी पूर्व में एक ऐसे सुदृढ़ गढ़ की आवश्यकता थी, जिसे आधार बनाकर वह संकट-काल में सभी प्रकार की युद्ध-सामग्री और साधन जुटा सके। इसलिए १९३० के बाद और विशेषकर १९४० के बाद भारत में अनेक उद्योगों का विकास तेजी से शुरू हुआ। युद्ध समाप्त होते-होते तक वह ऐसी स्थिति में आ गया कि औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। जो थोड़ी-बहुत कमी रही, वह भारत की विदेशी शासन से मुक्ति ने दूर कर दी।

फिर भी भारत को अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा पूर्ण आर्थिक विकास के लिए बहुत-कुछ करना था। आज भी ७०-७५ प्रतिशत भारतीय केवल कृषि पर आश्रित हैं। प्रत्येक मनुष्य के पीछे एक एकड़ से कम कृषि भूमि पड़ती है, जो जीवन-निर्वाह के लिए बहुत कम है। अच्छी फ़सल के लिए सिंचाई का अभाव है, खाद की कमी है और है नये साधनों की न्यूनता। परिणामस्वरूप फसल की आय बहुत कम होती है। खेती में ७० प्रतिशत मनुष्य लगे हुए हैं, परन्तु वे देश की आय का कुल ५१ प्रतिशत भाग देते हैं जबकि उद्योग-धन्धों में लगे हुए केवल १० प्रतिशत मनुष्य राष्ट्र की आय का २७ प्रतिशत भाग कमाते हैं। सच्चाई यह है कि भूमि इतने प्रतिशत को भोजन देने में समर्थ नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि एक ओर कृषि की पैदावार बढ़ाई जाय और दूसरी ओर खेती पर लगे आदमियों के एक बड़े भाग को उद्योग में लगाया जाय। देश में बेकारी भी कम नहीं है। बेकार लोगों को रोजगार देने के लिए भी ज़रूरी है कि उद्योगों का विकास किया जाय। इंगलैण्ड, जर्मनी, जापान, रूस, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि औद्योगिक उन्नति के कारण ही अत्यन्त समृद्ध हैं।

परन्तु औद्योगिक विकास करने के विचार के साथ ही अनेक मूलभूत प्रश्न सामने आते हैं। उद्योग कैसे विकसित किये जायें ? छोटे या बड़े उद्योगों का मूलभूत उद्देश्य क्या हो ? उद्योग सरकार चलाये या लोगों को निजी उद्योग चलाने दिये जाएँ ? कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि पूँजीपतियों की प्रतिस्पर्द्धा ने ही जर्मनी, जापान व इंगलैण्ड और यूरोप को समृद्ध किया है। भारत में भी यही नीति अब तक उद्योगों के विकास की सफलता का मुख्य कारण रही है। विदेशी उद्योगों की घोर प्रतिस्पर्द्धा तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अनेक बाधाओं के बावजूद निजी उद्योगों ने भारी वृद्धि की है और कपड़ा, चीनी, सीमेंट, लोहा, इस्पात आदि उद्योगों में उत्पादन बहुत बढ़ा है। पर दूसरी ओर साम्यवादी या समाजवादी विचार के लोग पूँजीवाद को समाप्त करके सब उद्योगों के राष्ट्रीय-करण पर बल देते हैं। वे धन को कुछ हाथों में केन्द्रीभूत होने देने तथा मजदूरों के शोषण का अवसर देने का विरोध करते हैं। पूँजीवाद धन का वितरण ठीक नहीं करता। इससे अमीर ज्यादा अमीर बनता है, गरीब ज्यादा गरीब। इन सब प्रश्नों पर गम्भीर विचार किया गया, ३९ प्रमुख उद्योगों की जाँच-पड़ताल की गई और तब भारत सरकार ने बीच का मार्ग अपनाया। ६ अप्रैल, १९४८ को भारत सरकार ने एक महत्त्वपूर्ण घोषणा द्वारा अपनी औद्योगिक नीति देश को बताई। इस नीति के मूल में तीन विचार थे—

(१) उत्पादन में निरन्तर वृद्धि ;

(२) वितरण में समानता ; और

(३) सरकार का औद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण भाग।

इस घोषणा में शस्त्रों व बारूद, अणु-शक्ति, रेलवे-सम्बन्धी उद्योग पर सरकार का एकाधिकार स्वीकार किया गया था। कोयला, इस्पात, वायु-यान, जहाज, रेल, टेलीफोन व तार आदि उद्योगों के नये कारखाने स्थापित करने व संचालन का अधिकार भी सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। विद्युत्-उत्पादन व वितरण का भी उत्तरदायित्व सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। शेष व्यवसाय निजी उद्योगपतियों के लिए खुले रखे गये, परन्तु सरकार ने इनमे भी प्रवेश करने का अधिकार अपने हाथ में रख लिया। छोटे उद्योग-धन्धों व बड़े उद्योग-धन्धों के बीच में समन्वय करने का प्रयत्न भी करने का निश्चय

किया गया । नये कारखानों को सहायता देने के लिए केन्द्रीय व राज्यीय सरकारों ने अनेक वित्त निगमों की स्थापना की है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भी औद्योगिक विकास के लिए सहायता प्राप्त हुई । सरकार ने पाँच वर्षों के अन्दर प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न औद्योगिक विकास-कार्यों पर करीब १०० करोड़ रुपये व्यय किये । यातायात साधनों के विकास पर भी भारी राशि व्यय की गई। पिछले वर्षों में सरकार ने ब्रिटेन, रूस व जर्मनी के सहयोग से इस्पात के तीन कारखाने खोलने का निश्चय किया है। इन कारखानों के निर्माण की तैयारियाँ की जा रही हैं। जहाजरानी, इंजिन-निर्माण, टेलीफोन, कृत्रिम खाद, डी० डी० टी०, रेल के डिब्बे आदि नये उद्योग फलने-फूलने लगे हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में उद्योग का काफी विकास हुआ है । औद्योगिक उत्पादन का निर्देशक अंक (इण्डैक्स नम्बर) १०५·७ से बढ़कर १५८·० हो गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक उन्नति पर कितना अधिक बल दिया गया है, यह नीचे के अंकों से प्रकट होगा—

	प्रथम योजना	**द्वितीय योजना**
बिजली	२ अरब ६६ करोड़	४ अरब ४० करोड़
उद्योग व खनिज	१ अरब ७९ करोड़	८ अरब ९१ करोड़
यातायात व संवाद वहन	५ अरब ५६ करोड़	१३ अरब ८४ करोड़

परन्तु औद्योगिक विकास की इन विशाल योजनाओं के साथ-साथ सरकार ने अपनी नीति को और स्पष्ट कर दिया है। संसद् ने समाजवादी संगठन के सिद्धान्त को अपने उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लिया है । भारत का नया संविधान भी १९४८ के बाद बना था, जिसमें न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व आदि सिद्धान्तों को स्वीकार ही नहीं किया गया, बल्कि आर्थिक समानता का उल्लेख करते हुए यह भी निर्देश दिया गया है कि सम्पत्ति को सीमित क्षेत्र में केन्द्रीभूत न होने दिया जाय। देश में भी समाजवाद की— उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की माँग हुई। इसलिए सरकार ने मई १९५६ के प्रारम्भ में नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इसके अनुसार उद्योगों की तीन श्रेणियाँ की गई है। कुछ उद्योग (जिनमें कोयला व खनिज भी सम्मिलित कर लिये गए हैं) केवल सरकारी क्षेत्र के लिए सुरक्षित कर दिये गए है। दूसरी

श्रेणी के उद्योग ऐसे हैं, जिनमें सरकार नये औद्योगिक कारखाने खोलेगी, किन्तु निजी क्षेत्र भी अपने बलबूते पर नये कारखाने खोल सकेंगे। तीसरी श्रेणी में वे उद्योग हैं, जिनका विकास निजी क्षेत्र करेगा। नई योजना के अनुसार २४ अरब रु० निजी क्षेत्र से व्यय किया जायगा। वस्तुतः इस नई मिश्रित नीति को स्वीकार किया गया है। सचाई यह है कि आज देश केवल सरकारी उद्योगों के बल पर उन्नति नहीं कर सकता। न सरकार के पास इतने साधन हैं और न इतनी सामार्थ्य कि यह सभी उद्योग चला सके। यह ठीक है कि सरकार इस दिशा में बहुत तेजी से आगे बढ़ती जा रही है। बीमा-व्यवसाय, हवाई जहाज, जहाजी उद्योग पर उसने अधिकार कर लिया है। राज्य सरकारें भी बस यातायात को प्रायः अपने हाथ में कर चुकी हैं। यह अच्छा हो या बुरा, समय का प्रवाह ही राष्ट्रीयकरण की ओर है। उसे आज बदला नहीं जा सकता, केवल उसकी गति कुछ शिथिल की जा सकती है।

समाजवाद और निजी क्षेत्र का समन्वय सहकारिता के आधार पर चलाये गये उद्योगों के द्वारा हो सकता है। इससे उद्योग का लाभ अधिक जनसंख्या को मिलेगा। नई नीति में इस पर विशेष बल दिया गया है। मजदूरों का वेतन-स्तर सरकारी व निजी क्षेत्रों दोनों में ऊँचा करने की सलाह दी गई है।

किन्तु केवल बड़े उद्योगों से भारत की समस्या हल नहीं होगी। प्राचीन भारत में खेती व ग्रामोद्योग दोनों मिलकर ग्रामीण किसान की आवश्यकता पूर्ण करते थे। आज भी ग्रामों में आविष्कार की जरूरत है, जिससे ज्यादा से ज्यादा लोगों को काम मिल सके। अम्बर चरखे का आविष्कार खद्दर के लिए सूत की समस्या भी हल कर सकेगा। सरकार ने पंचवर्षीय योजना में लघु उद्योगों के प्रोत्साहन पर बल दिया है। खद्दर के कपड़े की बिक्री पर छूट दी जा रही है। खद्दर आदि बिक्री-कर से मुक्त कर दिये गये हैं, मिलों में ज्यादा लूम लगाने पर प्रतिबन्ध लग रहे हैं। बिजली विस्तार की योजनाओं के सफल होने पर गाँव-गाँव में बिजली पहुंच जायगी, तब छोटे उद्योगों व ग्रामोद्योग के विकास की सम्भावनाएँ बढ़जायँगी।

वस्तुतः आज बड़े प्रधान उद्योगों व ग्रामोद्योगों सरकारी व गैर-सरकारी उद्योगों में समन्वय की नीति ही देश के लिए लाभप्रद है।

: १२ :

बेकारी की विकट पहेली

करीब सात-आठ वर्ष पूर्व जब आचार्य विनोबा भावे प्रथम योजना आयोग के सदस्यों से मिले थे, तब उन्होंने योजना की एक बड़ी भारी त्रुटि यह बतलाई थी कि "इसमें सब को काम मिलने की गारण्टी नहीं की गई है। किसी भी राष्ट्रीय योजना की पहली शर्त सबको रोजगार देना है। यदि ऐसा नहीं होता अर्थात् प्रस्तावित योजना से सबको रोजगार नहीं मिल सकता, तो आयोजन एकपक्षीय होगा, राष्ट्रीय नहीं।" अन्य भी अनेक समाजवादी नेताओं ने पंचवर्षीय योजना में इस भारी कमी की ओर ध्यान खींचा। इसका परिणाम यह हुआ कि योजना के अन्तिम रूप में रोजगार पर अलग प्रकरण लिखा गया और कुटीर उद्योगों के लिए एक विशेष क्षेत्र नियत कर दिया गया किन्तु सरकार ने यह अनुभव किया कि प्रथम योजना की अवधि समाप्त होते होते बेकारी कम होने के बजाय बढ़ गई। इसलिए दूसरी योजना में इस ओर विशेप ध्यान दिया गया।

हमारे देश की बेकारी की समस्या ऐसी नहीं है कि किसी एक-आध औषधि से उसका इलाज हो सके। यदि हम बेकारी को सर्वथा दूर करना चाहते है तो हमें पहले यह सोचना होगा कि बेकारी की समस्या का वास्तविक स्वरूप क्या है। भारतवर्ष में आज तीन किस्म के बेकार हैं। पहले वर्ग में हम उन्हें ले सकते हैं जो किसी तरह का रोजगार न होने के कारण एक पैसा भी नहीं कमाते और अपने निकट या दूर के सम्बन्धियों पर आश्रित हैं। दूसरे वर्ग में वे लोग आते है जो किसी न किसी तरह काम पर तो लगे हुए हैं और कहने को बेरोजगार नही हैं, परन्तु वे इतना कम पाते हैं कि अपनी जरूरतें पूरी नहीं कर पाते। वे आधा पेट भूखे रहते हैं या वस्त्र, चिकित्सा आदि की अपनी आवश्यकताएँ पूरी नही कर पाते। तीसरे प्रकार के बेकार वे हैं, जिन्हें हम शिक्षित बेकार कहते हैं। मैट्रिक या ग्रेजुएट होकर के भी ये लोग काम नही पाते।

गाँव में बेकारी

प्रथम प्रकार की श्रेणी अधिकांशतः किसानों की होती है जिनके पास कहने को खेती का धन्धा होता है किन्तु खेती की आमदनी शून्य के बराबर होती है। खेती पर पहले जितने प्रतिशत देशवासी निर्भर थे, आज उससे अधिक खेती पर निर्भर करते हैं। परिणाम यह हुआ है कि हमारी भूमि अब सबको भोजन नहीं दे सकती और बहुत कम लोगों को पेट भरने लायक भोजन मिलता है। खेतों के टुकड़े होते-होते बहुत छोटे रह गये हैं। यदि अमरीका में एक खेत का औसत क्षेत्रफल १४५ एकड़ है तो भारत में केवल ५ एकड़। सन् १६०१ में कृषि पर आश्रितों की संख्या ६ करोड़ १० लाख थी, परन्तु आज यह संख्या ११ करोड़ से अधिक ही है। इस प्रकार भारत का ग्रामीण अधिकाधिक बेकार होता गया। किसान की बेकारी बढ़ाने वाला एक प्रधान कारण और है और वह यह है कि हमारे देश की भूमि अन्य देशों की अपेक्षा कम उत्पादन करती है। भारत में औसतन प्रति एकड़ १६·५ मन गेहूँ, ३१ मन चावल और २ मन रुई पैदा होती है, जबकि चीन जैसे देश में २४·५ मन गेहूँ, ६० मन चावल और ५ मन रुई पैदा होती है। इस कारण भारतीय किसान अन्न का उत्पादक या अन्नदाता होते हुए भी स्वयं भूखा मर रहा है। करोड़ों किसान काम करते हुए भी साल में ८ महीना बेकार रहते है, क्योंकि उन्हें खेतों पर कोई काम नहीं होता। इसलिए ग्रामों की बेकारी दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामों में नये-नये उद्योग, विशेषकर ग्रामोद्योग खोले जायें, जिससे साल के ८ महीने वे ग्रामोद्योग करते हुए अपनी आजीविका चला सकें। परन्तु गरीब किसानों के पास उद्योग के लिए आवश्यक यंत्र नहीं हैं, फिर यदि वह कुछ पैदा भी करें तो उसकी बिक्री के लिए बाजार नहीं है, क्योंकि ग्रामोद्योग कल-कारखानों का मुकाबला नहीं कर सकते। लोगों में ग्रामोद्योग की बनी हुई चीजों के प्रति रुचि भी नही है। इसके लिए देश में नया वातावरण उत्पन्न करना पडेगा। ग्रामोद्योगों के लिए नये किस्म की बढ़िया मशीनें देनी होंगी। उन्हे मिलों की प्रतिस्पर्द्धा से बचाना होगा। यह ठीक है कि सरकार इस विषय मे कुछ कदम उठा रही है। नयी योजना में ग्रामोद्योग के विकास के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी जा रही हैं। खद्दर पर कीमत में छूट, मिलों में खास किस्म के कपड़ों पर कुछ पाबन्दियाँ तथा सरकारी कामों के लिए खद्दर की

खरीद आदि से खद्दर व्यवसाय को कुछ लाभ पहुँचा है। हाथ के कागज, साबुन, चमड़ा, खिलौने आदि अनेक ग्रामोद्योगों को प्रमुखता दी जा रही है।

कृषकों की आमदनी बढ़ाने के लिए दूसरी आवश्यक चीज यह है कि खेती की पैदावार प्रति एकड़ बढ़ाई जाय। इसके लिए भी सिंचाई की उचित व्यवस्था की जा रही है। बड़े-बड़े बाँध बनाकर नहरों का जाल देश में बिछाया जा रहा है। छोटी-बड़ी और भी सिंचाई की योजनाएँ पूरी की जा रही हैं। बढ़िया खाद की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सहकारी खेती, सहकारी समितियाँ तथा अन्य उपायों से कृषि-उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। गाँव की बेकारी इस तरह दो प्रकार से हल होगी—कृषि-सुधार और ग्रामोद्योग से।

नगरों में बेकारी

गाँवों के बाद हमें शहरों व कस्बों में फैली हुई बेकारी को दूर करने पर विचार करना चाहिए। नगरों में बेकारी दूर करने के लिए उद्योगों का विस्तार ही एकमात्र मुख्य उपाय है। विदेशी शासन में हमारे देश की आर्थिक स्थिति जान-बूझकर ऐसी रखी गई थी कि आर्थिक दृष्टि से देश स्वावलम्बी न हो सके। एक-एक करके हमारे सब उद्योग नष्ट कर दिये गये थे। ढाके की महीन मलमल और बड़े-बड़े जहाज बनाने वाला भारत छोटी-छोटी चीजों के लिए परमुखापेक्षी हो गया। हमारे उद्योग नष्ट हो जाने से देश के करोड़ों आदमी बेकार हो गये। आज देश ने अनुभव कर लिया है कि देश को छोटे और बड़े उद्योगों की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना है। इसके लिए सबसे ज़रूरी यह है कि देश में एक ओर जहाँ बड़े-बड़े उद्योग प्रारम्भ किये जायँ, वहाँ जनता में स्वदेशी की भावना पैदा की जाय। जिस दिन हम यह निश्चय कर लेंगे कि बड़ी से बड़ी मशीनें हम अपने देश में बनायें और अपने व्यवहार में अपने देश की वस्तु ही लायें, उस दिन देश के लाखों-करोड़ों आदमियों को काम मिलने लग जायगा। अमरीका में एक कानून है 'बाई अमेरिकन एक्ट'। इसके अनुसार अमेरिकन सरकार कोई भी ऐसा विदेशी सामान नहीं खरीद सकती, जो आयात-कर देने पर भी अमरीकन माल से २५ प्रतिशत सस्ता न पड़ता हो। भारत सरकार को भी ऐसा ठोस कदम उठाना चाहिए।

भारत सरकार बेकारी-निवारण की दिशा में कुछ प्रयत्न कर रही है। नई योजना में इसीलिए उद्योग पर बहुत अधिक व्यय किया जायगा। बड़े उद्योगों के विकास के लिए सरकार बड़े-बड़े तीन लोहे के कारखाने बना रही है। बड़े उद्योगों और खनिज तथा छोटे और देहाती उद्योगों पर अरबों रुपया व्यय किया जायगा। परिवहन और संचार-उद्योग के विकास पर तो करीब १४ अरब रुपया व्यय के लिए नियत किया गया है।

द्वितीय योजना और बेकारी

अधिक से अधिक लोगों को रोजगार प्रदान करने के लिए द्वितीय योजना में, घरेलू उद्योग-धन्धों के साथ-साथ गृह-निर्माण-कार्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस क्षेत्र के विकास से लगभग २१ लाख लोगों को रोजगार मिल सकेगा। विविध क्षेत्रों में, अनुमान लगाया गया है कि करीब ८० लाख लोगों को रोजगार मिल जायगा।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रायः ५० लाख आदमी प्रति वर्ष अर्थात् २ वर्ष में एक करोड़ नये पैदा हो जाते है। इसलिए हमारी बेकारी की समस्या हल करना कोई आसान काम नहीं है।

शिक्षित बेकार

जब हम बेकारी की चर्चा करते हैं, तो स्वभावत. हमारे सामने उन शिक्षित बेकारों का चित्र आ जाता है, जो स्कूलों और कालिजों में से प्रत्येक वर्ष निकलते हैं, किन्तु कोई काम न मिलने के कारण जीवन में निराश हो जाते हैं। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति भी कुछ इसका कारण कही जाती है, क्योंकि किताबी शिक्षा युवकों को शारीरिक परिश्रम की ओर प्रोत्साहन नही देती। वे अपने पैरों पर स्वयं खड़े नही हो सकते। इसलिए यह ज़रूरी है कि एक ओर उन्हें हाथ की, कला-कौशल की शिक्षा देनी चाहिए, और दूसरी ओर देश मे ऐसे छोटे धन्धे खोलने चाहिएं, जिनमें वह थोड़ी सी सरकारी सहायता पाकर अपने पैरों पर खड़े हो सके. परन्तु यह याद रखना चाहिए कि इनके उद्योग तभी पनप सकते है, जब हम विदेशी वस्तुएँ—प्लास्टिक सामग्री, शृंगार सामग्री, चमड़े का सामान, काँच और पाटरी का सामान और खेल-खिलौने आदि बाहिर से मंगवाने सर्वथा बन्द कर दें।

अशिक्षित मजदूर

अशिक्षित और शारीरिक श्रम करने वाले मजदूरों को काम देने के लिए, सड़क, कुएँ, मकान, नहर आदि के निर्माण-कार्य को बहुत तेजी से बढ़ाना चाहिए। कुछ विद्वानों का विचार है कि जिस तेजी से भारत में जनसंख्या बढ़ रही है, उसे देखते हुए बेकारी की समस्या को सर्वथा समाप्त करना असम्भव होगा। अतएव यह आवश्यक है कि देश में जनसंख्या की वृद्धि पर भी नियन्त्रण करने की आवश्यकता जनता को बताई जाय।

: १३ :

जमींदारी-उन्मूलन

"जमींदारी गाड़ी के पाँचवें पहिये के समान है—अर्थात् केवल निरर्थक ही नहीं, बस अडंगा लगाने वाला और जमीन पर अनावश्यक बोझ"

—पं० जवाहरलाल नेहरू

जमींदारी प्रथा का जन्म

भूमि-व्यवस्था-सम्बन्धी सुधारों में योजना आयोग ने सब से अधिक महत्त्व भूमि-सम्बन्धी अधिकारों को दिया है। सरकार व किसान के बीच अन्तर्वर्ती जमींदार-वर्ग को समाप्त करके भूमि किसान को दिए जाने का समर्थन आज प्रायः सभी अर्थशास्त्री, नेता और अधिकारी करने लगे है। वस्तुतः जमींदारी प्रथा किसान की निजी उन्नति में ही नहीं, देश के आर्थिक विकास में भी बहुत बाधक रही है। किसी समय भारत में किसान ही भूमि का स्वामी था। जैमिनी ने पूर्व मीमांसा में लिखा है कि राजा भूमि किसी को प्रदान नही कर सकता, क्योंकि वह उसकी अपनी दौलत नहीं है। मनु भी जंगलों को साफ करने वाले और जोतने वालों को खेतीबाड़ी का स्वामी बताते हैं। मुस्लिम काल

में जमींदार थे अवश्य, पर वे केवल लगान वसूल करने वाले अफसर थे, जमीन के मालिक नहीं। अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने किले बनाने के लिए किसानों से जमीनें खरीदी थीं। वस्तुतः पहले भूमि राजाओं की अपनी सम्पत्ति नहीं थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने लगान वसूल करने के लिए कार्नवालिस के समय जमींदारी प्रथा की नींव डाली थी। मालगुजारी वसूल करने वाले अफसर न रहकर जमीन के मालिक मान लिये गये।

शायद अंग्रेज शासक जमींदारी प्रथा को बहुत समय तक जारी न भी रखते, लेकिन १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध में उन्होंने अनुभव किया कि ताल्लुकेदारों में एक भी विद्रोह में सम्मिलित नहीं हुआ और एक भी किसान राजभक्त नहीं रहा। इसलिए उन्होंने जमींदारों व ताल्लुकेदारों को अपने राज्य का स्तम्भ मानकर उन्हें अधिकाधिक अधिकार दिये।

दुष्परिणाम

भूमि पर नई स्वामित्व-नीति का प्रभाव बहुत बुरा हुआ। उससे बड़ी-बड़ी हानियाँ हुई, जिनमें से कुछ हानियाँ निम्नलिखित हैं—

१. पहले के स्वावलम्बी गाँव परावलम्बी हो गए। किसानों को मिलने वाला अनाज उनके पास नहीं रहा और उनकी क्रयशक्ति निरन्तर कम होती गई। उनके ग्रामोद्योग नष्ट हो गये।

२. कुटीर-उद्योग नष्ट होने के कारण अधिकाधिक लोग कृषि पर अवलम्बित होते गये। १७७१ ई० में एक किसान की खेती का औसत रकबा ४० एकड़ था, १९१५ में सात एकड़ रह गया और १९३१ में उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल व आसाम में क्रमशः ६.४, २.४ और २ एकड़ रह गया है। अधिकांश जोतें अलाभकर हो गई। उनकी पैदावार घट गई, जो परिवार के रहने-सहने तक के लिए काफी न हुई। किसानों को बीज खरीदने और लगान अदा करने तक के लिए महाजन की शरण में जाना पड़ा। लगान अदा न होने पर छोटे-छोटे किसानों की भूमि नीलाम पर चढ़ जाना साधारण सी बात हो गई। उस पर ताल्लुकेदारी और जमींदारी प्रथा के कारण किसानों की आर्थिक दशा इतनी कमजोर हो गई कि जहाँ १८८० ई० में हमारे पास लगभग

५० लाख टन गल्ला अपनी आवश्यकता से अधिक था, वहाँ आज १०० लाख टन गल्ले की कमी है।

जमींदारों को अपने लगान से मतलब था। वे किसानों का खूब शोषण करते थे। समय-समय पर किसान पर लगान का बोझा बढ़ता गया, यद्यपि जमींदारों की मालगुजारी में कोई वृद्धि नहीं होती थी।

सन् १९४८-४९ में ६९४ लाख रुपये सरकारी मालगुजारी वसूल करने के लिए जमींदार १,१२९ लाख रुपये के हकदार हो गए। इससे अधिक मूर्खतापूर्ण और भी कोई सौदा हो सकता है ?

यह तो कानूनी वसूली थी, जो जमींदार ले सकता था, किन्तु बेगार, नज़राना, हाथी, मोटर, खरीद, शादी-कर आदि न जाने पचासों टैक्स किसान को और देने पड़ते थे। उनकी संख्या भी करोड़ों रुपये तक जा पहुँचेगी, परिणामस्वरूप कसान गरीब होता गया।

जमींदारी व्यवस्था से खेतिहर मजदूरों की संख्या बढ़ती गई, क्योंकि जोत छोटे हो गए और आमदनी का बड़ा भाग जमींदार के हाथों में जाने लगा। लाचार होकर किसान भूमि बेचने पर विवश हुए और खेतों पर ही मजदूरी करने लगे।

किसानों की बुरी हालत का समस्त देश के आर्थिक जीवन-स्तर पर प्रभाव पड़ा। खेती में उनका अपनापन ही नहीं रहा। स्वभावतः खेती में वे पूरे दत्त-चित्त नहीं हो सके। पैदावार कम होती गई या बढ़नी बन्द हो गई।

जमींदारी-उन्मूलन

इस शोचनीय स्थिति को दूर करने लिए जमींदारी-उन्मूलन एकमात्र उपाय बताया गया। जमीदारों द्वारा होने वाले शोषण के विरुद्ध किसान की रक्षा का आश्वासन काँग्रेस दे चुकी थी। इसलिए स्वाभाविक था कि वह शासन-सूत्र हाथ में लेते ही जमींदारी-उन्मूलन का निश्चय करती। काँग्रेस ने इस विषय पर विचार करने के लिए अनेक कमेटियाँ नियत कीं और उनकी रिपोर्ट आने के बाद प्रायः सभी राज्यों में बिल पेश हुए। जमींदारों व उनके वकीलों की ओर से जितनी बाधाएँ खडी की जा सकती थीं की गईं। हाई कोर्ट तथा सुप्रीम कोर्ट तक प्रायः सभी राज्यों में मामले गए। पार्लियामेंट को

एक कानूनी बाधा दूर करने के लिए संविधान की ३१वीं धारा में कुछ संशोधन करना पड़ा। आज यह स्थिति है कि अनेक राज्यों में जमीदारी समाप्त हो चुकी है, कुछ राज्यों में कानून बन चुके हैं और शेष राज्यों में बन रहे हैं। इस सब का परिणाम होगा जमीन पर उसे जोतने वाले का प्रभुत्व। यही आज न्याय है।

तीन मुख्य प्रश्न

जमींदारी-उन्मूलन के साथ तीन मुख्य प्रश्न भी उपस्थित हुए है—

१. जमींदारों को मुआवजा दिया जाए या नहीं;

२. नई भूमि-पद्धति क्या हो; और

३. भूमि का पुनर्वितरण किस तरह हो?

मुआवज़े के प्रश्न पर भारी मतभेद रहा। बहुत से सार्वजनिक कार्यकर्त्ता मुआवज़ा देने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु संविधान के अनुसार जायदाद बिना मुआवज़े के नहीं ली जा सकती। ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने भी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करते समय पूरा मुआवज़ा दिया था। फलतः कश्मीर के सिवाय सभी राज्यों में मुआवज़ा देने का निश्चय किया गया। मुआवज़ा देने की नीति और उसकी दरों पर भी काफी विचार किया गया और अन्त में ज़मींदारी की वार्षिक आय का दस गुना प्रतिकर देने का निश्चय किया गया। बहुत आमदनी पर प्रतिकर में भी कमी की गई। यह मुआवफ़ा बॉण्डों में दिया जा रहा है।

नई पद्धति के सम्बन्ध में भी यह निश्चय किया गया कि भूमि पर राज्य का नहीं, किसान का अधिकार स्वीकार किया जाए। न जमींदार रखे गए और न राज्य का ही उस पर अधिकार माना गया, जैसा कि चीन व रूस में किया गया। इस दृष्टि से भारत अन्य साम्यवादी देशों से भी आगे है।

भूमि-वितरण का प्रश्न भी कम पेचीदा नहीं है, जमीन जितनी है, उतनी ही है। उसे रबड़ की भाँति खींचकर बढ़ाया नहीं जा सकता। इसलिए [illegible] ओर अधिकतम सीमा नियत की गई, दूसरी ओर ६-७ एकड़ न्यूनतम [illegible] माना गया है। भिन्न-भिन्न राज्यों में थोड़े-बहुत [illegible] के साथ [illegible]-उन्मूलन की नीति स्वीकार की गई है।

: १४ :

भूदान यज्ञ

१८ अप्रैल, १९५१ का दिन था, जब द्वितीय महायुद्ध के प्रथम सत्याग्रही आचार्य विनोबा भावे ने अपने भूदान यज्ञ का आरम्भ किया था। इसके उपरान्त उन्होंने हैदराबाद राज्य, मध्य प्रदेश, मध्यभारत, विंध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार के ग्रामों की यात्रा की और इस भ्रमण मे करोड़ों मूक भारतीयों की ओर से भूमिरहित खेतिहर मजदूर और किसानों के लिए भूमि प्राप्त की। पिछले कुछ वर्षों तक लगातार प्रयास से उन्होंने अहिंसक उपायों द्वारा भारत की भूमि-सम्बन्धी आर्थिक समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। ५० लाख एकड़ भूमि के साथ-साथ करीब ४,००० ग्राम वे दान में प्राप्त कर चुके हैं। आर्थिक क्षेत्र में उनकी इस नूतन सफलता से देश के सभी वर्ग आकर्षित हुए। इतना ही नहीं, भारत के समुद्र-पार के अर्थविदों ने भी आर्थिक समस्या के इस नये प्रकार के हल पर बड़ी गम्भीरतापूर्वक अपने अनुकूल विचार प्रकट किए हैं।

तैलंगाना में प्रारम्भ

आचार्य श्री विनोबा ने हैदराबाद राज्य के तेलगू भाषा-भाषी पूर्वी क्षेत्र तैलंगाना में सर्वप्रथम अपना कार्य प्रारम्भ किया था। यही स्थान है, जो वर्षों से साम्यवादियों की हलचल का केन्द्र बना हुआ था और जहाँ के किसानों पर उनका पूर्ण प्रभाव कायम था। इस कम्युनिस्ट-आतंक के प्रदेश में विनोबा ने साहसपूर्वक किसानों के मध्य में कार्य किया। उन्होंने हिंसा के पथ से किसानों को विलग करके उनकी भूमि-समस्या हल की। उससे साम्यवादी भी प्रभावित हुए बिना न रहे। विनोबा के अहिंसक प्रयत्नों ने तैलंगाना के किसानों की विचारधाराएँ बदल दीं। इससे साम्यवादियों को हिंसा का मार्ग छोड़ देना पड़ा। विनोबा ने घोषित किया कि तैलंगाना के किसानों की समस्या भूमि की है और इसलिए यहाँ के भूमिविहीन किसानों को भूमि मिलनी चाहिए। उन्होंने इस प्रकार के नेतृत्व से किसानों को जीत लिया। भारत सरकार भी निश्चिन्त

हो गई। सरकार के शस्त्रबल से तैलंगाना में जो साम्यवादी आन्दोलन नहीं दबाया जा सका, श्री विनोबा ने अपनी अहिंसा के द्वारा उसे मिटाने में सफलता प्राप्त की। इस दिशा में विनोबा को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि भूमिगत साम्यवादियों ने अस्त्र-शस्त्र सहित आत्म-समर्पण कर दिया।

पर यह स्मरण रहे कि विनोबा ने अपने इस कार्यक्रम में साम्यवाद का कोई विरोध नहीं किया। उन्होंने यह अवश्य कहा कि साम्यवाद और हिंसा को रोकने के लिए किसानों की भूमि-सम्बन्धी माँग पूरी होनी चाहिए। वे न तो साम्यवाद के शत्रु हैं और न उन्हें उसका भय रहा है।

अपने वारंगल के भाषण में उन्होंने घोषित किया—

"बिना पिस्तौल के धनियों को मिटाया जा सकता है, क्योंकि अब प्रत्येक बालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ है। भविष्य में सरकार प्रत्येक व्यक्ति की होगी।"

व्यावहारिक गांधीवाद की व्याख्या

जिस तरह मार्क्स के सिद्धान्त को लेनिन ने व्यवहार में परिणत किया था उसी तरह गाँधीजी के विचार को विनोबा ने मूर्त्त रूप दिया।

महात्मा गाँधी का यह विचार था कि धनी वर्ग अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी है और वह उसके हृदय परिवर्त्तन द्वारा सहज में प्राप्त की जा सकती है। विनोबा ने गाँधीजी के इस महान् सिद्धान्त का सक्रिय प्रयोग कर दिखाया। यह यश उन्हें ही प्राप्त हुआ और आज जब विश्व में साम्यवाद की छाया तले सरकारी आदेश तथा जोर-जुल्म से सम्पत्ति की जब्ती के कार्य हो रहे है, विनोबा का मार्ग सम्पत्ति के वितरण और वर्ग भेदभाव मिटाने का एक महान् भारतीय प्रयोग है।

परिवर्त्तन का प्रतीक

हमें भूमि-दान यज्ञ को इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उसने आर्थिक क्षेत्र में किस ढंग की क्रान्ति की है। किस अवस्था तक उसने कितने लोगों का हृदय परिवर्त्तन किया है। फिर भूमि-सुधार के कार्य-क्रम से ही समाज का ढाँचा नहीं बदलता है। वह इस परिवर्तन का केवल एक प्रतीक है। विनोबा ने स्वय प्रकट किया—

"मैं भूमि-सम्बन्धी बड़ी समस्याओं के हल करने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ। पर निःसन्देह मैं उसे शान्तिपूर्वक हल करना चाहता हूँ। कोई व्यक्ति भी संसार की सभी समस्याओं को हल नहीं कर सकता है। यहाँ राम हुए हैं और यहाँ ही कृष्ण हुए हैं। संसार के लिए वे जो कुछ कर सकते थे, उसे उन्होंने किया। किन्तु समस्याओं का फिर भी अन्त नहीं है। हर एक व्यक्ति केवल अपना काम कर सकता है।"

विनोबा ने आर्थिक क्षेत्र में एक नई प्रेरणा उत्पन्न की है। इस यज्ञ-योजना के पूर्ण सक्रिय होने पर भूमि की समस्या हल हुए विना न रहेगी। देश की सारी भूमि का पुनः वितरण होगा और उसके आधार पर ही राज्यों को नये भूमि कानून बनाने पड़े। उत्तर प्रदेश में भूमि-दान यज्ञ में जितनी भूमि प्राप्त हुई है, उससे प्रादेशिक सरकार को तत्सम्बन्धी नया कानून बनाना पड़ा।

महान् लक्ष्य

पहले भिन्न-भिन्न राज्यों में भूमि-दान यज्ञ में ५ लाख ग्रामों में से २५ लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का प्रथम संकल्प था, फिर यह संकल्प १९५७ के अन्त तक ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करने का हो गया। यद्यपि इस महान् उद्देश्य की प्राप्ति में बहुत प्रयत्न की अपेक्षा प्रकट होती है, तथापि आचार्य का यह विश्वास था कि यह दृढ़ संकल्प अवश्य पूर्ण होगा। अनेक राज्यों के सार्वजनिक नेता इस संकल्प की पूर्त्ति में लग गये। प्रसिद्ध समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण आज इस यज्ञ के लिए अपने जीवन का दान कर चुके हैं। आचार्य विनोबा उत्तर प्रदेश, विहार और आंध्र होकर क्रेरल में काम कर रहे हैं, जहाँ कम्यूनिस्ट मन्त्रिमण्डल है। उनकी पद-यात्रा ग्राम से ग्राम तक होती है। इस यात्रा में हजारों, लाखों किसान महान् सन्त के न केवल पुण्य दर्शन करते है, किन्तु उनकी पुण्य भावनाओं से प्रेरित होकर इस यज्ञ में आहुति स्वरूप ग्राम के ग्राम अर्पित कर देते है। अब आचार्य विनोबा केवल भूमि लेकर सन्तुष्ट नहीं होते, वे सम्पूर्ण ग्राम के ग्राम दान में ले रहे हैं और ऐसे हजारों ग्राम उन्हें मिल भी चुके है। सितम्बर १९५७ में ग्रामदान के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन किया गया था, जिसमें विभिन्न राजनैतिक दलों के नेता सम्मिलित हुए थे। ग्रामदान आन्दोलन से सभी दलों ने सहानुभूति प्रकट की है। दान में

दिये गये ग्रामों में निजी सम्पत्ति के नाम पर किसी के पास कृषि-भूमि नहीं रहेगी। यह भूमि समस्त ग्राम की समझी जायगी। इस आन्दोलन का एक लाभ यह भी हुआ कि सहकारिता आन्दोलन और समाजवादी समाज की स्थापना के लिए मार्ग अत्यन्त सुगम हो गया है। भूदान यज्ञ की अग्नि समस्त देश में प्रज्वलित होने लगी है। इस महान् यज्ञ की सफलता विश्व को नया शान्ति और अहिंसा का प्रेम देगी। गांधी जी ने राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा बुद्ध के प्रेम व अहिंसा का प्रयोग किया था। आचार्य विनोबा आर्थिक क्षेत्र में यह महान् परीक्षा कर रहे हैं। इसकी सफलता मानव की आत्मा के पशुत्व को निकालकर मानवता व गौरव प्रदान करेगी।

सर्वोदयवाद का अंग

भूदान यज्ञ वस्तुतः उस सर्वोदयवाद का एक अंग है, जिसे गांधी जी ने प्रारम्भ किया था। राष्ट्रपति श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद और श्री जयप्रकाश नारायण के दो उद्धरण देकर यह लेख हम समाप्त करना चाहते हैं। राष्ट्रपति लिखते हैं—

"हम जो भूदान आन्दोलन चला रहे हैं वह एक प्रतीक मात्र है, जिस तरह गांधी जी का चरखा एक प्रतीक मात्र था। देने में ही लेने का आनन्द मिले—यह भूदान की महिमा है। मैं तो समझता हूँ कि इस वक्त हम संध्याकाल में हैं। दीपक जलाकर पुजारियों का तप हो रहा है।"

श्री जयप्रकाश नारायण, जो देश के महान् विचारक है, लिखते है—

"मुख्य बात यह है कि हमको देश में एक विचार-क्रान्ति लानी है। यह काम कानून से होने वाला नहीं। हम को एक खूँटी मिली सम्पत्ति-दान और भूदान के रूप में। जो सोलह आने स्वामित्व विसर्जन नहीं कर सकते तो एक अश तो दे सकते हैं। इस प्रकार क्रान्ति का विचार देश में फैला है।

"हिंसक और अहिंसक क्रान्ति में गहरा अन्तर है। रूस का उदाहरण देखिए। रूस में क्रान्ति के बाद जब जमीदार भाग गये तो किसानों ने जमीन पर कब्जा कर लिया, पर समाज के मानवीय मूल्य नही बदले। 'तुम्हारी सम्पत्ति' और 'हमारी सम्पत्ति' यह भावना बनी रही। अतः जब रूस सरकार ने कलैक्टिव फार्म, यानी खेती का समूहीकरण शुरू किया तो, उसे बड़ी भारी

कीमत अदा करनी पड़ी थी। दो करोड़ के लगभग आदमी अपने-अपने स्थानों से उखाड़कर साइबेरिया भेज दिये गए। श्रेणी-संघर्ष को तीव्र करने से सर्वोदय पैदा नहीं हो सकता। साम्यवाद को मानने वाला रूस आज कहाँ से कहाँ पहुँच गया। लेनिन ने कहा था कि साम्यवादी राज्यों में मजदूरों और अफसरों के वेतनों में फर्क नहीं होगा पर आज रूस में समाज के दो व्यक्तियों के वेतनों में ८० गुना अन्तर पाया जाता है। लेनिन ने कहा था कि साम्यवादी राज्य में राज्य-सत्ता धीरे-धीरे समाप्त हो जायगी। पर रूस में तो आज वस्तुतः राज्य-सत्ता दैत्याकार हो गई है। सारांश यह कि राज्य-शक्ति भले बढ़े, पर नैतिक और जनशक्ति न बढ़े तो उससे कुछ नहीं होना जाना है। भूदान जनता के हृदय को अहिंसक रीति से बदल लेने का एक उत्कृष्ट उपाय है।"

: १५ :

नये दशमिक सिक्के व नाप-तोल

अज्ञात काल से भारत में रुपये, आने, पाई आदि सिक्कों ; तोला, माशा, छटाँक, सेर और मनों आदि का प्रयोग होता रहा है। इसलिए जब यह निर्णय किया गया कि पहली अप्रैल १९५७ से इस क्रम को बदल दिया जाय, इन सिक्कों तथा नाप-तोल के परिमाण बदल दिए जायें, नये किस्म के सिक्के, नाप व तोल जारी किये जायँ, तो बहुत से लोग ऐसा करने वालों की बुद्धिमत्ता पर भी स्वभावतः संदेह करने लगे। उन्होंने इसे एकदम अनावश्यक तथा व्यर्थ बताया। देश में सोलह आने का रुपया और सोलह छटाँक का सेर, चवन्नी तथा पाव की गणितीय समानता के कारण हिसाब के ऐसे गुर भी कितनी सदियों से चले आ रहे हैं, जिन्हें याद रखकर दुकानदार अपना हिसाब-किताब मिनटों में कर लेता है। इसलिए वे इस सामान्य नाप-तोल या सिक्का-प्रणाली बदलने का प्रस्ताव सुनकर आश्चर्यचकित व विस्मित से रह गये।

१०० तरह के मन

किन्तु यह प्रस्ताव इतना अविचारणीय नहीं है। जब हमें यह मालूम हो कि देश में यद्यपि पैसे, आने, रुपये आदि तो सब एक से हैं, किन्तु बाकी नाप-तोल में कोई समानता नहीं है, तब इस प्रस्ताव के औचित्य पर विचार करना कुछ आवश्यक जान पड़ता है। हमारे देश में करीब १०० तरह के मन हैं। यदि कहीं २,८०० तोले का मन है, तो कहीं ८,३२० तोले का। स्टैण्डर्ड मन ३,२०० तोले का माना जाता है। यद्यपि हम सब जानते हैं कि ८० तोले का एक सेर होता है, तथापि इनमें से बहुत सों को भारत के विभिन्न स्थानों में जाने पर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि कहीं सेर ४० तोले का है तो कहीं सौ तोले का। १,१०० गाँवों के नमूने की पड़ताल करने से पता लगा था कि उनमें १४३ प्रकार के बाटों व नापों का प्रयोग हो रहा था। साधारणतः एक व्यक्ति अपने आस-पास प्रचलित नाप-तोल को जानता है, इसलिए दूसरी जगह जाकर दुकान से सौदा लेने पर वह परेशान हो जाता है और भोले ग्राहक को दुकानदार धोखा देने से बाज नहीं आता। और फिर यह भी कहाँ उचित है कि देश के एक स्थान पर एक सेर ६० तोले का हो, दूसरे स्थान पर ४० या १०० तोले का। इसलिए बहुत समय से यह सोचा जा रहा था कि समस्त देश में नाप-तोल की एक परिपाटी चलाई जाय। १८७१ ई० में भारत सरकार ने मीटर प्रणाली के अनुसार एक-से बाट व सिक्के चलाने के लिए कानून बनाया था, पर उस पर अमल नहीं हो सका। इसलिए हिसाब-किताब की जटिलता बनी रही। एक गज ३६ इंच का होता है पर कहीं गिरहों में गज माना जाता है। एक रुपये के ६४ पैसे होते हैं, पर गज के ३६ इंच ही। मन के ४० सेर होते हैं। इस प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार किया गया कि क्यों न नाप-तोल व सिक्का सभी में एक-सी गणित का प्रयोग किया जाए।

१०५ देशों में

पाठकों को यह जानकर सम्भवतः आश्चर्य होगा कि इंगलैंड आदि कुछ देशों में भले ही पैसा, शिलिंग, पौण्ड या इंच, फुट, गज चलते हैं, संसार के प्रायः सभी उन्नत देशों ने दशमिक प्रणाली को अपना लिया है। इस प्रणाली का अर्थ है छोटे-बड़े सिक्के, नाप व तोल के परिमाण १० के गुणितों या दसवें,

सौवें और हजारवें हिस्से के बराबर रखे जाने चाहिएँ। यदि छोटा सिक्का एक के बराबर है तो बड़े १०, १०० या १,००० के बराबर हों और उससे छोटे सिक्के ·१, ·०१, ·००१ के क्रम से। यही बात नाप-तोल की इकाइयों में भी होनी चाहिए। दस के पहाड़े को याद रखना सबसे सरल होता है। इसीलिए जिस-जिस देश में भी यह पद्धति जारी की गई, लोकप्रय हो गई। संसार के १४० ऐसे देशों में से १०५ में दशमिक प्रणाली चालू है। सबसे पहले अमरीका में इस प्रणाली के सिक्के का चलन हुआ और डालर को इकाई माना गया। इसके बाद रूस, जर्मनी और स्केण्डीनेविया में क्रमशः इस पद्धति के सिक्के चलते गए। बाद में तो आस्ट्रिया, हंगरी व रूस में इसका अनुसरण किया गया। जापान तक ने १८७८ में इसी पद्धति को अपना लिया।

भारतीय पद्धति

यह दशमिक पद्धति भारत के लिए नई नहीं है। सच्चाई तो यह है कि भारत ने इस गणना पद्धति का आविष्कार किया। वेदों में इस गणना के मंत्र आते हैं। १ से १० तक, १०० तक या १,००० आदि तक की गिनती भारतवर्ष से ही अन्य देशों ने सीखी है। संख्याओं को दहाई में लिखने का चमत्कारी आविष्कार संसार को भारत की बहुत बड़ी देन है। आज समस्त अंकगणित का आधार दहाई क्रम की गणना है। पर यह सरलतम और वैज्ञानिक पद्धति हमारे नाप-तोल व सिक्कों में जाने क्यों नहीं आ सकी? यह इतनी सरल है कि एक से शुरू होकर बाईं ओर का हर अंक दायें वाले अंक से दस गुणा होता है। ८८८ का मतलब है ८००+८०+८। साइमन स्टीवंस ने इसी प्रणाली को दाईं ओर लिखकर उसी प्रकार १० गुणा घटाए जाने का आविष्कार किया। इसको दशमिक (डैसिमल) प्रणाली कहते हैं। इसमें सही बटों की आवश्यकता नहीं होती।

आधुनिक भारत में

पिछले कुछ वर्षों में बहुत से भारतीयों और व्यापारिक संस्थाओं ने दशमिक प्रणाली के सिक्के चलाने के महत्त्व पर जोर दिया। १९४६ में भारतीय विज्ञान काँग्रेस ने भी इस ओर ध्यान दिया। इस काँग्रेस में सिक्कों और नाप-

तोल की दशमिक प्रणाली का समर्थन किया गया। तत्कालीन केन्द्रीय विधान सभा में सिक्कों की दशमिक प्रणाली शुरू करने के लिए १९४६ में भी विधेयक पेश किया गया था, पर बाद के राजनैतिक परिवर्तनों के कारण आगे नहीं बढ़ सका। १९४९ में भारतीय प्रतिमानशाला ने भी सिक्कों, माप और तोल, तीनों को दशमिक प्रणाली अपनाने की जोरदार सिफारिश की थी।

इसके बाद देश में दशमिक सिक्के चलाने के पक्ष का समर्थन बराबर बढ़ता गया। १९५५ में भारत सरकार ने संसद् में एक विधेयक पेश किया और सितम्बर १९५५ में यह अधिनियम बन गया। इसका नाम है १९५५ का भारतीय सिक्का (संशोधन) अधिनियम। इसके द्वारा सरकार को सिक्कों की दशमिक प्रणाली आरम्भ करने का अधिकार मिल गया और १ अप्रैल १९५७ से देश में नए सिक्के चलने लग गए। इसमें भी रुपये की कीमत पहले जैसी ही रहेगी, पर १ रुपये में १९२ पाइयों की जगह १०० नये पैसे होंगे। पुराने अधन्नी, इकन्नी, चवन्नी, अठन्नी की जगह २, ५, १०, २५ और ५० नये पैसों के नये सिक्के चल रहे हैं।

नाप-तोल की नई पद्धति से

यह दशमिक प्रणाली केवल सिक्कों में ही नहीं अपनायी जा रही है। यह निश्चय किया गया है कि १ जनवरी सन् १९५८ से नाप-तोल के लिए भी यह प्रणाली लागू कर दी जाय। फिलहाल यह विचार किया गया है कि गज, फुट, इंच की जगह मीटर प्रणाली अपनायी जाय। अंग्रेजी प्रणाली में इंचों को १२ से भाग देकर फुट और फुटों को तीन से भाग देकर गज बनाने पड़ते हैं, पर मीटर प्रणाली में दशमलव को एक स्थान दाईं ओर बढ़ाते जाने से भी काम चल जायगा। घन और वर्ग इंच, फुट या गज बनाने में तो और भी मुश्किल पड़ती है। नाप-तोल में यह विचार है कि सभी यूरोपियन नाम स्वीकार किए जायें। इन अन्तर्राष्ट्रीय नामों में किसी को मतभेद हो सकता है, पर सब स्थानों पर एक-सी दशमिक प्रणाली अपनाने से हिसाब-किताब सरल हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। नाप-तोल व सिक्कों में सभी

जगह इकाई, दहाई, सैकड़ा, या दसवाँ, सौवाँ और हजारवाँ भाग चलेंगे। आज तो कुछ वर्षों तक लोगों को नये सिक्के व नये नाप अपनाने में कुछ समय लगेगा, कुछ कठिनाई होगी, परन्तु कुछ समय तक प्रचार व शिक्षा से सब लोग नये सिक्कों से तथा नये नाप-तोल से परिचित हो जायेंगे। दरअसल सब जगह एक-सी दशमिक पद्धति से काम बहुत आसान हो जायगा।

लागत या मूल्य का हिसाब लगाना जो आजकल एक अच्छा-खासा सिर-दर्द समझा जाता है, नाप-तोल की मीटर प्रणाली और सिक्कों की दशमिक प्रणाली से कितना सरल हो जायगा इसका एक और उदाहरण लीजिए—

यदि १ मीट्रिक टन (मान लीजिए चाँदी) का दाम है

	८०,०००·०० रु०
तो १ किलोग्राम का	८०·०० रु
और १ ग्राम का	·०८ रु०

इसके मुकाबले वर्तमान अंग्रेजी प्रणाली का हिसाब देखिए—

यदि १ लीप टन का मूल्य	८०,०००·०० रु०
तो १ पौंड का	३५ रु० ११ आ० ५ पा०
और १ औंस का	२ रु० ३ आ० ८ पा०

विश्व के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने भी इस प्रणाली की बहुत प्रशंसा की है और इसको अपनाने का प्रबल समर्थन किया है। हमें आशा करनी चाहिए कि भारतीय भी शीघ्र ही इस प्रणाली के अभ्यस्त हो जाएँगे।

: १६ :

सामुदायिक योजना

"इस समय शक्ति का केन्द्र नयी दिल्ली है, कलकत्ता है, बम्बई है या बड़े शहरों में है। मैं इसे भारत के सात लाख गाँवों में बाँट दूँगा, तब इन सात लाख इकाइयों में स्वतः सहयोग होगा। और उस सहयोग से वास्तविक स्वतन्त्रता पैदा होगी, एक नई व्यवस्था आयगी, जो सोवियत रूस की नई व्यवस्था से कहीं ऊँचे दर्जे की होगी।"

—महात्मा गांधी

१९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की ८५·५ प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है और विदेशी शासन इसी की घोर उपेक्षा कर रहा था। उसके लिए ग्राम केवल शोषण के लिए कामधेनु थे। किसान अनाज व रूई बोता था। उससे भारत के गौरांग प्रभु और नागरिक जनता दोनों का पोषण भले ही हो, पर स्वयं अन्नदाता किसान भूखा रह जाता था। ग्रामीण उद्योग-धन्धे नष्ट होते जा रहे थे। ग्रामों की दशा अत्यन्त हीन हो चुकी थी।

नई योजना के उद्देश्य

लेकिन लोकतन्त्री भारत में आज ग्रामवासी ही शासक है। उसकी उपेक्षा असम्भव है। इसलिए ग्रामवासी भारत के कल्याण की ओर पहले ध्यान देना अनिवार्य था। यों भी ८५ प्रतिशत जनता को दरिद्र रखकर देश को समृद्ध नहीं किया जा सकता। बड़े-बड़े कल-कारखानों, बाँध तथा विशाल धन-राशि व्यय करने वाली बृहत्काय योजनाओं से किसानों को तत्काल लाभ नहीं पहुँच सकता था। फिर भारत इंग्लैंड या अमरीका नहीं है। भारत की समृद्धि ग्रामों की समृद्धि का दूसरा पर्याय है। २ अक्टूबर, १९५२ को गांधीजी की ८४वी जयन्ती के शुभ दिन सामुदायिक योजना का प्रारम्भ ग्रामों के पुनर्निर्माण को सामने रखकर ही किया गया।

इस योजना का उद्देश्य भारत सरकार द्वारा प्रकाशित योजना की रूपरेखा में इन शब्दों में बताया गया है—

"सामुदायिक योजना का उद्देश्य होगा योजना के अन्तर्गत पड़ने वाले इलाकों के पुरुषों, स्त्रियों व बच्चों के जीवित रहने के अधिकार के स्थापन में एक मार्ग-प्रदर्शक व्यवस्था के रूप में सेवाएँ प्रदान करना। किन्तु कार्य-क्रम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस उद्देश्य की पूर्त्ति के मुख्य साधन खाद्य की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जायगा।"

इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जिन बातों की ओर सर्वप्रथम ध्यान देने का निश्चय हुआ, वे ये हैं—

१. खेती और उनसे सम्बद्ध क्षेत्र-भूमि का खेती के लिए सुधार, सिंचाई की व्यवस्था, अच्छे बीज, खाद, औजार, हाट-व्यवस्था, सहकारी समितियाँ व पशुओं का विकास आदि।

२. संचार साधन—सड़कों व यातायात साधनों की सुन्दर व्यवस्था।

३. शिक्षा—अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, सामाजिक शिक्षा व पुस्तकालय।

४. स्वास्थ्य—सफाई, चिकित्सा तथा प्रसव की उत्तम व्यवस्था।

५. प्रशिक्षण—सब कार्यों के लिए कार्यकर्त्ताओं को ट्रेनिंग देना।

६. नियोजन—ग्रामोद्योगों व शिल्पों को प्रोत्साहन, जिससे लोगों को काम मिले।

७. मकानों की व्यवस्था—देहातों व शहरों में कम खर्च में अच्छे मकान बनाना।

८. सामाजिक कल्याण—जनसमुदाय में सांस्कृतिक उन्नति, सहकारी स्वावलम्बन की भावना का जन्म और मेले, खेल-कूद आदि मनोरंजन।

एक लाख से अधिक गाँवों में

प्रारम्भ में सामुदायिक योजना को प्रारम्भ करने के लिए महात्मा गांधी के शुभ जन्मदिन २ अक्टूबर सन् १९५२ को ७५ केन्द्रों में यह योजना प्रारम्भ कर दी गई। उन क्षेत्रों में १८,४६४ गाँव सम्मिलित थे। इनका क्षेत्रफल २,६९८ वर्गमील तथा आबादी करीब डेढ़ करोड़ थी। इसके बाद प्रतिवर्ष २ अक्टूबर को अधिकाधिक केन्द्र खुलते गये। इन योजनाओं की पूर्त्ति में अमरीका का भी सहयोग मिला। अब सामुदायिक योजना का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक

हो गया है। प्रारम्भ में न प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता थे और न किसी को कार्य करने का अनुभव था। जनता में भी उस कार्य के सम्बन्ध में न कोई अनुभव था और न कोई जानकारी। परन्तु अब यह स्थिति नहीं है। एक लाख से अधिक गाँवों में इस समय सामुदायिक योजना चल रही है। लोगों को इसके द्वारा अपना और अपने ग्राम का सुधार करने की प्रेरणा मिल रही है और इसका परिणाम यह हो रहा है कि जनता अपने आप सहयोग दे रही है।

अनेक राज्यों में इस सामुदायिक विकास के लिए विकास मंडल, ग्राम मंडल समिति आदि के नाम से अनेक संस्थाएँ बन गई हैं। ज्यों-ज्यों ग्रामों की जनता इन योजनाओं का लाभ देखती जा रही है उसका सहयोग भी बढ़ता जा रहा है।

योजना का रूप

सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार कार्यक्रम की इकाई विकास खण्ड हैं। एक विकास खण्ड में औसत रूप से १०० गाँव होते हैं जिनकी आबादी ६६,००० होती है। विकास खण्ड का औसत विस्तार डेढ़ सौ से १७० वर्ग मील तक होता है। १९५५-५६ तक यह लक्ष्य रखा गया था कि देश की एक-चौथाई देहाती आबादी को उसका लाभ मिले। ३१ अगस्त १९५७ को देश भर में कुल १५ करोड़ आबादी वाले २,७२,७५६ गाँवों में २,१२० राष्ट्रीय विस्तार सेवा और सामुदायिक विकास खण्ड चालू थे और यह अनुमान किया जाता है कि १९६१ तक सारे देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड खुल जायेंगे। देश के कुल ४० प्रतिशत हिस्से में सामुदायिक विकास खण्ड काम करने लगेंगे।

अनेक कमियाँ

यह ठीक है कि सामुदायिक योजना ने गाँवों में एक नया वातावरण पैदा कर दिया किन्तु फिर भी अभी अनेक कमियाँ विद्यमान हैं, जिनकी ओर शासकों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का ध्यान गया है। इनमें से एक बडी कमी यह है कि यह योजनाएँ सरकारी योजनाएँ बनकर रह गई हैं। जनता को स्वयं प्रेरणा कम मिली है। दूसरा आक्षेप यह है कि यह

योजनाएँ बहुत खर्चीली हैं। तीसरा आक्षेप यह कि इन योजनाओं की प्रेरणा अमरीका से ली गई है। इसलिए भारतीय जीवन परम्परा का ध्यान कम रखा गया है। यहाँ तक कि इनका नाम भी ग्राम-सुधार अथवा ग्रामोत्थान न होकर कम्यूनिटी प्रोजेक्ट रखा गया है। इन योजनाओं के अधिकारियों में भी निःस्वार्थ सेवा-भाव और ग्रामीण जनता की हितैषिता कम है। वे देहातियों में घुल-मिल नहीं सकते। चौपालों में देहातियों के साथ मिलकर रहने में उन्हें अपने कपड़े मैले होने या पतलून की क्रीज़ खराब होने का डर रहता है। इसमें संदेह नहीं कि उक्त आक्षेपों में काफी सचाई है। परन्तु नई योजना में इन कमियों को दूर करने की कोशिश की जा रही है। इस कार्यक्रम को "सरकारी काम में जन सहयोग" की बजाय "जनता के काम में सरकार का सहयोग" का रूप दिया जा रहा है। गाँव में अपने संगठन अर्थात् पंचायतें स्थापित करके उन्हीं को योजना चलाने का कार्य सौंप दिया जायगा। पहली योजना की अवधि में ग्राम पंचायतों की संख्या १ लाख १७ हजार हो गई थी। दूसरी योजना के अन्त तक पंचायतों की संख्या करीब ढाई लाख हो जायगी। यह पंचायतें अपने-अपने क्षेत्र में योजनाओं को चलायेंगी। छोटे-छोटे ग्रामोद्योग सहकारी समितियों के द्वारा चलाए जायेंगे। खेती के नये तरीके, बढ़िया बीज और हल आदि का प्रबन्ध भी यही पंचायतें करेंगी।

सब से बड़ा लाभ

इन सामुदायिक योजनाओं के पूर्ण करने का जहाँ यह लाभ होगा कि हमें अन्न, वस्त्र, मकान, शिक्षा आदि मिलने लगेंगे, वहाँ उससे भी बड़ा लाभ यह होगा कि हम राष्ट्र में एक नई जागरूकता, एक नई चेतना और एक नई स्फूर्ति उत्पन्न कर सकेंगे जो हमारे राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा कर देगी। पं० नेहरू ने ठीक ही कहा है कि यह योजनाएँ इस कारण और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका उद्देश्य जनसमुदाय तथा व्यक्ति, दोनों का निर्माण और न केवल व्यक्ति या उसके ग्राम-केन्द्र का ही, बल्कि व्यापक अर्थों में भारत का भी निर्माण करना है।

: १७ :

सहकारी पद्धति

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक हम सहकारी खेती का ढंग नहीं अपनाएँगे, तब तक हमें खेती का पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सकता । क्या यह बात विवेकपूर्ण नहीं प्रतीत होती कि गाँव की जमीन को, जिस किसी भी तरह सौ टुकड़ों में बाँटकर खेती करने की अपेक्षा अधिक अच्छा यह है कि गाँव के सौ परिवार मिलकर सामूहिक रूप से खेती करें और उससे प्राप्त होने वाली आय को आपस में बाँट लें ?"

—महात्मा गांधी

आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र

यदि राजनीति में लोकतन्त्र का रूप पार्लमेण्टरी शासन-पद्धति है तो आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता लोकतन्त्र का रूप है । सहकारी पद्धति में सहकारी समिति के प्रत्येक सदस्य को मतदान का समान अधिकार होता है । इस संस्था में कोई व्यक्ति, कितना भी स्वार्थ रहने पर एक से अधिक मत नहीं दे सकता । समिति से जो भी लाभ उठाना चाहे, उसका सदस्य बन सकता है । इसमें न तो पूँजी-वाद की भाँति पूँजी पर दो-चार आदमियों का निरंकुश प्रभुत्व होता है और न समाजवाद की भाँति समस्त सत्ता कुछ शासकों के हाथों में केन्द्रित रखकर सामान्य-जन का व्यक्तित्व कुचल दिया जाता है । शोषणयुक्त पूँजीवाद और निरंकुश सत्ताधारी समाजवाद का समन्वय सहकारी पद्धति में होता है । दोनों के गुणों का समावेश—अपनी चीज से प्रेम व स्वार्थ-साधन—भी होता है और विषमता की खाई भी गहरी नहीं होने पाती । सहकारी समिति स्वेच्छा-पूर्वक स्थापित की हुई समान ध्येय की पूर्त्ति के लिए सार्वजनिक आर्थिक हित के लिए कुछ व्यक्तियों की वह संस्था होती है, जिसमे भौतिक विकास की अपेक्षा नैतिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है । भारत में सहयोग से

काम करने की प्रथा बहुत पुरानी है। पंचायतें सहकारी पद्धति के सहयोग के सिद्धान्त पर ही चलती थीं। एक दूसरे को प्रत्येक प्रकार का सहयोग ही पंचायत की मूल भावना है। एक दूसरे के कुएँ खोदने में सभी ग्रामवासियों का सहयोग भारत की पुरातन प्रथा है।

सहकारी आन्दोलन का जन्म व विकास

आधुनिक सहकारी आन्दोलन की नींव भारत में १६०४ में सहकारी समिति कानून पास होने पर रखी गई। आठ वर्ष बाद एक नया कानून बनाकर पहले कानून की कमियाँ पूरी की गई और तब से सहकारी समितियाँ अधिक संख्या में बनने लगीं। १६१४ तक १५,००० समितियों की स्थापना देश में हो चुकी थी। इसके बाद भी समय-समय पर सहकारी समितियों में सुधार हुए, सहकारी बैंक भी प्रत्येक प्रान्त में कायम हुए। १६१६ में सहकारिता प्रान्तीय विषय बन गया और सभी प्रान्तों में अपनी आवश्यकता से कानून बनाए जाने लगे। १६३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद एक पृथक् कृषि साख विभाग इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए खोला गया। १६३६ में १ लाख से ऊपर सहकारी समितियाँ बन चुकी थीं, जिनकी पूँजी १०६½ करोड़ रु० तक बढ़ गई थी। युद्ध-काल में भी इनका विकास किया गया। युद्ध के बाद देश के स्वतन्त्र होने पर तो सहकारी समितियों के विकास पर विशेष बल दिया जाने लगा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी सहकारी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए जोर दिया गया।

दो प्रकार की समितियाँ

सहकारी समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—साख समितियाँ और ग़ैर साख समितियाँ। साख समितियाँ कम सूद पर सदस्यों को ऋण देती हैं और दूसरे प्रकार की समितियाँ कृषि के लिए साधन जुटाती हैं। खाद, बीज, हल, बैल आदि का क्रय-विक्रय, कुआँ खुदाई, सहकारी कृषि आदि इनका काम होता है। ये समितियाँ एक साथ गन्ना खरीद लेती हैं और फिर चीनी मिल मालिक से सौदा कर लेती हैं। इसी तरह दूसरी फसलों के लिए भी किसान सहकारी समितियाँ बना लेते हैं। ग्रामों में अब बहुधन्धी सहकारी समितियाँ लोकप्रिय हो रही हैं, जो दूध, अण्डे, मुर्गियाँ, घास, चारे आदि का भी काम करती हैं। इन

सहकारी समितियों को बैंकों से आर्थिक सहायता मिलती है। अब तो सहकारी बैंकों का प्रान्तीय सहकारी बैंकों की मार्फत स्टेट बैंक से सम्बन्ध हो चुका है। पिछले दिनों इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके गाँवों की सहकारी समितियों को रुपया दिलाने की अधिक सुविधाएँ दी गई हैं। इस बैंक का नया नाम 'स्टेट बैंक' है।

कृषि सहकारी समितियों की आवश्यकता को सरकार दिनोंदिन अधिकाधिक अनुभव कर रही है। हमारे देश में अधिकांश किसान छोटे या मध्यम दर्जे के हैं। उनकी जोत इतनी छोटी हैं कि वे प्राविधिक तथा वैज्ञानिक सुधारों से बहुत कम लाभ उठा सकते हैं। इन किसानों की दशा सुधारने का एक ही तरीका है कि सहकारी कृषि समितियाँ बनाई जायें। कुछ कृषि समितियाँ पहली पंचवर्षीय योजना में बनाई भी गई थीं, किन्तु इस दिशा में अधिक काम नहीं हो सका। चीन में ऐसी अनेक कृषि समितियाँ बनाई गई हैं। भारतीय सहकारी कृषि का प्रयोग राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों से किया जा सकता है। नई तोड़ी हुई जमीन तथा खेती की अन्य भूमि में भी सहकारी खेती का प्रयोग किया जा सकता है। भूदान आन्दोलन से प्राप्त हुई जमीन में भी प्रयोग किए जा सकते हैं।

दूसरी योजना व सहकारी समितियाँ

सहकारी आन्दोलन के महत्त्व को देखते हुए ही दूसरी पंचवर्षीय योजना में सहकार की योजनाओं के लिए ४७ करोड़ रु० रखा गया है। इस योजना में सहकारी समितियों को उधार देने के लिए रिजर्व बैंक २५ करोड़ रुपए खर्च करेगा। इसके अलावा छोटे और ग्रामोद्योगों के लिए २०० करोड़ रु० की जो राशि नियत है उसमें से काफी सहकारी समितियों के हिस्से आयेगी। कारखानों के मजदूरों और कम आय वालों के लिए मकान बनाने वाली सहकारी समितियों को भी सरकारी सहायता मिलेगी।

खेती के सब कामों यानी कर्ज देने, माल बेचने, माल तैयार करने और माल भरने के लिए मिली-जुली सहकारी समितियाँ बनाने की योजना तैयार की गई है। कर्ज देने के लिए १० हजार बड़ी-बड़ी सहकारी समितियाँ कायम की जायेंगी। दूसरी योजना में १,८०० माल बेचने वाली सहकारी समितियाँ बनाई जायेंगी।

उद्योग भी सहकारी पद्धति से

इन पंचवर्षीय योजनाओं के सिलसिले में अब यह भी अनुभव किया जा रहा है कि इनका क्षेत्र केवल कृषि सहकारी समितियों तक ही सीमित न रखकर उद्योग के क्षेत्र में भी इन्हें अधिकाधिक प्रचलित किया जाय। ग्रामोद्योग के लिए तो जहाँ लोग अधिक पूँजी लगाने वाले नहीं मिलते, सहकारी समितियाँ बहुत लाभकर होंगी। हाथकरघ, नारियल, शहद, मुर्गी-पालन, ईटें, खिलौने, चटाइयाँ आदि अनेक धन्धे सहकारी समितियों द्वारा चलाए जा सकते हैं। इन समितियों में छोटे-बड़े कारीगर मिलकर सब चीजें खरीदते या बेचते हैं। नगरों में भी सहकारी समितियों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। एक साथ जमीन लेकर सहकारी समिति के सदस्य मकान बनाते हैं। बड़े-बड़े नगर सहकारी समितियों द्वारा बनाए जाते हैं। पिछले दिनों तो सूत कातने की दो-एक मिलें भी सहकारी उद्योग के आधार पर चलाई गई हैं। सरकार ने सहकारी पद्धति पर चीनी मिल खोलने की अनुमति व सुविधाएँ दी हैं।

कार्य-कुशलता

किसी सहकारी समिति की सफलता के लिए कार्य-कुशलता अत्यन्त आवश्यक है। यदि सुचारु प्रबन्ध नहीं किया गया तो समिति के सदस्य निराश होकर अपना सहयोग देना छोड़ देंगे। यह एक आम शिकायत है कि सहकारी समितियों के काम करने के ढंग में बड़ी देर लगती है तथा बहुत विलम्ब लग जाता है। ऋण समय पर नहीं दिया जाता और पर्याप्त मात्रा में नहीं दिया जाता। सहकारी आन्दोलन व सहकारी समितियों की सफलता के लिए जरूरी है कि इन समितियों के सदस्य यह अनुभव करें कि यह उनका अपना काम है। सब का सम्मिलित सहयोग कृषि व उद्योग दोनों क्षेत्रों में बहुत लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

सर्वोत्तम उपाय

आज देश ने समाजवादी पद्धति के समाज का आदर्श अपनाया हुआ है। इसके लिए भी यदि भारत के पास सर्वोत्तम उपाय है, तो यह सहकारी समितियों का विकास है। इससे लोकतांत्रिक आधार पर आर्थिक विकास करने का अवसर

मिलता है। आखिर, समाज के समाजवादी ढाँचे का अर्थ है—कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में विकेन्द्रीकृत बहुत सी संस्थाओं का निर्माण। ये छोटी-छोटी संस्थाएँ एकत्र होकर बड़े आकार व संगठन के पूरे लाभ उठा सकती हैं रूस का सा निरंकुश अधिनायकवाद इसमें नहीं है, व्यक्ति का स्वातन्त्र्य भी सुरक्षित रहता है और किसी एक पूँजीपति को शोषण का अवसर भी नहीं मिलता।

: १८ :

विश्व विनाश के कगार पर

मनुष्य का विकास पशुओं से हुआ है, यह सिद्धान्त सत्य हो या न हो, पर इसकी पुष्टि मनुष्य के स्वभाव से अवश्य की जा सकती है। वह सदा से प्रकृति से और अपने समीपवर्ती मानव से संघर्ष करता आया है। संघर्ष, झगड़ा और युद्ध उसके स्वभाव का अंग बन गया है। जब से मानव का इतिहास मिलता है, वह युद्ध करता रहा है। सच तो यह है कि मानव-जाति का इतिहास युद्धों और भारी संघर्षों के इतिहास के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। एक रूप में मानव इतिहास में से युद्धों को निकाल दीजिए—आर्यों के भारत प्रवेश पर द्रविड़ों और आदिम जातियों के संघर्ष, राम-रावण युद्ध, महाभारत, विभिन्न राजवंशों के सत्ता-प्राप्ति के लिए किये गये युद्ध, चन्द्रगुप्त व समुद्रगुप्त के युद्ध, मुस्लिम आक्रमण, मराठों के युद्ध, अंग्रेजों के युद्ध आदि को निकाल दीजिए, तो भारत का इतिहास क्या रह जायगा ? भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में जो सत्य है, वही आम देशों के सम्बन्ध मे भी सत्य है। वस्तुत: युद्ध मानव की मूलभूत भावना है। यह भावना उसे यहां से विरासत में मिली हो या उसका सहज संस्कार हो, यह प्रश्न पृथक् है। यही कारण है कि वेद व शास्त्रों के शान्ति व प्रेम के उपदेशों के बावजूद आज भी मानव किसी भी क्षण दानव के रूप में दीखने लगता है।

दानवी शक्ति का स्वामी

ज्यों-ज्यों नये से नये शस्त्रों का आविष्कार होता गया, मानव की दानवता भी बढ़ती गई है, पत्थरों व लाठियों से वह युद्ध नहीं करता, तलवारों व बन्दूकों से भी वह आज युद्ध नहीं करता। आज तो वह विध्वंसक वायुयानों पर बैठकर अणुबमों से अथवा ५०-१०० मील दूर तक मार करने वाले राकेटों या भयंकर तोपों से युद्ध करता है। आज वह एक-एक आदमी को मारने के लिए उससे अलग-अलग कुश्ती नहीं करना चाहता, वह तो जान गया है कि किस तरह अचानक ही रात के गहरे अंधकार में चुपचाप वायुयान द्वारा सोते हुए हजारों नागरिकों—बच्चे-बूढ़े, नर-नारियों—पर दो-एक बम गिराकर उन्हें मारा जा सकता है। आज तो वह हिरोशिमा पर एक अणुबम फेंककर ३०-४० हजार आदमियों को दो क्षणों में मार सकता है, क्षण भर में सृष्टि को प्रलय में परिणत कर सकने की दानवी सामर्थ्य उसे प्राप्त हो गई है। कौन जाने वैज्ञानिकों द्वारा होने वाले निरन्तर नये आविष्कार उद्जन बमों और राकेट बमों के रूप में उसकी विध्वंसक शक्ति किस असीम मात्रा तक बढ़ाते हैं।

विनाश का उन्माद

विज्ञान के द्वारा प्राप्त यह दैत्य-शक्ति ही आज मानव के सामने एक भयंकर समस्या अथवा एक बृहदाकार प्रश्न बनकर उपस्थित हो गई है। यों युद्ध तो पहले भी होते थे, पर मनुष्य चाहकर भी भयंकर विनाश नहीं कर सकता था, उसकी शक्ति अत्यन्त सीमित थी। ज्यों-ज्यों वह अपनी बुद्धि व विज्ञान बल से अधिकाधिक विध्वंसक शक्ति प्राप्त करता गया, त्यों-त्यों संसार की समस्त मानव-जाति और उसकी समस्त सभ्यता के विनाश का खतरा प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अभी बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही बीता है कि विश्व दो महान् विश्व-युद्धों द्वारा होने वाली भीषण क्षति को भूलकर तीसरे प्रलयकारी युद्ध की तैयारी में जुट गया है। प्रशान्त महासागर हो या अन्ध महासागर, पूव हो या पश्चिम, साम्यवादी देश हों या लोकतंत्रवादी, विनाशकारी रणताण्डव के लिए समस्त देश उन्नत हो रहे है।

एक के बाद एक युद्ध

यह ठीक है कि मानव का मननशील मन कभी-कभी इन विध्वंसों को देख कर क्षण भर के लिए अपनी मूर्खतापूर्ण प्रवृत्तियों पर चिन्तन करने लगता है

और युद्धों से बचने का उपाय सोचने लगता है। दो देशों में परस्पर संधियाँ होती हैं, राष्ट्रसंघ बनते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि अब युद्ध का खतरा दूर हो गया और संसार में शान्ति का राज्य स्थापित हो जायगा, परन्तु कुछ समय भी नहीं बीतने पाता और संधिपत्र की स्याही भी नहीं सूखने पाती कि नये युद्ध की तैयारियाँ होने लगती हैं। वस्तुतः जो संधियाँ की जाती हैं, वे सौहार्द का परिणाम नहीं होतीं, वे तो पराजित को दबाने लिए की जाती हैं। फल यह होता है कि उसी संधि में आगामी युद्ध के बीज बो दिये जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की संधि में दूसरे विश्व-युद्ध के बीज बो दिए गए थे और दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति के साथ ही तीसरे विश्व-युद्ध के जन्म का कारण पैदा हो गया था। आज एक ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ और पंचशील का नारा लग रहा है, तो दूसरी ओर संसार फिर दो संघर्षशील गुटों में बँट गया है। कई राष्ट्र मिलकर अपनी सामूहिक रक्षा की तैयारी में लग गए हैं। एक ओर अमेरिका पश्चिमी राष्ट्रों से कुछ संधियाँ कर चुका है, तो दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्र भी इसी प्रकार का रक्षात्मक गुट बना चुके हैं। प्रतिदिन शान्ति और निःशस्त्रीकरण का नारा लगाते हुए भी रूस, अमेरिका और ब्रिटेन अणु व उद्जन बमों के परीक्षणों में लगे हुए हैं। ये परीक्षण—भयंकर विस्फोट-ही मानव-जाति के जीवन लिए खतरा बन रहे हैं। आजकल बिकनी द्वीप-समूह में अथवा उत्तरी ध्रुव की ओर अणु व उद्जन बम के जो परीक्षण हो रहे हैं वे विश्व के वायुमण्डल को विषाक्त कर रहे हैं। पिछले दिनों अनेक रोगों का कारण भी वातावरण का रेडियो सक्रिय हो जाना बताया जाता है।

भयंकर विनाश का खतरा

भारत सरकार ने समस्त प्रश्न पर विचार करने के लिए वैज्ञानिकों का एक कमीशन नियत किया था। इसे कहा गया था कि वह उपलब्ध सामग्री के आधार पर अणु तथा अन्य महाविनाशकारी शस्त्रास्त्रों के उपयोग के परिणामों का अध्ययन करे। इन वैज्ञानिकों ने जो परिणाम निकाले हैं, उनसे प्रकट होता है कि इन अस्त्रों का परिणाम बहुत भयंकर होगा। मानव संस्कृति के सब अमूल्य चिन्ह नष्ट हो जाएँगे, मानव-जाति के स्वरूप पर इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा। एक दफा जापानी मछियारों ने जो हजारों मछलियाँ पकड़ी थीं, वे सब

रेडियो परमाणुओं से विषाक्त अतः अखाद्य हो गई थीं। उपर्युक्त वैज्ञानिकों की सूचना के अनुसार हाल के परीक्षणों में अनुमानतः १५ उद्जन बमों का विस्फोट हो चुका है। एक '२० मीगेटन (उद्जन) बम' में उतनी ही शक्ति होती है, जितनी एक बड़े भूकम्प• या बवंडर में। दूसरे शब्दों में दुनिया में सालाना कुल जितनी बिजली तैयार होती है, उसके २ प्र० श० के बराबर शक्ति इस एक बम में होती है। एक बम के विस्फोट से आज संसार का बड़े से बड़ा सम्पूर्ण नगर उड़ाया जा सकेगा। इसके रेडियो-सक्रियाणु विश्व के सब से बड़े किसी एक देश को ध्वंस करने के लिए काफी हैं। यदि यह बम परम्परागत विस्फोटक पदार्थों से बनाया जाय, तो मोटे तौर से इसकी लागत ही करोड़ों पौंड होगी। इसकी तुलना में अणु बम विनाशक शक्ति के दृष्टिकोण से, संसार में सबसे सस्ता पड़ता है—परम्परागत हथियारों से इसकी लागत हजारवाँ हिस्सा भी नहीं पड़ती। जब वैज्ञानिक सस्ते विनाश-साधन का आविष्कार कर रहा है, तो विनाश के लिए युद्ध में इसके प्रयोग का प्रलोभन रोकना युद्धोन्मुख राष्ट्र के लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है।

अणु विस्फोटों के रेडियो सधर्मी तत्त्वों का मौसम, समुद्र के जीवों, मछलियों तथा हवा और पानी पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसका भावी सन्तति पर—मानव प्रजनन शक्ति पर—भी खतरनाक प्रभाव पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि आज के परीक्षण न केवल आज के मानव को, परन्तु आने वाले मानवों को भी भयंकर क्षति पहुँचाये बिना न रहेंगे। यही कारण है कि संसार के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने—जिनमें अलबर्ट आइन्सटीन, परसी ब्रिडमैन, ल्यूपोल्ड इन्फलैंड, हरमेन जे० मुलर, सिसेल एफ० पावेल, जोसेफ रोटब्लेट, बरट्रेंड रसेल, हाईडेकी यकूवा, जान फ्रेड्रिक इत्यादि सम्मिलित हैं—विश्व को एक चेतावनी दी थी। इन संसारप्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने इस समस्या को, जो आज मानवता के सन्मुख उपस्थित है, बड़े साफ शब्दों में रखा था—"या तो मानव-जाति को मिटना पड़ेगा या युद्धों को तिलांजलि देनी होगी?"

अणुबमों पर रोक

मानव की पशु-प्रवृत्ति जब अणुबम का साधन पा लेगी तब वह उसे प्रयुक्त करने का प्रलोभन रोक सकेगी, इसमें पूर्ण सन्देह है। यही कारण

है कि पं० जवाहरलाल नेहरू अणुबमों के परीक्षणों पर भी पाबन्दी लगाने का आन्दोलन कर रहे हैं। पर न अमेरिका इन्हें बन्द करने को तैयार है, न रूस। रूसी नेता जब भारत में पंचशील का नारा लगा रहे थे, तब रूसी वैज्ञानिक उद्‌जन बम का भयंकर विस्फोट कर रहे थे। अब तो ऐसे अस्त्र निकलने लगे हैं कि बिना वायुयानों के ही ३-३॥ हजार मील दूर तक फैंक कर शत्रु देश को नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है। इसी को देखकर डर लगता है कि यह विश्व, हजारों वर्षों तक उन्नति की दिशा में मानव के प्रयत्न—मानव-सभ्यता के चिह्न—बड़े-बड़े नगर, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, बड़े-बड़े लोहमय दानवाकार कारखाने और मानव-जाति की यह संस्कृति सब कुछ किसी भी समय इतिहास की वस्तु रह जायँगे, यदि सिर्फ कुछ उन्मत्त राजनीतिज्ञों व शासकों ने संयम से काम न लिया। यदि संसार को—मानव-जाति—को जीवित रहना है, तो अणुशक्ति का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध करना होगा।

परन्तु

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या आज की भौतिकवादी सभ्यता में मानव अपने ऊपर संयम कर लेगा? क्या वह अणुशक्ति हाथ में रहने पर भी उसका प्रयोग नहीं करेगा? म० गांधी कहते थे कि यदि युद्ध को सर्वदा के लिए समाप्त करना है, तो आज की भौतिकवादी सभ्यता ही छोड़नी पड़ेगी, अपनी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी करना होगा, जीवन-स्तर को ऊँचा करने का प्रलोभन छोड़कर सादे जीवन व ऊँचे विचार को अपनाना होगा, बड़ी मशीनरी के स्थान पर चरखा चलाना पड़ेगा। परन्तु क्या आज विश्व महात्मा गांधी की आवाज़ सुनने को तैयार है?

: १६ :

संयुक्त राष्ट्रसंघ

आदि काल से जब इस धरती पर मानव ने जन्म लिया था, उसमें दो परस्पर विरोधी भावनाएँ एक साथ पनपती रही हैं। प्रेम, दया, शान्ति की भावना मानव में स्वाभाविक है। इसी भावना के कारण माँ बालक को प्यार करती है, दुलार करती है। पति-पत्नी व परिवार के सदस्य ही नहीं, समाज के विविध संगठन भी मानव की इन्हीं कोमल प्रवृत्तियों का परिणाम हैं। दूसरी भावना है, संघर्ष, शत्रुता व लड़ाई-झगड़े की। मानव में निहित पशुत्व समय-समय पर जाग उठता है, अबोध शिशु भी परस्पर लड़ते हैं। स्वार्थ इस पशुत्व को सदा उत्तेजित करता है। मनुष्यों के निजी झगड़े हों या जातियों और देशों के भीषण युद्ध, इसी भावना के परिणाम हैं। ये दोनों भावनाएँ एक साथ मानव में अनादि काल से पनपती आई हैं। कभी मानव-भाव बल पकड़ता है तो कभी पशुत्व या दानव का भाव प्रबल हो जाता है।

प्रथम विश्व-युद्ध

बड़े-बड़े युद्ध जब मानव को थका देते हैं, तब वह शान्ति की खोज करने लगता है। युद्धों के बाद संधियाँ होती हैं और यह प्रयत्न किया जाता है कि भविष्य में युद्ध न हों। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में १९१४ में जो विश्व-युद्ध हुआ था, उसके भीषण संहार को देखकर योद्धा राष्ट्रों ने आपसी विवाद-ग्रस्त प्रश्नों को तलवारों, तोपों और बमों द्वारा नहीं, पारस्परिक शान्ति चर्चा अथवा पंचायत द्वारा तय करने के लिए जनेवा में राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) की स्थापना की थी।

इस संस्था ने कुछ वर्ष तक अच्छा काम किया। इसके दो मुख्य कार्य थे—एक राजनैतिक विवादों का पारस्परिक संधि-चर्चा द्वारा निर्णय और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय रूप से समाज-सेवा की व्यवस्था, जैसे अफीम और स्त्रियों के

व्यापार पर रोक, शिक्षा-प्रसार तथा मजदूरों की सुख-सुविधा आदि। अनेक समस्याएँ इसके सामने आईं और हल भी हुईं, किन्तु कुछ समय बाद सदस्य-राष्ट्रों के पारस्परिक स्वार्थ के कारण विकट प्रश्नों का निर्णय ठीक तरह नहीं हो सका। राष्ट्रसंघ में उन्हीं राष्ट्रों का बोलबाला था, जो स्वयं बड़े-बड़े साम्राज्य हथियाये हुए थे। जब जापान ने चीन के मंचूरिया पर आक्रमण किया, तो ब्रिटेन व फ्राँस किस मुँह से उसका विरोध करते ? जब इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, तब भी राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। संघ के पास अपनी कोई शक्ति न थी, जिससे अपराधी देश को दण्ड दिया जा सकता। जर्मनी ने जब देखा कि राष्ट्रसंघ किसी अपराधी को दंड नहीं दे सकता, तब उसने भी सब संधियों को भंग करके पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और कुछ देर बाद समस्त विश्व युद्ध की ज्वाला में जलने लगा। राष्ट्रसंघ भी जीवित न रह सका। वह भी इस प्रचण्ड ज्वाला में भस्म हो गया।

नये राष्ट्रसंघ की स्थापना

१९३९ के महायुद्ध में संसार ने जिस भीषण विध्वंस व प्रलय के दर्शन किये, वह कल्पनातीत था। युद्ध के विजेता राष्ट्र भी इसकी पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। युद्ध-काल में ही ब्रिटेन, रूस और अमरीका में जो-जो सम्मेलन हुए, उनमें युद्ध-विजय की चर्चा के साथ-साथ भावी विश्व-व्यवस्था पर भी विचार किया जाता रहा। अतलांतक-सम्मेलन में आक्रमणकारी देशों द्वारा पराजित देशों को स्वशासन का अधिकार, विश्व-शान्ति की स्थापना, स्वराज्य और समानता तथा किसी दूसरे देश के अधिकारों तथा भूमिभागों का अपहरण न करना आदि कुछ सिद्धान्तों की घोषणा की गई थी। बल प्रयोग न करने, अनुन्नत देशों की आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा का भी वचन दिया गया था। २४ अक्तूबर, १९४४ को इस दिशा में पहला कदम उठाया गया, जबकि वाशिंगटन में डंबटर्न ओक्स भवन में एक कान्फ्रेंस की गई। इसमें विश्व राष्ट्र-संघ बनाने का निश्चय किया गया। इसके अनुसार सानफ्रांसिस्को में विविध राष्ट्रों के २०० प्रतिनिधियों, ९०० कर्मचारियों और ३०० कान्फ्रेंस सैक्रेटरियों की कान्फ्रेंस हुई। संघ के उद्देश्य यह रखे गये—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना; राष्ट्रों में परस्पर मित्र-भाव की वृद्धि; आर्थिक, सामाजिक,

सांस्कृतिक और सार्वदेशिक समस्याओं के हल के लिए सब राष्ट्रों का सहयोग; और इन सब उद्देश्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन। इनके साथ ही सब राष्ट्रों के बल प्रयोग छोड़ने, विवादग्रस्त मामलों का संघ द्वारा निर्णय कराने आदि की भी घोषणाएँ की गई।

पाँच संस्थाएँ

नये संयुक्त राष्ट्रीय संघ के लिए, जिसे अंग्रेजी में यू० एन० ओ० के संक्षिप्त नाम से बुलाया जाता है, पाँच अलग-अलग संस्थाएँ बनाई गई—असेम्बली, सुरक्षा-समिति, आर्थिक और सामाजिक समिति, ट्रस्टीशिप कौंसिल और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय।

नई समस्याएँ

यह नया सं० राष्ट्रसंघ जिस उत्साह के वातावरण में स्थापित हुआ था, उस उत्साह से काम नहीं कर सका। इसका मुख्य कारण था राष्ट्रों की स्वार्थ-भावना, जिसने पहले संघ को भी प्रभाव-शून्य बना दिया था। संघ के सामने एक से एक कठिन समस्याएँ आई और इसमें सन्देह नहीं कि वह कुछ सीमा तक सफल भी हुआ है। सबसे अधिक कठिन और पेचीदा प्रश्न सुरक्षा समिति के पास आए। उनमें से कुछ प्रमुख प्रश्न निम्न हैं—इजराइल में अरबों व यहूदियों का संघर्ष, कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण, दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों से दुर्व्यवहार, इण्डोनेशिया की स्वाधीनता, दक्षिणी-पूर्वी अफ्रीका का शासन, इरीट्रिया आदि इटली के उपनिवेश, ग्रीस पर समीपवर्त्ती देशों के आक्रमण, अणु बम पर नियंत्रण, कम्यूनिस्ट चीन की संघ में सदस्यता, कोरिया में गृह-युद्ध, बर्लिन की रूस के द्वारा नाकाबन्दी, ईरान व अंग्रेजों का तेल सम्बन्धी झगड़ा, मिश्र का अंग्रेजों से स्वेज नहर-सम्बन्धी संघर्ष और अणु बम व शस्त्रास्त्र वृद्धि पर रोक। ये सभी मामले पेचीदे हैं। राष्ट्रसंघ के सदस्य परस्पर स्वार्थ के कारण गुणावगुण की दृष्टि से इन पर विचार नहीं कर सके। आपसी दलबन्दी की दृष्टि से विचार के कारण इनके समाधान में कुछ कठिनता हुई। कश्मीर का प्रश्न इसी कारण उलझा पड़ा है। अणु बम पर रोक, जर्मनी व कोरिया के एकीकरण भी हल नहीं हो रहे हैं फिर भी आंशिक सफलता अवश्य

मिली है। इजराइल और कश्मीर में विराम-संधि हो चुकी है, इण्डोनेशिया का प्रश्न हल हो चुका है, बर्लिन का प्रश्न भी अस्थायी रूप से हल हुआ है। परन्तु सबसे बड़ी सफलता जिस पर राष्ट्रसंघ के अधिकारी गर्व करते हैं, कोरिया में आक्रमणकारी के विरुद्ध रा० संघ का संयुक्त रूप से कदम उठाकर युद्ध-समाप्ति है। इण्डोचायना में भी युद्ध को रोकने में कुछ सफलता मिली है।

संगठन में दोष

संसार की राजनैतिक समस्याएँ बहुत विषम हैं। मानव जब तक स्वार्थ से ऊपर नहीं उठे, वह इन समस्याओं पर निष्पक्ष रूप से गुणावगुण या न्याय-अन्याय की दृष्टि से विचार नहीं कर सकेगा। इस कारण राष्ट्रसंघ की सफलता संदिग्ध होने लगी है। इस संघ के संगठन में भी कुछ दोष रह गये हैं। एक दोष तो यह है कि राष्ट्रसंघ में पाँच देशों—अमरीका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन—को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया गया है। उन्हें सुरक्षा-समिति का स्थायी सदस्य मान लिया गया है। फिर इन पाँचों को प्रत्येक प्रश्न पर अपने निषेध-अधिकार का प्रयोग करके शेष सबका निरादर करने का अधिकार प्राप्त है। अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न केवल इसी निषेधाधिकार के कारण हल नहीं हो पाए। तीसरा दोष यह है कि इस संघ के पास भी अपने निश्चय को क्रियान्वित करने के लिए सशस्त्र शक्ति नहीं है। इज़राइल, पाकिस्तान, दक्षिणी अफ्रीका आदि को संघ अपने निश्चयों के लिए विवश नहीं कर सका। कोरिया के प्रश्न पर भी अमरीका की विशेष रुचि थी, इसीलिए अधिकांश सेना उसी को देनी पड़ी। इण्डोचायना में भी आंशिक सफलता ही मिली है।

सामाजिक सेवाएँ

आज भी संसार की अधिकाश राजनैतिक व आर्थिक समस्याएँ हल नहीं हुई, किन्तु इसी कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ को असफल नहीं कहा जा सकता। अ-राजनीतिक क्षेत्र में संघ ने कम सफलता नही पाई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव हितकारी बहुत से कार्य कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष की स्थापना करके ५० देशों में बच्चो को खाने, कपड़े और चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएं दी

गई हैं। संयुक्तराष्ट्रीय शरणार्थी संगठन के द्वारा १० लाख से अधिक युद्ध-पीड़ितों की सहायता की जा चुकी है। विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के सहयोग से संसार की ८२ सरकारें अपने-अपने प्रदेशों में रोगों को दूर करने में प्रयत्नशील हैं। संसार भर में दुर्भिक्ष और भूख के विरुद्ध भी जोरदार संघर्ष किया जा रहा है। विविध देशों में अन्नादि के उत्पादन बढ़ाने में यह संगठन सहयोग दे रहा है। ट्रैक्टर, खाद्य और बीज आदि इसकी ओर से दिये जाते हैं। शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति संगठन (यूनैस्को) के द्वारा संसार से निरक्षरता को दूर करने में वह प्रयत्नशील है। अल्पविकसित देशों को सहायता देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई है जो विभिन्न देशों को विकास योजनाओं के लिए ऋण देता है। ट्रस्टीशिप कौंसिल के द्वारा राष्ट्रसंघ अपने अधीनस्थ प्रदेशों में एक करोड़ ७० लाख व्यक्तियों की उन्नति में क्रियाशील है। मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा संघ का एक महान् कार्य है, जिसमें नागरिक की स्वतन्त्रता की विस्तार से घोषणा की गई है।

भविष्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ के भू० पू० प्रधान मंत्री श्री ट्रिग्वेली ने कहा था कि "विश्व-शान्ति को खतरे में डालने वाले प्रायः सभी गंभीर प्रश्न किसी न किसी रूप में संघ के सामने आये हैं और इससे प्रकट है कि शान्ति, सुरक्षा और अपनी जनता की भलाई व उन्नति चाहने वाले सभी राष्ट्र संघ को आशापूर्ण नेत्रों से देखते हैं।" वस्तुतः राष्ट्रसंघ संसार में शान्ति स्थापित कर सकता है, किन्तु इसके लिए आवश्यक यह है कि आज जिस तरह वह स्वयं शान्ति के बदले रूस व अमरीका की दलबन्दी का अखाड़ा बन रहा है, वह वैसा स्वरूप बदल ले।

राष्ट्रसंघ को पहले कुछ आदर्श निश्चित करने चाहिएँ, जिनके आधार पर प्रत्येक प्रश्न पर विचार किया जाय। वे आदर्श वही हो सकते है जो उसने मानव-अधिकारों के घोषणा-पत्र में नियत किये हैं। इनके अनुसार प्रत्येक छोटे-बडे देश को स्वराज्य मिलना चाहिए। एक बार सब छोटे-बड़े देशों को स्वतन्त्र करने के बाद विश्व की तीन-चौथाई राजनीतिक उलझनें हल हो जायेंगी। आक्रमणकारी की स्पष्ट शब्दों में निन्दा ही काफी न होगी, उसके विरुद्ध कठोर

कार्रवाई भी बिना किसी पक्षपात के करनी होगी। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसा कर सका, तो वह एक जीवित संस्था रहेगी, अन्यथा उसकी भी पहले राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) की सी दुर्गति होगी।

: २० :

भारत की विदेश नीति

जब तक भारत पराधीन था, उसकी अपनी कोई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति नहीं थी। ब्रिटिश सरकार की नीति भारत सरकार की नीति थी। इंगलैंड के शत्रु भारत के शत्रु माने जाते थे, और उसके मित्र हमारे मित्र। १९१४ में इंग्लैंड और जर्मनी में युद्ध छिड़ा, तो भारत को भी जर्मनी, आस्ट्रिया और टर्की से युद्ध करना पड़ा। रूस, इटली, फ्रांस और जापान भारत के मित्र कहलाये। युद्ध के कुछ समय बाद जब जापान से आर्थिक और राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धा शुरू हुई, तो भारत को भी जापान के विरुद्ध रुख अखत्यार करना पड़ा। इटली-अबीसीनिया युद्ध में ब्रिटेन का रुख ही भारत का रुख था। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में भारत सरकार ने जर्मनी से भी युद्ध की घोषणा कर दी, यद्यपि जर्मनी ने भारत का कुछ बिगाड़ा नहीं था। ब्रिटेन के नीति-परिवर्त्तन के साथ-साथ भारत को भी रूस से अपने सम्बन्ध अनुकूल या प्रतिकूल करने पड़े। १९१४ में इटली को हम मित्र मानते थे, पर १९३९ में वह भारत का शत्रु गिना जाने लगा। १९२० में भारत राष्ट्रसंघ का सदस्य अवश्य बन गया था, पर उसकी कोई स्वतंत्र नीति वहाँ भी न थी। भारत सरकार केवल ब्रिटेन का पुछल्ला बनी हुई थी।

जनता की स्वतन्त्र विदेश नीति

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारत की जनता की भी कोई स्वतन्त्र विदेश नीति न थी। भारतीय जनता शक्ति के लिए संग्राम कर रही थी।

साम्राज्यवाद, पराधीनता और राजनैतिक या आर्थिक शोषण से वह स्वयं परेशान थी। उसकी सहानुभूति उस प्रत्येक देश के साथ थी, जो स्वाधीनता के लिए संग्राम करता था। खिलाफत का काँग्रेस-आन्दोलन इसी भावना का ज्वलन्त उदाहरण है। चीन ने जापान से रक्षात्मक युद्ध किया, तो भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस ने वहाँ अपना मैडिकल मिशन भेजा। अबीसीनिया ने स्वातन्त्र्य-संग्राम किया, तो भारत की सहानुभूति उसके साथ थी। मिस्र ने थोड़ी-बहुत स्वाधीनता प्राप्त की, तो भारत ने उसका हर्ष के साथ स्वागत किया। सारांश यह कि जो देश स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करता, भारत की सहानुभूति उसे प्राप्त होती। यह स्वाभाविक भी था और भारत के सत्य सिद्धान्तों के अनुकूल भी था। परन्तु जनता की यह विदेश नीति केवल सहानुभूति-प्रदर्शन या प्रस्ताव पास करने तक सीमित थी। सक्रिय रूप से कुछ करने का उसे अधिकार भी न था।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तब उसे वस्तुतः यह अधिकार मिला कि वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का निर्माण करता। भारत ने स्वातन्त्र्य लाभ करने से पूर्व अन्तरिम शासन के काल में ही अखिल एशियाई देशों की एक शानदार कान्फ्रेंस अप्रैल १९४७ में बुलाई। यह कान्फ्रेंस पहली कान्फ्रेंस थी, जो भारत के अभ्युदय के साथ-साथ एशियाई राष्ट्रों की मुक्ति का संदेश लाई थी। अब तक कभी एशियाई देशों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं किया था। यहाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया और मध्य-पूर्वी एशिया के देशों के प्रतिनिधि आए। उन्होंने अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की घोषणा की। एशिया ने अँगड़ाई ली, वह उठ खड़ा हुआ, इसकी सूचना सारे संसार को मिल गई और साम्राज्यवाद की जड़ें हिलने लगीं। जापान के आक्रमण ने यूरोपियन साम्राज्यवाद की जड़ों को पहले ही कमजोर कर दिया था। इस कान्फ्रेंस में स्वतन्त्रता, समानता तथा आर्थिक प्रभावों से मुक्ति का संदेश सुनाया गया।

भारत स्वतन्त्र हुआ। उसके हृदय में विश्व-निर्माण की, जिसमें शोषण न हो, पराधीनता न हो, बड़ी जबर्दस्त भावनाएँ थीं। उन प्रबल भावनाओं व उमंगों के साथ उसने अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रवेश किया। इसी समय विश्व के राजनैतिक क्षितिज में काले बादल मँडराने लगे थे। भारत ने अपनी नीति संसार के सामने रखी।

स्वतन्त्र भारत की नीति

भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति के मुख्य चार तत्त्व थे—(१) युद्ध को अनुत्साहित कर विश्व-शांति की स्थापना के लिए प्रयत्न ; (२) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गुट-बन्दी से दूर रहकर प्रत्येक प्रश्न पर न्याय-अन्याय की दृष्टि से विचार ; (३) साम्राज्यवाद का, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, विरोध और स्वातन्त्र्य-संग्राम का समर्थन ; और (४) अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ने पर आत्म-रक्षा के लिए अथवा पीड़ित आक्रान्त देश की रक्षा के लिए सैनिक कार्रवाई।

इस विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त इतने तर्क-संगत और युक्ति-युक्त थे कि किसी को भी इनका विरोध करने का साहस नहीं हो सकता था। प्रारम्भ में छल व स्वार्थ से पूर्ण राजनीतिज्ञों को भारत की नीयत पर विश्वास नहीं हुआ। वे स्वयं न्याय और सत्य की दुहाई देकर अपना स्वार्थ-साधन ही एकमात्र विदेश नीति मानते थे। कूटनीति का अर्थ ही जिस किसी तरह स्वार्थ-साधन था। पं० नेहरू, जो राजनीति में गांधी जी के शिष्य रह चुके हैं, छल-छिद्र से विहीन राजनीति लेकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक मंच पर आये। इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रारम्भ में उन्हें कठिनाइयाँ होतीं। उन्होंने किसी गुट में शामिल होने से इनकार कर दिया। संयुक्तराष्ट्र अमरीका में किया गया उनका विराट् अभूतपूर्व राजसी स्वागत भी, जिसने अमरीकन राष्ट्रपति विल्सन को ब्रिटेन व फ्रांस का वशवर्त्ती बना दिया था, प० नेहरू को विचलित नहीं कर सका। वे अमरीका के मित्र तो रहे, पर दलगत राजनीति के साथ नहीं मिले। कश्मीर के प्रश्न पर इसका बुरा प्रभाव भी पड़ा। अमरीकन सहानुभूति पाकिस्तान के साथ रही। रूस भी संदिग्ध दृष्टि से भारत को देखता था, परन्तु कुछ समय तक भारत की नीति में निष्पक्षता तथा पाकिस्तान के प्रति अपनी आदर्श नीति के पालन ने उसके सन्देह दूर कर दिये।

प्रबल और सप्राण नीति

विदेशी राजनीति के मैदान में भारत नया खिलाड़ी अवश्य था, परन्तु उसकी नीति इतनी सुदृढ, सुस्पष्ट और निश्छल थी कि जल्दी ही उसकी आवाज

ज़ोर पकड़ती गई। जब इण्डोनेशिया पर डच लोगों ने आक्रमण किया, तो भारत ने असंदिग्ध शब्दों में उसका समर्थन किया। जब अफ्रीका महाद्वीप में अनेक देशों ने स्वाधीनता का संग्राम किया, तो भारत ने उनका समर्थन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पराधीन एवं दलित देश भारत को मुक्तिदाता के रूप में देखने लगे। कोरिया का गृह-युद्ध जब विश्व-युद्ध का रूप लेने लगा, तो भारत की तटस्थ नीति ने ही उसका क्षेत्र व्यापक होने से रोक दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय मत का आदर होने लगा। चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो चुका था। अमरीका उसे मानने को तैयार न था, पर भारत ने दूसरे देश के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति पर बल दिया और उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ में लेने का आग्रह किया। इस नीति ने उसे भारत का मित्र बना दिया। परन्तु चीन को यह मित्रता निबाहने के लिए स्वयं ही आक्रमण-नीति छोड़ने या सीमित कर देने पर विवश होना पड़ा। इस नीति के परिणाम-स्वरूप ही कोरिया में विराम-संधि स्थापित हुई और युद्धबन्दियों के संरक्षण का उत्तरदायित्व भारत ने लिया। उसकी निष्पक्षता पर दोनों दल विश्वास कर सकते थे। फिर तो उसकी धाक बढ़ती गई। बर्लिन का मामला पेचीदा हो रहा था, भारत ने उसे आगे बढ़ने से रोका। इण्डोचायना में युद्ध व्यापक रूप धारण कर रहा था, भारत ने विराम-संधि का प्रयत्न किया और उसका भार भी भारत को उठाना पड़ा।

पंचशील

भारत की यही निष्पक्ष शान्ति नीति कुछ समय बाद पंचशील के सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुई। पं० नेहरू ने यह अनुभव किया कि केवल निष्पक्षता व निराक्रमण की नीति से काम नहीं बनेगा। आवश्यकता यह है कि इस नीति को मानने वाला क्षेत्र अधिक से अधिक व्यापक किया जाय। फिर तो भारत ने अनेक देशों से एक ओर पंचशील के सिद्धान्तों पर संधि की और दूसरी ओर विश्व-शान्ति की नीति का प्रचार किया। कोलम्बो कान्फ्रेंस में पाँच एशियाई देश सम्मिलित हुए और दोनों गुटों से अलग रहने की नीति का समर्थन किया। कुछ समय बाद बाँडुंग में एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन किया गया। भारत का इसमें महत्त्वपूर्ण भाग था। इसकी एक विशेषता यह थी कि इसमें एशिया व अफ्रीका

के २६ देशों को निमंत्रित किया गया था। इसमें भी उसी अनाक्रमण व तटस्थ नीति का जोरदार समर्थन हुआ। इसी तरह भारत की शान्ति नीति का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक होता गया।

चीन व रूस से

पं० नेहरू ने यह अनुभव कर लिया था कि केवल चीन से काम न बनेगा। चीन रूस से अपने को अलग नहीं कर सकता था। इसलिए पं० नेहरू ने रूस की महत्त्वपूर्णयात्रा द्वारा उसे भी अपनी नीति की प्रेरणा दी। रूस जैसे साम्यवादी और हिंसा की नीति पर आस्था रखने वाले देश को पं० नेहरू ने विश्व-शान्ति का वह संदेश दिया, जो उन्होंने म० बुद्ध और म० गांधी की शिक्षाओं से पाया था।

सिद्धान्त नहीं, व्यवहार में भी

पं० नेहरू के यह शान्ति-संदेश केवल मौखिक नहीं हैं, वे उन पर आचरण भी करते हैं। पाकिस्तान के बार-बार उत्तेजित करने पर भी भारत शान्ति नीति को अपनाये हुए है। गोआ में भी जनता के आग्रह के बावजूद उन्होंने अपना एक भी सैनिक नहीं भेजा। फ्रांसीसी प्रान्तों को उन्होंने शान्तिपूर्ण चर्चा द्वारा ही भारत में विलीन कर लिया। विश्व-शान्ति की भारतीय नीति को आत्मसमर्पण का नाम देना भ्रामक होगा। साम्राज्यवाद, शोषण और अभाव के प्रति भारत आज भी अत्यन्त उग्र है। पाकिस्तानी सेनाओं को कश्मीर में आगे नहीं बढने दिया जा रहा है। उसकी उदार नीति का पाकिस्तान निरन्तर दुरुपयोग कर रहा है। भारत की विदेश राजनीति की वास्तविक सफलता में अभी तक यह बड़ी बाधा बनी हुई है। देखना है, पं० नेहरू इसका समाधान किस तरह करते हैं।[1]

---

१ हमारे पड़ौसी और पंचशील लेख भी देखिये।

: २१ :

पंचशील

जिन कुछ शब्दों ने आज के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है, उनमें से 'पंचशील' सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज संस्कृत का यह शब्द केवल भारतवर्ष में ही नहीं बोला जाता, अपितु संसार के सभी महाद्वीपों—रूस, अमरीका, ब्रिटेन और चीन आदि सब देशों में यह शब्द बहुत अधिक प्रसिद्ध हो चुका है। विविध देशों के राजनैतिक नेताओं के भाषण हों, शासकों की घोषणाएँ हों अथवा पत्रों में सम्पादकों के अग्र लेख हों, पंचशील सब जगह हम सुन या पढ़ सकते हैं। इसने अंग्रेजी के 'नाटो', 'मीडो' और 'सीटो' आदि शब्दों को कहीं पीछे छोड़ दिया है।

आज की परिस्थितियाँ

आखिर पंचशील के इतनी अधिक प्रसिद्धि और लोकप्रियता प्राप्त करने का क्या कारण है? पंचशील में ऐसी कौनसी विशेषताएँ है, जिनके कारण वह संसार के महान् राजनीतिज्ञों और शासकों को इतना प्रभावित कर रहा है। इस प्रश्न का उत्तर जानने से पहले यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि पंचशील का जन्म किन स्थितियों में हुआ और इसका स्वरूप क्या है।

गत महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में विश्व-शान्ति की स्थापना तथा युद्धों को सर्वथा रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। किन्तु संसार ने जल्दी ही यह देखा कि यह संघ भी रूस या अमरीका के पारस्परिक स्वार्थ-भेद के कारण दो गुटों का अखाड़ा बन गया है। दोनों देश संसार के सब देशों को अपने-अपने गुट में लाने के लिए सिरतोड़ कोशिश कर रहे हैं। हालत यहाँ तक खराब हो गई कि दोनों देश अपने-अपने समर्थक देशों के साथ युद्ध की भीषण तैयारियों में लग गये। अणु व उद्जन बम के परीक्षण करके दोनों देश संसार को चिन्ता और आशंका में डालने लगे। तीसरे विश्व-

युद्ध के द्वारा संसार के नाश की संभावनाएँ प्रतिदिन बढ़ने लगीं। यह समय था, जब विश्व के राजनैतिक मंच पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी का अहिंसा, शान्ति और प्रेम का संदेश लेकर प्रवेश किया। नेहरू जी ने समस्त स्थिति का विश्लेषण किया। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जब तक संसार के देश यह घोषणा नहीं कर देंगे कि वे किसी भी गुट में शामिल नहीं होंगे तथा न अमरीका और रूस के हथियार बनेंगे, तब तक युद्ध और विनाश का आतंक संसार में बढ़ता जायगा। उन्होंने युद्ध के मुख्य कारणों पर भी विचार किया और यह अनुभव किया कि विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए आधारभूत सिद्धान्तों की सर्वसम्मत स्वीकृति आवश्यक है, और यह तो प्रत्येक देश को मान ही लेना चाहिए कि वह वादविवाद-ग्रस्त प्रश्न को युद्ध द्वारा नहीं निपटाएगा। इण्डोनेशिया में रणचण्डी चेत रही थी और किसी भी समय यह दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्याप्त हो सकती थी। युद्ध की सम्भावना का एक बड़ा भारी कारण यह भी है कि एक ओर रूस चाहता है कि दुनिया के देशों में रूस का सा साम्यवाद प्रचलित हो जाय, और दूसरी ओर अमरीका तथा ब्रिटेन लोकतन्त्रवादी पद्धति का प्रचार चाहते हैं। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सभी प्रकार के उपाय काम में लाने की कोशिश की जाती है और इससे विश्व-शान्ति का खतरा बढ़ जाता है।

सह-अस्तित्व व पंचशील

पं० जवाहरलाल ने सह-अस्तित्व का सिद्धान्त संसार के सामने रखा। उन्होंने रूस और अमरीका दोनों के मित्र रहकर भी न केवल किसी गुट में शामिल होने से इनकार कर दिया, अपितु अन्य देशो को भी इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे किसी गुट में शामिल न हों और इस तरह संसार में ऐसा एक तीसरा क्षेत्र बहुत व्यापक और संगठित करने का प्रयत्न किया, जो विश्व-शान्ति को अपना लक्ष्य मान ले। अहिंसा और शान्ति का सन्देश सबसे पहले आज से दो हजार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने दिया था। उन्होंने संसार को मुक्ति दिलाने के लिए जिन पाँच नियमों का प्रचार किया, वे पंचशील के नाम से प्रसिद्ध थे। उसी आधार पर पंडित नेहरू ने विश्व-शान्ति के लिए नये पाँच सिद्धान्तो का

आश्रय लिया। यह सिद्धान्त संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता एवं प्रभुसत्ता का सम्मान करना।

(२) आक्रमण न करना।

(३) एक दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

(४) समानता एवं परस्पर लाभ।

(५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

पंचशील के इन सिद्धान्तों का सीधा अर्थ यह है कि संसार में कोई देश अपनी इच्छा की पूर्त्ति के लिए, दूसरे-देश पर आक्रमण नहीं कर सकेगा; न एक दूसरे के घरेलू मामलों में गृह-युद्ध आदि की स्थिति में ही हस्तक्षेप कर सकेगा; तथा छोटे-बड़े सभी देश एक समान स्तर पर स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकेंगे, समाजवादी अथवा लोकतन्त्रवादी दोनों प्रकार के देश एक दूसरे के साथ परस्पर व्यवहार कर सकेंगे और एक दूसरे को सहन कर सकेंगे।

लोकप्रियता

पंचशील के इन सिद्धान्तों ने संसार में एकदम लोकप्रियता प्राप्त कर ली। वस्तुत: संसार युद्ध और विनाश की आशंका से भयभीत है। इन सिद्धान्तों ने भयभीत विश्व को आशा की एक सुनहरी किरण दिखाई। उसने समझा कि यह सिद्धान्त है जिससे वह अपनी और अपनी सन्तान की रक्षा कर सकती है। किसी देश की जनता युद्ध नहीं चाहती। इसलिए पंचशील के इन सिद्धान्तों में अपना त्राण समझा। कम्यूनिस्ट चीन के प्रधान मन्त्री जब भारत में आए, तब उन्होंने सह-अस्तित्व के इन सिद्धान्तों को स्वीकार किया।

चीन साम्यवादी देश है। उसके सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों का यह विश्वास है कि वह युद्ध और आक्रमण की नीति का त्याग नहीं कर सकता। पंचशील की यह संयुक्त घोषणा इन महान् सिद्धान्तों की सफलता का बहुत बड़ा प्रमाण थी। चीन के अनाक्रमण के आश्वासन के कारण इण्डोचायना में युद्ध के व्यापक होने का भय कम हो गया। इसके बाद तो बर्मा, यूगोस्लाविया, रूस और पोलैंड आदि ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। विश्व-शान्ति के प्रयत्नों के सिलसिले में जब एशियाई और अफ्रीकी

देशों का एक सम्मेलन बाँडुंग में हुआ, वहाँ भी पंचशील के इन पाँचों सिद्धान्तों को (भले ही भिन्न रूप में) स्वीकार कर लिया।

वस्तुतः विश्व-शान्ति के लिए महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धान्त को मानना अत्यन्त आवश्यक है। अहिंसा के मूल में 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त काम कर रहा है। जब तक हम इस सिद्धान्त को स्वीकार न करेंगे, तब तक विश्व से हिंसा और युद्ध को समाप्त नहीं किया जा सकता। एक दफ़ा आप यह निश्चय कर लीजिये कि आप दूसरे की स्वतन्त्रता नहीं छीनेंगे और न किसी दूसरे देश को आक्रमण में सहायता देंगे तो शान्ति की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। पंचशील के यह सिद्धान्त इतने निर्विवाद हैं कि इनका विरोध सम्भव ही नहीं है।

यह ठीक है कि साम्यवादी देशों के अब तक के इतिहास को देखते हुए अमरीका आदि देश उन पर विश्वास नहीं करना चाहते। उनके इस कथन में भी सचाई अवश्य विद्यमान है कि जो अपने देश में किसी दूसरे राजनैतिक दल की विद्यमानता को सहन नहीं कर सकता, वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सह-अस्तित्व को कैसे स्वीकार करेगा। किन्तु आज आवश्यकता यह है कि इस प्रकार के सन्देहों पर अधिक बल न देते हुए सह-अस्तित्व और एक दूसरे के प्रदेश की अखण्डता और स्वतन्त्रता का सम्मान करते हुए विश्व में से युद्ध के भय को सदा के लिए समाप्त कर दिया जाय। परन्तु इसके लिए राजनैतिक या आर्थिक साम्राज्यवाद का लोभ पहले छोड़ना पड़ेगा।

: २२ :

हमारे पड़ौसी

राजनीतिज्ञ आचार्य महामति चाणक्य ने कहा है कि सामान्यतया पड़ौसी देश अपना शत्रु होता है और उसके साथ का देश अपना मित्र होता है।

चाणक्य की इस उक्ति में काफी सचाई है। संसार का इतिहास और विशेषकर योरुप का इतिहास इसकी पुष्टि करता है। कुशल राजनीतिज्ञ शासकों की विशेषता इस बात में है कि वे यथासम्भव अपने पड़ौसी राज्यों को भी अपना सच्चा मित्र बनाएँ। यदि यह सम्भव न हो सके तो उनकी गतिविधि पर सूक्ष्म निरीक्षण रखें और यह जानकारी रखें कि उन देशों की राजनैतिक, आर्थिक, सामरिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ क्या हैं। इस दृष्टि से हम इन पंक्तियों में अपने पड़ौसी राज्यों की प्रवृत्तियों तथा भारत के साथ सम्बन्धों पर कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे।

बर्मा

भारत के पूर्व में बर्मा हमारा निकटतम पड़ौसी देश है। किसी समय यह भारतवर्ष में सम्मिलित था। १९३५ के विधान के अनुसार अंग्रेज सरकार ने इसे पृथक् देश का रूप दे दिया। यदि ऐसा न किया जाता तो थाइलैंड (स्याम) हमारा पूर्व का पड़ौसी होता। गत महायुद्ध के दिनों में बर्मा ने अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन देखे। जापान ने उस पर अधिकार कर लिया था और वह अंग्रेजी शासन से मुक्त हो गया था। फिर भी जब अंग्रेज सेनाओं द्वारा उसे जापानी शासन से मुक्त किया गया तो वह अंग्रेजी शासन में अधिक समय तक नहीं रह सका। सन् १९४७ के प्रारम्भ में ही उसे स्वतन्त्र कर देने को अंग्रेज लोग विवश हुए। वस्तुतः इस संक्रान्ति-काल में बर्मा में ब्रिटिश शासन की जड़ें बुरी तरह हिल चुकी थीं। स्वाधीन होने के बाद बर्मा को अनेक आन्तरिक संघर्षों और संकटों का सामना करना पड़ा। यह प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय सरकार ने इन संकटों का मुकाबला करने में बर्मा की सरकार को पर्याप्त सहयोग दिया। आर्थिक विपत्तियों में भी बर्मा को भारत से सहायता मिली। इस आर्थिक सहयोग का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने १९३७ से पहले बर्मा में जो भारत-विरोधी भावना पैदा कर दी थी, वह काफी शान्त हो गई। आज भारत और बर्मा परस्पर मित्र हैं। यद्यपि बर्मा अपने आर्थिक स्वार्थों के लिए कभी-कभी आग्रह भी कर बैठता है, फिर भी भारत और बर्मा दोनों देश पंचशील के सिद्धान्तों पर विश्वास करते हुए परस्पर मित्र हैं। बर्मा भी कम्यूनिस्टों की गतिविधि से असन्तुष्ट है जैसे कि भारत। दोनों देश महात्मा बुद्ध के प्रशंसक हैं। थोड़े-बहुत आर्थिक स्वार्थों को

भूलकर भी बर्मा यह अनुभव करने लगा है कि भारत जैसे शक्तिसम्पन्न देश का सहयोगी और मित्र बनकर ही निश्चिन्तता से अपनी उन्नति कर सकता है तथा भारत का सहयोग पाकर ही वह चीनी कम्यूनिस्टों के आक्रमण के सम्भावित खतरे से बच सकेगा। भारत आज पंचशील के जिन सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए एशियायी राष्ट्र-समूह को विश्व-शान्ति की दिशा में पथ-प्रदर्शन कर रहा है, बर्मा की उसमें पूर्ण सहमति है।

अन्य पूर्वी देश

बर्मा के पूर्ववर्ती थाई देश आदि भी भारत के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखते हैं। हिन्द महासागर के मार्ग से सम्बद्ध पूर्वीय एशियायी देश भी भारत के मित्र हैं। इण्डोनेशिया के साथ भारत के बहुत मधुर सम्बन्ध हैं। इसकी पृष्ठभूमि में वस्तुतः दोनों देशों की एक समान परिस्थितियाँ रही हैं। दोनों देशों के प्राचीन काल से सांस्कृतिक सम्बन्ध चले आ रहे हैं। दोनों यूरोपियन साम्राज्य के शिकार थे और अब दोनों स्वतन्त्र हैं। दोनों की हार्दिक अभिलाषा यह है कि एशिया में साम्राज्यवाद किसी तरह जड़ न जमाने पावे। इण्डोनेशिया पर १६४८ के अन्त में जब डच सरकार ने आक्रमण की योजना बनाई तो भारत का पूरा बल उसे मिला। आज हिन्द-चीन भी भारत से स्नेह रखता है। उसके आन्तरिक युद्ध को रोकने में भारत की सर्वाधिक सहायता रही है।

लंका

भारत के दक्षिण में लंका द्वीप है, जिसे भारतवासी प्राचीन काल से जानते हैं। हिंद महासागर में इसकी स्थिति सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह एक आश्चर्य की बात है कि भारत के पैर के अँगूठे के पास रहकर भी यह छोटा-सा राज्य, जिसकी पराजय को हम हजारों वर्षों से विजयादशमी के रूप में बड़े समारोह से मनाते आ रहे है, आज भारत का वशवर्ती नहीं है। विदेशी राजनीति में यह भारत के साथ है। कोलम्बो-योजना तथा एशियायी राष्ट्रों के सम्मेलन के कारण यह सर्वथा भारत से जुड़ा हुआ है। यहाँ की संस्कृति व धर्म पर बुद्ध धर्म का असीम प्रभाव है। भारत से व्यापार पर इसका जीवन निर्भर है, तथापि वहाँ रहने वाले लाखों भारतीय नागरिकों के

साथ इसका व्यवहार अच्छा नहीं है। जब तब यह भारत सरकार की उपेक्षा कर उन्हें परेशान करता है, उन्हें नागरिकता के अधिकार नहीं दिए जाते या उनमें बड़ी अड़चनें डाली जाती हैं। समझौते के अनेक प्रयत्न किये गये, पर अब तक बहुत कम सफलता मिली है। लंका भी आज स्वतन्त्र है, परन्तु आत्म-गौरव व स्वाधीनता की उग्र भावना के कारण वह यह सहन करने को उद्यत नहीं है कि लंका-निवासी तो रोजगार की फिक्र करें, और भारतवासी वहाँ आकर मजे से रोटी कमावें, भले ही लंका के आर्थिक विकास में भारतीय उद्योग-पतियों, व्यापारियों व मजदूरों का असाधारण भाग रहा है और आज भी है। पिछले दिनों उसने केवल सिंहली भाषा को राजभाषा घोषित करके तमिल से संयुक्त राजभाषा का पद छीन लिया है। उसने लोकतन्त्र की घोषणा की है और ब्रिटेन के सैनिक अड्डों को हटाने की माँग ब्रिटेन से अत्यन्त दर्प से की है। भारत ने उसकी इस माँग का पूर्ण समर्थन करके उसका सद्भाव प्राप्त करने का सफल प्रयत्न किया है। निकट भविष्य को देखते हुए यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत व लंका के सम्बन्ध अच्छे रहेंगे। लंका से ब्रिटिश सैनिक अड्डों की समाप्ति भारत के लिए भी हितकर है, क्योंकि ये अड्डे किसी भी समय पाकिस्तान या 'सीटो' संधि के राष्ट्रों के उपयोग में आ सकते थे।

नेपाल

नेपाल समस्त विश्व में एकमात्र राज्य है, जहाँ का राजा हिन्दू है। और विशेषकर भारत में रियासतों के संघ में विलय के बाद यह राज्य वस्तुतः राज-पूत सैनिक वंश का एकमात्र राज्य रहा है। ब्रिटिश काल में इसे भारत सरकार ने आर्थिक सहायता देकर अपने प्रभाव-क्षेत्र में रखा हुआ था। नेपाल भारत सरकार की विदेशी नीति से सदा प्रभावित रहा। भारत से विदेशी शासन समाप्त होते ही वहाँ भी भारत का प्रभाव शिथिल हो गया। वहाँ अनेक विद्रोही तत्त्व सिर उठाने लगे। राजनैतिक दलों में संघर्ष भी शुरू हो गया। राजा अपने को पराधीन और विवश समझने लगा। उसने भागकर भारत सरकार की शरण ली। भारत ने उसे न केवल शान्ति-स्थापना में सहयोग दिया, परन्तु नेपाल के आर्थिक निर्माण के लिए भी पर्याप्त सहायता दी है। इसका परिणाम यह हुआ

कि नेपाल शासन व भारत सरकार के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण हो गए, परन्तु आज भी वहाँ संघर्ष व एक दूसरे दल के विरुद्ध षड्यंत्र जारी हैं। भारत सरकार की दूरदर्शिता यह है कि वह नेपाल में न उपद्रव होने दे, न व्यापक असन्तोष फैलने दे और न कम्यूनिस्ट या गैरकम्यूनिस्टों को सिर उठाने दे। सामरिक दृष्टि से नेपाल का महत्त्व बहुत बढ़ गया है, जबकि चीन एक महान् शक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ है।

तिब्बत

तिब्बत किसी समय स्वतन्त्र राष्ट्र माना जाता था। पंचम लामा उसका शासक था। ब्रिटिश सरकार उसकी सत्ता को मानती थी और आन्तरिक नीति में कोई हस्तक्षेप न करती थी। उसकी गतिविधि का निरीक्षण तथा विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप पर नियंत्रण ब्रिटिश सरकार की नीति थी। वस्तुतः तिब्वत की एक 'बफर स्टेट' (उदासीन राज्य) की सी स्थिति रही। परन्तु भारत से ब्रिटिश सरकार के जाते ही तथा चीन में साम्यवादी सरकार के स्थापित हो जाने पर तिब्बतसम्बन्धी भारत सरकार की नीति बदल गई। कुछ उपेक्षा व उदासीनता की नीति तथा चीन को अप्रसन्न न करने की भावना से तिब्बत को चीन का अंग बनने दिया गया। हमारी नम्र सम्मति में भारत सरकार की यह भूल थी और इसका परिणाम किसी समय भी अवांछनीय हो सकता है। कौन कह सकता है कि चीन और भारत सदा मित्र ही बने रहेगे।

साम्यवादी चीन

तिब्बत के चीन में मिलाये जाने का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि चीन और भारत की सीमा बहुत अधिक दूर तक परस्पर मिल गई। चीन आज महान् शक्तिशाली राष्ट्र है। चागकाई शेक के शिथिल व भ्रष्टाचारपूर्ण शासन की समाप्ति के बाद साम्यवादी शासकों ने उसकी स्थिति को सैनिक व शासन की दृष्टि से मजबूत कर दिया है। साम्यवाद के सम्बन्ध में हमारे कोई भी विचार क्यो न हों, यह एक सिद्ध सत्य है कि साम्यवादी चीन अपनी ५० करोड़ जनसंख्या के साथ दुनिया की एक बडी शक्ति है। रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों के पूर्ण सहयोग के कारण उसका बल बढ गया है। चीन और भारत

दोनों विश्व के अत्यन्त प्राचीन व संस्कृति-सम्पन्न देश रहे हैं। दोनों का पारस्परिक आदान-प्रदान भी प्राचीन काल से रहा है। भारत ने उसे आध्यात्मिक व नैतिक संस्कृति का उपदेश दिया है। बौद्ध धर्म की उस पर अमिट छाप आज भी है। स्वभावतः दोनों देशों की परस्पर सहानुभूति रही है। चीन के अभ्युदय को भारत ने सदा आनन्द व उल्लास के साथ देखा है। स्वतन्त्र भारत की नीति उसके साथ सदा सहयोग और सहानुभूति की रही है। जब साम्यवादी चीन एक प्रबल शक्ति के रूप में उद्भूत हुआ, तो भारत ने उसे हर्षपूर्वक स्वीकार कर लिया और अमेरिका के प्रबल विरोध के बावजूद उसे राष्ट्रसंघ में सम्मिलित करने का वह निरन्तर समर्थन करता रहा है। भारत के लिए अपने अत्यन्त निकटवर्ती महान् शक्तिशाली राष्ट्र को अपना विरोधी बना लेना अदूरदर्शिता ही होती। आज दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत मधुर हैं और दोनों में सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदान-प्रदान भी बहुत हो रहा है। चीन व भारत एशिया की दो महान् शक्तियाँ हैं। इन दोनों के परस्पर सौहार्द से इनका बलऔर भी बढ़ गया है। आज दोनों देशों में पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर परस्पर मित्रतापूर्ण संधि है। इससे दोनों देशों को ही लाभ है। चीन का विशाल बाजार भारत के लिए हितकर है। फिर भी भारत को यह तो सतर्कता रखनी होगी कि इस मित्रता की भावना का चीन अनुचित उपयोग न करे और एशिया में इतना बल न बढ़ा ले कि वह दुर्जेय हो जावे। शक्ति-संतुलन विदेशी राजनीति का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त होता है।

रूस

यद्यपि रूस की सीमा भारत को नहीं छूती है, तथापि काश्मीर से वह भारत के बहुत निकट है। रूसी नेता श्री ख़ुश्चेव ने काश्मीर में कहा था कि "यदि मैं रूस की सीमा में खड़े होकर चिल्लाऊँ, तो मेरी आवाज काश्मीर में सुनाई देगी।" केवल कुछ मीलों का अन्तर दोनों की सीमाओं में है। आज रूस अपने विशालतम प्रदेश, दुर्दमनीय वायु-सैन्य, अणुशक्ति तथा चीन व पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों पर अमित प्रभाव के कारण संसार की अत्यन्त प्रबल शक्ति बन गया है। अमेरिका भी उससे घबराता है और उसका प्रतिरोध करने के लिए सभी प्रकार के संभव साधनों का प्रयोग कर रहा है। रूस और भारत में

ब्रिटिश काल में सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे थे, क्योंकि ब्रिटेन पूँजीवाद व लोकतन्त्र-वाद का समर्थक रहा है और रूस साम्यवाद व आतंकवादी शासन का। दोनों के आर्थिक व राजनैतिक हितों में भी परस्पर विरोध था। भारत ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अपनी नीति बदली। रूस व अमेरिका की कठोर प्रतिस्पर्द्धा में उसने किसी पक्ष का साथ न देकर तटस्थ रहकर सबके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया। रूस को भी आज के युग में अपना बल बढ़ाने के लिए भारत जैसे शक्तिशाली देश का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। रूस की आर्थिक स्थितियों ने भी इसके लिए उसे विवश किया। इधर पं० नेहरू की प्रवृत्ति साम्यवाद की ओर थी। ब्रिटेन व अमेरिका के काश्मीर के मामले में पाकिस्तान-समर्थन ने भारत को रूस की ओर झुकने के लिए प्रेरित किया। पं० नेहरू के रूस में हार्दिक स्वागत और भारत में रूसी नेताओं के उससे भी बढ़कर हार्दिक प्रति-स्वागत ने दोनों देशों के मैत्री सम्बन्ध को बहुत अधिक कर दिया है। सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डलों के आदान-प्रदान से भी यह अधिक पुष्ट हुआ है। आज रूस भारत के औद्योगिक विकास मे भी सहायक हो रहा है। पंचशील के सिद्धांतों के आधार पर दोनों देशों में परस्पर मित्रता संधि हो गई है। परन्तु हमें यह सतर्कता रखनी होगी कि राजनीतिक रूस इस सौहार्द भाव का अनुचित लाभ न उठावे। भारत के कम्यूनिस्ट नेता भारत की अपेक्षा रूस पर अधिक आस्था रखते है, यह किसी समय भी हमारे लिए खतरनाक हो सकता है। राजनीति में आज का मित्र कल भी मित्र रहेगा, इसका निश्चय नहीं है।

पाकिस्तान

भारतवर्ष का निकटतम पड़ौसी पाकिस्तान है। यह कल तक भारत का ही अभिन्न अंग था, ब्रिटिश सरकार की कूटनीति तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता के कारण दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों मे उससे अलग कर दिया गया। उसके दो अंग है—पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान। हजारों मील की सीमा दोनो देशों को मिलाती है। दोनो देशो मे कोई भिन्नता न थी। पेशावर के खान अब्दुल गफ्फारखाँ तथा ढाका व चटगाँव के क्रान्तिकारी कैदी वन्देमातरम् का नारा लगाकर देश को आजाद कर रहे थे। साम्प्रदायिकता के उन्माद ने जिस जघन्य

रक्तपात की प्रेरणा की, वह पाकिस्तान के निर्णय की नींव में है। इसलिए आज समस्त विश्व में भारत का सबसे बड़ा विरोधी पाकिस्तान है। भारत का शासन धर्मनिरपेक्ष या सैकुलर है, पाकिस्तान का राजधर्म इस्लाम है। भारत में हिन्दू-मुसलमान दोनों सुख से रहते हैं, पाकिस्तान में हिन्दू आज भी सताये जा रहे हैं। वहाँ जब-जब आन्तरिक संघर्ष होता है, जनता में असन्तोष तीव्र रूप धारण करता है, तब-तब शासक भारत के प्रति कटु विरोध और घृणा का आन्दोलन शुरू कर देते है। काश्मीर पर पाकिस्तान ने आक्रमण करके और उसके एक भाग पर अधिकार करके भारत से ऐसा विरोध बढ़ा लिया है कि वह शान्त नहीं होने पाता। काश्मीर का प्रश्न दोनों में परस्पर विद्वेष को निरन्तर पुष्ट करता जा रहा है। आज भी दोनों देशों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने सन्नद्ध खड़ी हैं।

रावी से नहरों का सवाल, बिजली का प्रश्न, भारत के नाम निकलती रकम की अदायगी आदि कितने ही मामले, आज तक नही सुलझे है। शरणार्थियों की अरबों रुपयों की सम्पत्ति का प्रश्न भी आज तक हल नहीं हुआ है। भारत जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थ है, पाकिस्तान अमेरिकी गुट में सम्मिलित होकर अमेरिका के हाथ का खिलौना बन गया है। इससे भी भारत युद्ध को अपनी सीमा तक आया देखता है। अमेरिका से सैनिक सामग्री की सहायता के दर्प में पाकिस्तान कभी भी काश्मीर पर आक्रमण कर सकता है। इस तरह भारत का सबसे अधिक निकटवर्ती पड़ौसी देश पाकिस्तान हमारे लिए निरन्तर सिरदर्द का विषय है। पाकिस्तान नहीं बनता या भारत से उसका विरोध न होता, तो निस्संदेह भारत आज से भी चौगुनी उन्नति कर लेता।

अफगानिस्तान

पाकिस्तान का सीमावर्ती अफगानिस्तान है, जिसकी सीमा अखण्ड भारत से मिलती है। उसका पाकिस्तान से विरोध है, अतः भारत व अफगानिस्तान के परस्पर सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं। दोनों में आदान-प्रदान होता है, वहाँ हिन्दुओं के साथ दुर्व्यवहार नहीं होता, गोवध पर भी काफी प्रतिबन्ध है, विश्व-विद्यालयों में भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों को संस्कृत तथा वैदिक साहित्य पढ़ाया जाता है। ईरान, मिश्र आदि देशों की सीमाएं यद्यपि भारत से नहीं

मिलतीं, तथापि मध्य पश्चिमी इन देशों से भारत के राजनैतिक सम्बन्ध अच्छे हैं। वे पाकिस्तान के इस्लाम के नारे से प्रभावित नहीं होते।

इस तरह यदि भारत के पड़ौसी देशों पर एक दृष्टि डाली जाए, तो यह प्रतीत होगा कि पाकिस्तान के सिवाय शेष सब पड़ौसी देशों से भारत के सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं।

: २३ :

महात्मा बुद्ध व उनका संदेश

अभी एक-दो वर्ष पूर्व बुद्ध-पूर्णिमा (२४ मई १९५६) को भारत तथा अन्य अनेक पूर्वी एशिया के देशों ने महात्मा बुद्ध का २५००वाँ स्मृति-दिवस मना कर भारत और विश्व की एक पवित्रतम, विशुद्धतम और उदात्ततम विभूति के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की थी। वस्तुतः महात्मा बुद्ध यद्यपि भारत में उत्पन्न हुए थे, पर वे विश्व की एक महान् गौरवपूर्ण विभूति थे। उन जैसे महान् मानव पर भारत ही नहीं, समस्त विश्व गर्व कर सकता है। उनकी मानवता को किसी देश या काल में सीमित नहीं किया जा सकता। उनकी मानवता तो मनुष्य की सीमा भी पार कर विश्व के प्राणिमात्र तक व्याप्त थी। महान् चरित्र के महान् संदेश ने जिस तरह आज से २५०० वर्ष पूर्व केवल प्रेम, शिक्षा और उपदेश के द्वारा विश्व के विशाल प्रदेशों में लोकप्रियता प्राप्त की थी, उसका उदाहरण मानव इतिहास में नहीं मिलता।

जिस समय महात्मा बुद्ध ने भारत में जन्म लिया, उस समय देश में अनेक धार्मिक व सामाजिक कुरीतियाँ व्यापक रूप से विद्यमान थीं। लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर रूढ़िवाद में ग्रस्त थे। चरित्र और आचरण की किसी को चिन्ता नहीं थी। जात-पाँत और बाह्य आडंबर का जोर था। यज्ञ और कर्मकाण्डों का बहुत प्रचलन था, परन्तु उनमें पशुओं की बलि और मांसाहार धर्म का विशेष अंग बन गया था। वस्तुतः धर्म धर्म न रहा था।

उसका कंकाल मात्र रह गया था। जो दुर्दशा सामाजिक क्षेत्रों में थी, राजनैतिक क्षेत्र में भी वही हालत थी। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। राजा परस्पर एक दूसरे से युद्ध कर अपनी राज्य-सीमा को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते थे। इस कारण राजवंशों में वैर-द्वेष की भावना बहुत बढ़ गई थी। ऐसे समय में भारत की पवित्र भूमि पर महात्मा बुद्ध जैसे पुण्य आत्मा का आविर्भाव हुआ।

महाराजा शुद्धोदन के यहाँ जन्म लेकर सिद्धार्थ ने बाल्यावस्था में ही अपनी विशेषताओं का प्रदर्शन शुरु कर दिया। राजवंश की सब सुख-सुविधाएँ होते हुए भी उनमें अनुराग न था। संसार के दुःखों को देखकर उनसे मुक्ति की भावना विद्यार्थी जीवन में ही अंकुरित हो गई थी। युवावस्था में एक वृद्ध, एक रोगी और एक शव को देखकर तथा दूसरी ओर एक प्रसन्न साधु का भव्य चेहरा देखकर वैराग्य की भावना प्रबलतर हो गई। माता-पिता के द्वारा डाला गया विवाह-बन्धन और रूपसी पत्नी का मोह भी वैराग्य की प्रदीप्त भावना को शान्त नहीं कर सका। घर-बार छोड़कर संसार के दुःखों से बचने और सच्चा धर्म जानने के लिए उन्होंने तरह-तरह के प्रयत्न व परीक्षण किए। वर्षों की भाग-दौड़ तथा शरीर को कृश करने वाली कठोर तपस्या से भी हृदय को शान्ति नहीं हुई। जो वस्तु वर्षों की भाग-दौड़ से नहीं मिली, वह अन्तर्दृष्टि से कुछ समय में प्राप्त हो गई। निरंजना नदी के तट पर एक पीपल के पेड़ के नीचे अनेक दिनों तक समाधि के बाद उन्हें वह प्रकाश मिल गया, जिसे तलाश करने के लिए वह घर के बाहर निकले थे।

महात्मा बुद्ध को ज्ञान

उनको यह ज्ञान हुआ कि वास्तविक धर्म शरीर को तपाने तथा यज्ञों में पशुओं की बलि देने में नहीं है, सच्चे और सदाचारमय जीवन व्यतीत करने में है। बस, इस बोध के साथ राजकुमार सिद्धार्थ बुद्ध हो गए, सचमुच ज्ञानी हो गए। उन्होंने जिस धर्म का अनुभव किया, वह धम्मपद के तीन-चार श्लोकों से प्रकट होता है। इन श्लोकों का आशय निम्नलिखित है—

"बहुत बोलने से धर्मधर नहीं होता। जो थोड़ा भी सुनकर शरीर से

धर्म का आचरण करता है, और जो धर्म में असावधानी नहीं करता, वह धर्मधर है।"

"केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं हो सकता। जो मिथ्या बोलता है और सांसारिक लाभ की इच्छा रखता है, वह श्रमण कैसे कहला सकता है।"

श्रमण कौन है, इस प्रश्न का उत्तर महात्मा बुद्ध ने निम्नलिखित रूप में दिया है—

"जो यहाँ पाप से अलग होकर ब्रह्मचारी बन, ज्ञान के साथ लोक में विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है।"

"जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और नियम है, वही विगतमल, धीर और स्थविर कहा जाता है।"

उस समय क्षुद्र राजकीय संघर्षो और वैर व द्वेष-अग्नि में जलने वाले राज-परिवारों को उन्होंने संदेश दिया कि—यहाँ वैर से वैर शान्त नहीं होता, अवैर से वैर शान्त होता है। यही सच्चा सनातन धर्म है। वे जानते थे कि मानव के मन में प्रविष्ट पशुत्व को निकालने के लिए अहिंसा व प्रेम का प्रचार करना होगा। उन्होंने यज्ञ मे पशु-बलि देने का तीव्र विरोध किया, क्योंकि आत्मा, हृदय व प्राण तो पशु-पक्षी में भी हैं। मूक प्राणियो के प्रति दया-भाव उनके हृदय में बाल-अवस्था से था। जब देवदत्त ने एक हंस को तीर मारकर गिरा दिया था, बुद्ध ने उसका तीर निकालकर उसकी रक्षा की थी।

चार सत्य

उस समय के जटिल कर्म-काण्ड तथा विविध शास्त्रों की बजाय उन्होंने धर्म का सरल स्वरूप निम्नलिखित आर्य सत्य चतुष्टय के रूप में प्रकट किया—

१. संसार मे दुःख है। जरा में, मृत्यु में, अप्रिय के मिलने में और प्रिय के वियोग में दुःख ही दुःख है।

२. दुःख का मूल कारण तृष्णा है। रात-दिन बढती हुई अभिलाषा ही दुःखो को उत्पन्न करती है।

३. मनुष्य दुःख से छूटना चाहता है।

४. दुःख से छूटने का उपाय अष्टाग मार्ग है—सत्य दृष्टि, सत्य संकल्प, सत्य वचन, सत्य कर्म, सत्य आजीविका, सत्य व्यायाम, सत्य स्मृति एवं सत्य समाधि।

इस तरह मिथ्या ज्ञान व जटिल हिंसापूर्ण कर्म-काण्ड से परेशान लोगों को महात्मा बुद्ध ने व्यावहारिक सत्य के मार्ग का उपदेश दिया। इस सरल मार्ग को राजा और प्रजा दोनो ने अपनाया। देश में फैले हुए हजारों भिक्षुओं द्वारा लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षा व सम्राट् अशोक की शस्त्रविजय छोड़कर धर्म-विजय की ओर प्रवृत्ति इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

महात्मा बुद्ध व कर्मण्यता

महात्मा बुद्ध की अहिंसा व शान्ति की शिक्षाओं में अनेक विचारकों ने देश में बाद में फैले हुए अकर्मण्यता, उदासीनता तथा राजनैतिक पराधीनता के कारण तलाश करने का प्रयत्न किया है, किन्तु ये आरोप निराधार हैं। अकर्मण्यता का संदेश तो देश भर को अकर्मण्य बना देता, परन्तु हम देखते है कि महात्मा बुद्ध के अवसान के कुछ वर्षों बाद समस्त देश में ही बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं हुआ; हमारे देश के भिक्षु एक ओर विशाल समुद्र के वक्ष-स्थल को चीरकर सुदूरवर्त्ती पूर्वीय देशों और द्वीपों में बौद्ध धर्म व भारतीय संस्कृति का संदेश देने पहुँचे, दूसरी ओर महान् हिमालय की दुर्लघ्य बरफीली गिरिमाला को पार कर तिब्बत, चीन और अफगानिस्तान में गये। यह वह महान् संदेश था, जिसे बहुत थोड़े समय में संसार के एक विशाल भाग ने जिसमें चीन, बर्मा, लंका, इण्डोनेशिया, इण्डोचीन और जापान सम्मिलित है, अपना लिया। यह धर्म निष्कर्मण्यता और निर्जीवता का न था, प्राणवान् और बलवान् था। बौद्ध-कालीन भारत, साहित्य व कला में ही नहीं, भौतिक दृष्टि से भी अत्यन्त समृद्ध था। भारत के गौरवमय इतिहास की रचना इसी काल में की गई थी। नालन्दा और तक्षशिला के गौरवशाली विश्वविद्यालय, अजन्ता की कलापूर्ण कृतियाँ, सांची व सारनाथ आदि के विशाल स्तूप, देश भर में फैला हुआ सम्राट् अशोक का विशाल समर्थ राज्य और विदेशो से आते हुए स्वर्ण-रत्नों का अजस्र प्रवाह सभी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि महात्मा बुद्ध का संदेश जीवन

में से अपवित्रता व पशुत्व को दूर कर मानव को संप्राण, बलवान और सक्रिय एवं सदाचारी बनाता था।

: २४ :

युग-प्रवर्तक दयानन्द

जो महान् आत्माएँ शताब्दियों बाद दुर्दशा-ग्रस्त समाज और देश का उद्धार करने के लिए पुण्यभूमि भारत में अवतरित हुई हैं, उनमें ऋषि दयानन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऋषि दयानन्द ने भारत में ऐसे समय जन्म लिया था, जब देश की स्थिति बहुत चिन्तनीय थी। एक ओर हिन्दू समाज अपनी आन्तरिक कुरीतियों के कारण जर्जर और खोखला हो रहा था, दूसरी ओर पश्चिम की चकाचौंध भारत के शिक्षित समाज को अभिभूत करती जा रही थी। एक ओर अन्ध श्रद्धा, अशिक्षा, निष्कर्मण्यता और विकृत परम्पराएँ हिन्दू समाज को निर्जीव और निःसत्व कर रही थीं, दूसरी ओर विदेशी शासक अपनी सत्ता का दुरुपयोग करते हुए भारत को मानसिक दृष्टि से भी दास बनाने का षड्यन्त्र कर रहे थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपने देश के अतीत गौरव को भूल रहे थे, अपने देश के धर्म, अपने देश की भाषा, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति और रहन-सहन से घृणा करने लगे थे। उनके लिए भारतवर्ष जैसे कुछ था ही नहीं, जो कुछ था यूरोप और उसकी सभ्यता थी। इन दोनों प्रवृत्तियों का परिणाम था देश की अवनति; भारतीय धर्म, भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति का पतन। आन्तरिक और बाह्य दोनों शत्रु भारतीय समाज के लिए खतरनाक थे।

जन्म, बोध व शिक्षा

ऋषि दयानन्द का जन्म गुजरात की उसी पुण्यभूमि में १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण के अन्त में हुआ था, जिसमें आधी सदी बाद विश्व की सर्वश्रेष्ठ

विभूति महात्मा गांधी ने अवतार लिया। बालक मूलशंकर प्रारम्भ से ही मेधावी था। १४ वर्ष की आयु तक बहुत से शास्त्र व ग्रन्थ कण्ठस्थ कर लिये थे। पिता शैव थे, उन्होंने एक दिन मूलशंकर से भी शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा। श्रद्धालु बालक ने व्रत रखा। मन्दिर में जब सब बड़े-बूढ़े सो गये, यह बालक बड़ी श्रद्धा के साथ जागता रहा। मूर्ति पर चूहों को मिठाई खाते देख बालक की जिज्ञासा जाग उठी कि क्या यह भगवान् शिव चूहों को भी नहीं हटा सकते। पूछने पर पिता ने बताया कि यह सच्चा शिव नहीं है, वे तो कैलाश पर्वत पर रहते हैं। बस, सच्चे शिव की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। घर छोड़ा, जंगलों की खाक छानी, वर्षों तक घोर तपस्या की और जिज्ञासा तभी शान्त हुई, जब वर्षों बाद गुरु विरजानन्दजी के चरणों में बैठकर सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया।

निर्भीक प्रचार और बलिदान

आजन्म संन्यासी रहकर दयानन्द ने देश भर में घूम-घूम कर सत्य ज्ञान का प्रचार किया। मार्ग में कितनी बाधाएँ आई, कितने प्रलोभन मिले, किन्तु गुरु के आगे जो प्रतिज्ञा की थी, वह पूर्ण किये बिना एक क्षण का आराम नहीं लिया। कार्य कठिन था, लोग किसी तरह अपने पुराने कुसंस्कारों को छोड़ने के लिए उद्यत न होते थे। वेदादि शास्त्रों का ज्ञान न रहा था, प्रकाण्ड पंडित भी स्वतन्त्र दृष्टि न रखते थे, बाबा वाक्य को प्रमाण मानकर लकीर पर चले जा रहे थे। ऋषि दयानन्द अकेला दृढ़ संकल्प करके खड़ा हो गया और एक ओर भारतीय समाज को नष्ट करने वाली सामाजिक कुरीतियों तथा अन्ध श्रद्धा व अज्ञान पर कठोर प्रहार करने लगा, दूसरी ओर भारतीय सभ्यता और भारतीय धर्म के प्रति प्रेम व आस्था का प्रचार करने लगा। एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना था—एक आन्तरिक शत्रु का मुकाबला और दूसरे बाह्य शत्रु का प्रतिकार। इन दोनों कार्यों में वह महान् ऋषि सफल हुआ। ऋषि ने तर्क और बुद्धिवाद का आश्रय लिया और हमें स्वतन्त्र दृष्टि दी। उन्होंने बताया कि किसी बात को तब तक मत स्वीकार करो, जब तक कि तर्क और युक्ति से वह सत्य सिद्ध न हो जाए। मध्यकाल में जो कुरीतियाँ विभिन्न कारणों से भारतीय समाज में जड़ जमा चुकी थी और भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों का जो जाल-सा फैल चुका था, उन

सबके विरुद्ध वह खड़ा हो गया। उसने एक साथ ही बाल-विवाह, अनमेल विवाह, जात-पाँत और छूआछूत का विरोध किया ; झूठे अवैज्ञानिक विश्वासों और मिथ्या धारणाओं का खण्डन किया। उन्होंने बताया कि जन्म से कोई ऊँच-नीच नहीं होता, सभी परमात्मा के पुत्र हैं। गुण-कर्म से ही वर्ण होते है। वेद पढ़ने और यज्ञ करने का सभी को एक समान अधिकार है। स्त्री और पुरुष तथा दलित और ब्राह्मण एक समान हैं। धर्म के नाम पर दम्भ करने और भोली-भाली जनता को बहकाने वालों के विरुद्ध उन्होंने कठोर वाणी का प्रयोग किया। हिन्दू-धर्म पर जो लांछन लग रहे थे, उन्हें दूर कर धर्म का वास्तविक रूप दिखाने में वे सफल हुए।

भारतीयता व राष्ट्रीयता

दूसरी ओर उन्होंने भारतीय सभ्यता, भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन का प्रबल समर्थन किया। अंग्रेजी सभ्यता के प्रवाह में बहने वाले भारतीय शिक्षित वर्ग को सम्बोधन करते हुए उस देशभक्त स्वाभिमानी संन्यासी ने कहा—हमारा भारत सभ्यता का आदिगुरु देश था। यहाँ के वेद-शास्त्र, यहाँ का धर्म, यहाँ के दर्शन, सभी वैज्ञानिक दृढ़ आधार पर स्थित हैं। उन्हीं को अपनाने से देश और विश्व का कल्याण हो सकता है। पश्चिम की भौतिक संस्कृति विश्व को विनाश की ओर ले जाने वाली है। भारत के अतीत गौरव का स्मरण करा-कर उन्होंने देशवासियों में स्वाभिमान की वह भावना उत्पन्न कर दी, जिसे नष्ट करने के लिए अंग्रेज सरकार ने मैकाले की शिक्षा-योजना का षड्यन्त्र किया था। उन्होंने ललकारकर कहा कि पश्चिम का ईसाई मत और बाईबल अवैज्ञानिक तथा वैदिक धर्म की तुलना मे हेय है। वेद को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए उन्होंने उस हीन भावना को दूर कर दिया, जो अंग्रेजी शिक्षा व शासन के कारण हम लोगों में पैदा हो रही थी। भारतीय गौरव का स्मरण कराने के साथ ही उन्होंने हमें स्वराज्य का संदेश भी दिया। उन्होंने आज से तीन-चौथाई शताब्दी पूर्व स्पष्ट घोषणा की कि अच्छे मे अच्छा विदेशी राज्य भी बुरे से बुरे स्वदेशी शासन से बुरा होता है। ऋषि ने अत्यन्त दूर-दृष्टि मे देख लिया था कि हिन्दी ही समस्त देश की राष्ट्र-भाषा होगी। उन्होंने गुजराती होते हुए भी अपने समस्त ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। स्वदेशी कपडे और स्वदेशी व्यवसाय का विचार उन्होंने

निर्भीकता से रखा। यह आत्मगौरव व स्वदेश-प्रेम और समाज-सुधार की बहु-मुखी भावना थी, जिसने कुछ वर्षो बाद देश में नई राष्ट्रीय व उदार भावना को जन्म दिया। किसी भी देश की राजनैतिक क्रान्ति से पूर्व सामाजिक व विचार क्रान्ति अनिवार्य हुआ करती है। ऋषि दयानन्द ने वही क्रान्ति करके भारत के पुनर्जागरण की वह दृढ़ आधारशिला रखी, जिस पर स्वतन्त्र नवीन भारत का भवन स्थिरता से खड़ा किया जा रहा है।

वस्तुतः उस वीर ने अकेले अनेक मोर्चों पर संग्राम करके एक नई अग्नि प्रज्वलित कर दी। अमेरिका के एक विचारक डेविस ने ऋषि की ओर संकेत करते हुए लिखा था—"गंगा के किनारे प्रदीप्त हुई यह आग संसार भर की कुरीतियों को भस्मसात् कर देगी। भ्रान्त विधर्मी इस आग को बुझाने का प्रयत्न करेंगे, पर इससे आग और भी प्रज्वलित होगी।" योगी डेविस की यह भविष्यवाणी पूर्ण हुई। भारतवर्ष सदियों की गहरी निद्रा से जाग खड़ा हुआ; सामाजिक, राजनैतिक और मानसिक सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ गया। हिन्दी, अस्पृश्यता-निवारण, झूठी जात-पाँत, नारी-सुधार, शिक्षा, गुरुकुल प्रथा, देश-प्रेम, स्वराज्य आदि सभी दिशाओं के निर्देश वह क्रान्तिदर्शी युगनेता ऋषि कर गया था। उसके कुछ स्वप्न पूर्ण हो चुके हैं और शेष को पूर्ण करना हमारा काम है।

: २५ :

महान् मानव गांधी

महात्मा गांधी जैसी विभूतियाँ सदियों बाद आती हैं। राजनैतिक नेता प्रायः प्रत्येक देश में होते रहते हैं, बड़े-बड़े कुशल सेनापतियों के भी नाम हम पढ़ते रहते हैं, सामाजिक सुधारकों के भी दर्शन समय-समय पर होते रहे हैं, विचारकों एवं दार्शनिकों की कृतियाँ भी प्रत्येक युग में जनता को मिलती रही

हैं और साहित्यकारों एवं लेखकों के दर्शन भी प्रायः प्रत्येक देश में होते रहते हैं। इन सब का समन्वय महात्मा गांधी में था। वे राजनैतिक नेता, कुशल सेनापति, समाज-सुधारक, विचारक, दार्शनिक, साहित्यिक सब कुछ एक साथ थे। परन्तु महात्मा गांधी इन सबसे ऊपर भी थे। वे एक नवीन संदेश संसार को देना चाहते थे ; उनका एक नया दृष्टिकोण था। समस्त संसार अत्यन्त वेग के साथ जिस दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा था, उस मार्ग में वे एक दृढ़ अविचल चट्टान की भाँति आकर खड़े हो गये। एशिया की संस्कृति पराजित हो चुकी थी। यूरोप अपने आडम्बरपूर्ण अमित साधनों और झंझावात तथा भूकम्प जैसी प्रचण्ड शक्ति के साथ और उससे भी बढ़कर चकाचौंध करने वाली चमक व दीप्ति के साथ समस्त विश्व पर छा गया था। वह इस भौतिक संसार को नग्न सत्य के रूप में देखने को उत्सुक था। यूरोपियन भौतिकवादी संस्कृति अत्यन्त गौरव, प्रतिष्ठा और समारोह के साथ सारे संसार में प्रतिष्ठित हो गई। सभी देश उसी दिशा में प्रवाहित होने लगे।

परन्तु महात्मा गांधी की तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टि को यूरोपियन संस्कृति की आडम्बरमयता और चकाचौंध भ्रान्त न कर सकी। समस्त आडम्बरों और प्रपंचों को भेदकर गहराई तक जाने वाली उनकी प्रतिभा ने देखा कि यूरोप प्रकृति पर विजय पाने का गर्व कर रहा है, लेकिन अपने वास्तविक शत्रु द्वारा स्वयं परास्त है, उसके आगे घुटने टेक दिये हैं। इसका कारण भी उन्होंने पहचान लिया। यूरोप की दृष्टि बहिर्मुखी थी। उसने प्रकृति पर विजय पा ली थी। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी न थी, इसलिए मन और उसकी वासना पर विजय पाने का उसे ध्यान ही न रहा। परमाणु की प्रचण्ड शक्ति पाकर भी वह पराजित था। गांधी जी उस प्रवाह के मार्ग में दृढ़ चट्टान की तरह आकर अविचल भाव से खड़े हो गए और अपनी नम्र, परन्तु ओजस्विनी वाणी में उन्होंने मानव-जाति को आदेश दिया—"लौटो, यह मार्ग विध्वंस का है, कल्याण का नहीं है।"

गाधी जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि का ही परिणाम यह था कि वे राजनैतिक स्वतन्त्रता जैसी महत्त्वपूर्ण परन्तु भौतिक वस्तु की प्राप्ति के लिए अहिंसा, सत्य-सदाचार और आत्मबल पर जोर देते थे। उनके निकट अहिंसा कभी

साधन नहीं रही, वह उनके निकट अन्तिम लक्ष्य थी, क्योंकि वह उनके आन्तरिक शत्रु पर विजय पाती थी। पशुबल के प्रयोग से पशुबल की वृद्धि होती है, हिंसा से उत्तरोत्तर हिंसा की वृद्धि होती है, यह परिणाम था उनके चिंतन और मनन का। उन्होंने भारत को और उसके रूप में मानव-जाति को दूसरा मार्ग बताया। यह दूसरा मार्ग ग्रहण का नहीं था, अपरिग्रह का था। यह मार्ग आडम्बरपूर्ण जीवन का नहीं था, सादगी का था। यह मार्ग शोषण का नहीं था, सेवा और त्याग का था। यह मार्ग बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों का नहीं था, आन्तरिक सत्य के आविष्कार का था। यह मार्ग केवल भौतिक प्रकृति पर विजय पाने का नहीं था, मानसिक प्रकृति और उसकी भावनाओं पर विजय पाने का था। यह मार्ग क्षात्र या धन-बल का नहीं था, ब्रह्म-बल और आत्म-बल का था।

गांधी जी की इस शिक्षा के भौतिक रूप थे चर्खा, ग्रामोद्योग, पंचायतें, अस्पृश्यता-निवारण, सरल जीवन और अहिंसात्मक सत्याग्रह आदि। हमारे लिए चर्खा विदेशी आर्थिक और राजनैतिक पराधीनता से मुक्ति का एक साधनमात्र था, परन्तु गांधी जी के निकट यह राम तक पहुँचने का अमोघ साधन था; क्योंकि चर्खा त्याग और परिश्रम के साथ-साथ आर्थिक जगत् में होने वाले समस्त शोषण को मूलतः नष्ट करने का प्रतीक भी था। वे उस प्रलोभन को ही नष्ट कर देना चाहते थे, जिसके वशवर्ती होकर राजनैतिक या आर्थिक साम्राज्यवाद की ओर मनुष्य का मन बहने लगता है। यही कारण था कि वे भारी मशीनों के विरोधी थे।

वे मशीनरी को इस कारण भी नापसंद करते थे कि उससे आत्मा का—व्यक्ति का—स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है, वह भी मशीन का एक निर्जीव पुर्जा बन जाता है। आत्मा का यह हनन उस महान् आत्मा को सहन कैसे होता? लाखों-करोड़ों रुपये से भी अधिक मूल्यवान् वे मानव को समझते थे। अस्पृश्यता-निवारण भी उनके निकट मोक्ष का साधन था। मानव द्वारा मानव की अवहेलना उनके निकट आत्मा का अपमान था, घोर पाप था। वायसराय-भवन (अब राष्ट्रपति-भवन) महतरों को दे देने में उन्हें किसी तरह की भी दुविधा न थी। उनकी दृष्टि में मानव मानव में कोई अन्तर न था।

साम्यवाद और गांधीवाद दोनों वर्ग-हीन समाज का निर्माण चाहते हैं, किन्तु दोनों में एक अन्तर है। साम्यवाद समानता का केवल भौतिक रूप लेता है। वह राज्य को सर्वोपरि मानता है (भले ही वह राज्य जनता का हो) लेकिन वही राज्य व्यक्ति के अधिकारों को निश्शेष कर देता है। वह उसके अधीन होकर एक पुर्जा बन जाता है। गांधी जी राज्य का विकेन्द्रीकरण चाहते थे, ताकि पुरुष अधिक-से-अधिक स्वातन्त्र्य का भोग करे। स्टालिन का वोलशेविज्म हो या हिटलर का नाज़ीवाद, वहाँ व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का स्थान नहीं है, इसके विपरीत गांधी जी विरोधियों के प्रति और अधिक उदारता का समर्थन करते थे। गांधी काँग्रेस पर हावी न हो जाय, इसीलिए वे काँग्रेस की चवन्नी-सदस्यता तक छोड़ देते थे। स्टालिन के यहाँ आत्मा का नहीं; शरीर का महत्त्व है। गांधी जी आत्मा को सर्वोच्च समझते थे। एक का दृष्टिकोण भौतिक था, दूसरे का आध्यात्मिक। इसी कारण गांधी जी सम्पन्न वर्ग को स्वयं त्याग करने का उपदेश देते रहे। सरकारी मन्त्री भी ५००) से अधिक वेतन न लें, यह उनका आग्रह था। स्टालिन यह सब काम दण्ड द्वारा कराना चाहता है।

हमारी पुण्यमयी भारत-जननी का यह सौभाग्य रहा है कि उसकी कोख में महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर, सम्राट् अशोक, ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे पुण्यात्मा नेता उत्पन्न होते रहे हैं। प्रसिद्ध सम्राट् होकर भी अशोक धर्म का महान् प्रचारक था और ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने वाला गांधी मानवता और आत्मा का पुजारी था। मानवता, शान्ति और अहिंसा का यह देवता हमारे साम्प्रदायिक उन्माद पर बलि हो गया। उसका बलिदान चमकने वाले उसके समस्त जीवन से भी अधिक गौरवपूर्ण था। यह राजनैतिक संघर्ष न था, मानवता की रक्षा का प्रश्न था। वह मानव में पशुता को नहीं देख सकता था। वे चले गये, परन्तु पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में तेज का वह महान् पुञ्ज विश्व को सदियों व हज़ारों वर्षों तक ज्योति व प्रकाश देता रहेगा।

: २६ :

लोकमान्य तिलक

"लोकमान्य जनता के आराध्य देव थे। उनके वचन हजारों लोगों के लिए वेद-वाक्य थे। वे पुरुषों में पुरुष सिंह थे। देश-भक्ति उनका धर्म हो गई थी। वे नवीन भारत के निर्माता थे। उन्होंने निःसन्देह स्वराज्य प्राप्त करने की अवधि कई वर्ष कम कर दी। भारतीय उनको यह कहकर स्मरण करेंगे कि वह एक पुरुष था, जो हमारे लिए जन्मा और हमारे लिए मरा।"

—महात्मा गांधी

बाल गंगाधर तिलक का प्रादुर्भाव उस समय हुआ, जब भारत में विदेशी सत्ता का अन्धकार अपने घने रूप में छाया हुआ था। १८५७ के महान् विद्रोह को ब्रिटिश शासन कुचलकर अपनी शक्ति अजेय कर चुका था। समस्त देश में प्रजा पर आतंक छाया हुआ था। किसी को स्वराज्य की कल्पना भी नहीं रही थी। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग ब्रिटिश शासन की न्यायपरायणता तथा अंग्रेज़ जाति की उदारता पर विश्वास करते थे। देश के शासकों के सामने अपने दुःख प्रकट कर उनके निवारण के अनुरोध के लिए १८८५ ई० में काँग्रेस की स्थापना हुई थी। तत्कालीन काँग्रेसी नेता ब्रिटिश शासन से अनुनय-विनय करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। ऐसे समय में लोकमान्य तिलक ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। वस्तुतः वे बहुत पहले ही यह अनुभव करने लगे थे कि अंग्रेज़ी शासन में न्याय नहीं है। जब सरकार ने १८७५ में बड़ौदा के महाराज को विष देने का अपराधी घोषित कर दिया और इस सम्बन्ध में लोकमत की भी उपेक्षा कर दी, तब लोकमान्य के कान खड़े हो गए। उन्होंने यह अनुभव किया कि देशवासी किस प्रकार असहाय बना दिये गए हैं। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं अपना जीवन देश को शिक्षित और जागृत करने में अर्पित कर दूंगा। वे चाहते तो वकालत के द्वारा अपना घर भर सकते थे, परन्तु वे सार्व-

जनिक सेवा की भावना से अनुप्राणित थे। उन्होंने पूना में न्यू-इंगलिश स्कूल और कुछ समय बाद डैकिन ऐजूकेशन सोसायटी की स्थापना की और कुछ वर्ष बाद फर्गू सन कालिज स्थापित कर दिया।

'केसरी' व 'मराठा'

एक ओर वे विद्यार्थियों में शिक्षा का प्रचार कर रहे थे, दूसरी तरफ उन्होंने जन-सामान्य को शिक्षित करने के लिए 'केसरी' और 'मराठा' पत्र निकाले। इन दोनों पत्रों के द्वारा लोकमान्य तिलक ने जन-सामान्य में देश-भक्ति और प्रत्येक प्रश्न पर स्वतन्त्र विचार करने की दृष्टि उत्पन्न की। 'केसरी' वास्तव में दहाड़ता था। जहाँ ब्रिटिश शासक उसे सुनकर काँप उठता था, वहाँ जनता के हृदय में अपूर्व शक्ति का संचार होता था। इसलिए सरकार ने उन पर दमन का वार करना शुरू किया। उन्हें अनेक लेखों के लिए बार-बार जेल जाना पड़ा। वे जितनी बार जेल जाते, उतना ही जनता में अधिक लोकप्रिय हो जाते। १९०८ में उन्हें छ: वर्ष के लिए काले पानी की सजा सुनाई गई। जब उन्हें यह सजा सुनाई गई, तब उन्होंने निर्भीकता-पूर्वक कहा कि "मैं निरपराध हूँ। इस संसार में ऐसी बड़ी शक्तियाँ भी हैं, जो सम्पूर्ण जगत् का व्यवहार चलाती हैं। सम्भव है कि ईश्वर की इच्छा यही हो कि जो कार्य मुझे प्रिय है, वह मेरे आज़ाद रहने की अपेक्षा कष्ट-सहन से अधिक फले-फूले।"

वे सबसे पहले कॉंग्रेस में १८८९ में सम्मिलित हुए, लेकिन कुछ वर्षों में उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि कॉंग्रेस की अनुनय-विनय की नीति द्वारा कुछ होने वाला नहीं है। उन्होंने ही कॉंग्रेस में दृढ़ता-पूर्वक पहले-पहल यह घोषणा की कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।" देश के राष्ट्रीय संग्राम में इस नये मन्त्र का असाधारण महत्त्व रहा है। आगे आने वाले काँग्रेसी नेताओं ने और जनता ने सदा इस मन्त्र को अपना आदर्श मानते हुए उसके लिए प्रयत्न किया है। यही नारा था, जिसके परिणाम-स्वरूप हमें यह स्वाधीनता मिली। अपनी दृढ़ और उग्र नीति के कारण उन्हें तत्कालीन काँग्रेसी नेताओं का विरोध भी करना पड़ा और सूरत-अधिवेशन के बाद कॉंग्रेस से अलग हो गये।

असन्तोष का जनक

कांग्रेस से अलग होने का अर्थ सार्वजनिक जीवन से पृथक्ता नहीं था। वे देश की सेवा में तो और भी प्राणपण से जुट गये। महाराष्ट्र में गणपति-उत्सव और शिवाजी-उत्सव के समारोह उनके प्रयत्नों से अत्यन्त सजीव हो गये। दोनों उत्सव महाराष्ट्र में राष्ट्रीयता व देश-भक्ति की प्रेरणा देने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। वस्तुत: वे देश में विदेशी शासन के विरुद्ध घोर असंतोष उत्पन्न करना चाहते थे और इसमें वे सफल भी हुए। सर वेलाटाइन शिरोल ने उन्हें भारत में अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध 'अशान्ति व असन्तोष का जनक' कहकर एक सत्य का ही प्रतिपादन किया था। १६०८ में उन्हें ६ वर्ष का कठोर कारावास मिला और वे माँडले भेज दिए गए। सरकार समझती थी कि इस लम्बे देश-निर्वासन से जनता उन्हें भूल जाएगी, परन्तु १६१५ में जब वे जेल से लौटे, जनता ने उन्हें अपनी आँखों पर लिया। १६१६ में वे लखनऊ कांग्रेस में सम्मिलित हुए। दो-तीन साल बाद महात्मा गांधी ने देश के राजनैतिक क्षेत्र में सम्पूर्ण प्रभावशाली व्यक्तित्व के साथ प्रवेश किया। १ अगस्त १६२० को जब देश में असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ होने वाला था, राष्ट्रीय जागृति के अग्रदूत, राष्ट्रीय संग्राम के महान् सेनानी, कर्मयोगी तिलक ने राष्ट्र की मुक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करने के बाद महाप्रयाण के लिए कूच कर दिया।

गीता-रहस्य

लोकमान्य तिलक की राष्ट्र-सेवा चाहे कितनी शानदार एवं वीरतापूर्ण रही हो, इससे उनके व्यक्तित्व का एक पहलू ही ज्ञात होता है। वे परम कोटि के विद्वान् थे। प्राचीन वैदिक व धार्मिक साहित्य के वे अगाध पण्डित थे। पश्चिमी साहित्य का भी उन्हें असाधारण ज्ञान था। उनकी लिखी 'ओरायन', 'आर्क्टिक होम इन दी वेदाज़' और 'गीता-रहस्य' ने उन्हें भारत का एक प्रकाण्ड विद्वान् सिद्ध कर दिया। यदि वे राजनीतिक संग्राम में न कूदकर केवल उपर्युक्त ग्रन्थ ही लिखते, तो भी अमर हो जाते। गीता हिन्दुओं का प्रसिद्ध उत्कृष्ट धर्म-ग्रन्थ है। शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों ने उसका ज्ञानपरक अर्थ करके संसार से विरक्ति का उपदेश दिया था, परन्तु लोकमान्य तिलक ने गीता को कर्मक्षेत्र

का प्रेरक ग्रन्थ कहकर राष्ट्र को उपदेश दिया कि संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। इसलिए कर्मभूमि संसार के संघर्ष में मनुष्य को कर्त्तव्य-पथ से च्युत नहीं होना चाहिए। 'गीता-रहस्य' ८५० पृष्ठों का एक महान् ग्रन्थ है। सैकड़ों ग्रन्थों का अनुशीलन करने के बाद यह ग्रन्थ लिखा गया था। ओरायन आदि पुस्तकें भी उनके विद्वत्तापूर्ण ज्योतिष के ज्ञान तथा वैदिक साहित्य के परम अनुशीलन का प्रमाण हैं।

वस्तुतः शक्ति और शास्त्र का ऐसा समन्वय किसी अन्य नेता में पाना दुर्लभ है। भारतीय इतिहास में लोकमान्य **भारतीय क्रान्ति के जनक** के रूप में अमर रहेंगे।

: २७ :

पूँजीवाद

यों तो बहुत प्राचीन काल से उत्पादन के साधनों पर मनुष्य का व्यक्तिगत अधिकार था, परन्तु पूँजीवाद का वर्तमान स्वरूप तभी से विकसित हुआ, जब से विज्ञान का सहयोग पूँजीपतियों ने प्राप्त किया। पूँजीवाद का इतिहास यूरोप और विशेषकर ब्रिटेन का पिछले ३०० वर्षों का इतिहास है। अमेरिका के अन्वेषण और भारत पर अंग्रेजों के अधिकार के कारण इंगलैण्ड में जाने वाली अपार धन-राशि ब्रिटिश पूँजी के रूप में परिणत हो गई। इसी समय सौभाग्य से भाप से चलने वाले एँजिन और सूत कातने की मशीन का आविष्कार हुआ। फिर क्रमशः और मशीनें बनती गईं। ब्रिटेन के पास आने वाली सम्पत्ति कल-कारखानों में लगी। इनमें माल बेहद सस्ता और भारी परिमाण में तैयार होने लगा। वह दूसरे देशों में जाकर भी सस्ता पड़ने लगा। राजनैतिक प्रभाव से उसमें और भी अधिक सहायता मिली। ज्यों-ज्यों माल की खपत बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनका मुनाफा और फलतः पूँजी भी बढ़ने लगी। पूँजी बढ़ने का

परिणाम हुआ नये-नये आविष्कार, कारखानों का निर्माण और ज्यादा नफा। इस तरह अधिकाधिक लाभ और नये कारखानों का चक्र चलाया गया।

पूँजीवाद के समर्थकों का कहना है कि संसार की भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति का मुख्य श्रेय पूँजीवाद को ही है। अपने लाभ की आकांक्षा से ही हो, परन्तु यह सच है कि यदि पूँजीपति विज्ञान के आविष्कारों को लाखों-करोड़ों रुपये लगाकर व्यापारिक रूप न देते, तो संसार बीसवीं सदी में भी १८वीं सदी से आगे न बढ़ता, न रेल होती और न वायुयान तथा बड़े-बड़े कल-कारखाने। आज का विश्व पूँजीपतियों के निरन्तर प्रयत्न का ही फल है। पूँजीवाद की व्यवस्था ने मानव-जाति की उन्नति में असाधारण भाग लिया है।

पूँजीवाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि खुली प्रतियोगिता और मुकाबला बना रहने से मनुष्य की विविध योग्यताओं का खुलकर विकास होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस स्थिति में प्रत्येक उद्योगपति नई-से-नई, अधिक-से-अधिक उपयोगी, सस्ती-से-सस्ती चीज़ बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसा हुआ भी, लेकिन यही खुली प्रतियोगिता का सिद्धान्त अब स्वयं पूँजीपतियों और पूँजीवाद के लिए भारी ख़तरा हो गया है।

प्रतिस्पर्द्धा और साम्राज्यवाद

अपना माल सस्ता पैदा करने के लिए प्रत्येक उद्योगपति अधिक-से-अधिक माल तैयार करता है। इसका परिणाम यह होता है कि माल आवश्यकता से अधिक तैयार हो जाता है। इस माल को बेचने के लिए वह दूसरे उद्योगपति से प्रतिस्पर्द्धा करता है, दूसरे देशों में माल बेचने का प्रयत्न करता है और उसके लिए आवश्यकता होने पर दूसरे देशों को राजनैतिक दृष्टि से अपने अधीन कर लेता है या अपने प्रभुत्व में लाता है। साम्राज्यवाद का जन्म यहीं से होता है। पिछली सदी का इतिहास बताता है कि उद्योग-प्रधान देशों ने अपने आर्थिक लाभ के लिए—तैयार माल बेचने और कच्चा माल बहुत सस्ता खरीदने के लिए—दूर-दूर के देशों पर अपना अधिकार कर लिया। ब्रिटेन का अपना क्षेत्रफल १ लाख वर्ग मील से भी कम था, लेकिन उसका साम्राज्य कुछ वर्ष पूर्व १ करोड़ ३३५ लाख वर्गमील में फैला हुआ था। फ्रांस का क्षेत्रफल सवा

दो लाख वर्गमील से कुछ कम है, लेकिन उसका साम्राज्य ४५ लाख वर्ग मील तक विस्तृत था। ११ हज़ार वर्गमील क्षेत्रफल का बेलजियम ९।। लाख वर्गमील का स्वामी हो गया। जापान ने अपने क्षेत्रफल से १२-१३ गुना प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। इस साम्राज्य-विस्तार के मूल में पूँजीवादी राष्ट्रों का स्वार्थ ही काम कर रहा है। आज साम्राज्य-विस्तार का रूप बदल गया है। राजनैतिक पराधीनता का स्थान आर्थिक संधियों ने ले लिया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने १८९८ ई० से लेकर १९१७ तक किसी-न-किसी कारण से २ लाख वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया, जिस पर दो करोड़ मनुष्य बसते हैं। आज अमेरिका का प्रभाव इससे कई गुना प्रदेश पर है। रूस का भी आज पूर्वी यूरोप के देशों पर अमित प्रभाव है।

दुष्परिणाम

अपना माल सस्ता करने के लिए खर्च कम कर दिये जाते हैं और अधिक-से-अधिक काम करने वाली मशीनें लगाई जाती हैं। फल यह होता है कि लाखों मजदूर बेकार और गरीब हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी खरीदने की शक्ति नष्ट हो जाती है और माल कम बिकता है। पूँजीपति अपना माल बेचने के लिए उसे और सस्ता करता है तथा नई-नई मशीनें लगाता है। बेकारी बढ़ती ही जाती है। छोटे-छोटे पूँजीपति तो ऐसी स्थिति में मुकाबला करने लायक ही नहीं रहते और अपना अस्तित्व तक खो देते हैं।

पूँजीवाद के दो भयंकर परिणाम और हुए हैं। एक तो यह कि पूँजीवाद ने अपने देश में दो श्रेणियाँ स्पष्ट कर दीं—अमीर और गरीब। अमीर अधिक-से-अधिक अमीर होते गए और गरीब अधिक-से-अधिक गरीब। संसार का धन कुछ थोड़े से धनियों के हाथ में केन्द्रीभूत होने लगा। दूसरा परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हुआ। औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न पूँजीवादी राष्ट्रों ने अपना व्यापार बढ़ाने, दूसरे देशों का कच्चा माल लेने और अपना माल वहाँ बेचने के लिए जिस साम्राज्यवादी परम्परा को कायम किया, वही परम्परा विश्व-युद्धों का कारण बन गई। पूँजीवादी देश अधिक-से-अधिक प्रदेश पर अधिकार करने के लिए आपस में युद्ध करने लगे।

पूँजीवाद का विरोध

यह दो कारण थे, जिनसे पूँजीवाद के विरुद्ध लोगों में भावना उत्पन्न हुई। पूँजीवाद के मूल में व्यक्तिगत अधिकार और स्वार्थ की भावना है। अपनी प्रतिभा, योग्यता और धन के कारण पूँजीपति ने जहाँ संसार के प्राकृतिक साधनों का विकास करके मशीनरी के सहयोग से अपने देश को समृद्ध किया, वहाँ उसने गरीबों का शोषण करके उन्हें और भी गरीब बना दिया। यही कारण है कि आज का युग पूँजीवाद की समाप्ति के सपने देखने लगा। अब यह कहा जाने लगा है कि पूँजीपतियों के दिन गए। अब मजदूरों और किसानों का राज्य आ गया। पूँजीवाद अब अपने अन्तिम साँस गिन रहा है।

पूँजीवाद बदल रहा है

किन्तु पूँजीपति अत्यन्त व्यवहार-कुशल हैं। समय के साथ उन्होंने बदलना सीखा है। अब पूँजीवाद का पुराना स्वरूप तो जा रहा है, उसकी जगह नया पूँजीवाद जन्म ले रहा है और इस प्रकार पूँजीपति अपने अस्तित्व की रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं। परिस्थितियों ने भी उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर दिया है। पहले की भाँति आज दो-चार या पाँच-दस लाख रुपये से बड़ा उद्योग स्थापित नहीं किया जा सकता और नये उद्योगों की स्थापना कुछ व्यक्ति विशेष के बस की बात नहीं रह गई। अब पूँजी एकत्र करने के लिए उन्हें मध्यम वर्ग में हजारों-लाखों शेयर बेचने पड़ते है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उद्योग का स्वामित्व क्रमशः अधिकाधिक संख्या में वितरित होता जा रहा है और उसका लाभ भी कुछ थोड़े से लोगों को न मिलकर सब शेयर होल्डरों में बँटने लगा है। मजदूरों के संघर्ष के कारण सरकारें अब उद्योगों में न्यूनतम वेतन, कार्य की अच्छी अवस्थाएँ तथा लाभांश पर नियन्त्रण आदि के जो नियम बना रही हैं, उनसे भी उद्योग का लाभ पहले से अधिक लोगों को बँटने लगा है। सहकारी आधार पर खेती और उद्योग भी पूँजीवाद के वर्तमान स्वरूप को बदलने में बहुत सहायक सिद्ध हो रहे हैं। अमरीका और इंगलैण्ड में एक नई पद्धति चलने लगी है और वह यह कि उद्योगों में काम करने वाले कारीगरों और मजदूरों को ही शेयर बेचकर उद्योग के स्वामित्व में साझीदार बनाया जा रहा है। इन

सब प्रवृत्तियों के कारण पूँजीवाद का स्वरूप बदलता जा रहा है और वह पहले की तरह से समाज का शोषक नहीं रहा, फिर भी पूँजीवाद के मूल में व्यक्तिगत स्वामित्व और अपने लाभ के लिए (राष्ट्र की आवश्यकता देखकर नहीं) उद्योग संचालन की भावनाएँ विद्यमान हैं। परन्तु आज जनता इसे भी सहन करना नहीं चाहती और इसलिए साम्यवाद और पूँजीवाद का संघर्ष जारी है। भारत ने दोनों के समन्वय की नीति अपनायी है। आगामी कुछ वर्ष बताएँगे कि पूँजीवाद का भविष्य क्या है।

: २८ :

साम्यवाद

दो प्रणालियाँ

आज समस्त संसार दो भागों में बँटता जा रहा है। एक वे देश हैं, जहाँ समाजवाद या साम्यवाद की विचारधारा काम करती है, और दूसरे वे देश हैं जहाँ लोकतन्त्रवाद की भावना काम कर रही है। साम्यवाद और लोकतन्त्रवाद, इन दो शब्दों से वस्तुतः दोनों देशों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। इस अन्तर को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ अधिक विस्तार से दोनों देशों के अन्तर को स्पष्ट करें। साम्यवादी देशों का सरल भाषा में अर्थ यह है कि वहाँ उत्पादन के साधन किसी व्यक्ति-विशेष के न हों और खासकर वे साधन, जो अनेक श्रमियों की अपेक्षा रखते है। इन देशों में कल-कारखाने, बैंक, जहाज़, रेलगाड़ियाँ तथा जमीन आदि उत्पत्ति के सब साधनों पर सरकार का अधिकार रहता है, एक या अनेक नागरिकों का अधिकार नहीं होता। कोई व्यक्ति दूसरे मज़दूर लगा करके उत्पादन-कार्य नहीं कर सकता। उत्पादन के सब साधन सरकार के हाथ में रहते हैं। इस तरह देश का समस्त अर्थचक्र सरकार के हाथ में आ जाता है, इसलिए साम्यवादी देशों में अधिकाधिक शक्ति

सरकारी नेताओं के हाथ में केन्द्रित होती जाती है। ऐसे ही देश एकतन्त्रवादी या अधिनायकवादी बनते जाते हैं।

दूसरे प्रकार के देश वे है, जो अपने को लोकतन्त्रवादी कहते है। इन देशों में प्रत्येक नागरिक आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होता है। वह कोई भी कारोबार कर सकता है, कारखाना खोल सकता है, बैंक या बीमा कम्पनी आदि कायम कर सकता है और इनमें मज़दूरों व कर्मचारियों को नौकर रख सकता है। इन देशों में इस प्रकार के स्वतन्त्र कारोबारियों की शक्ति कम नहीं होती है। इसलिए देश के नीति-निर्धारण व मार्ग-दर्शन में इनकी काफ़ी आवाज़ होती है। ये लोग अपनी-अपनी पार्टियाँ खड़ी करके प्रतिनिधियों के चुनाव लड़ती हैं। इसलिए सब पूँजीवादी देश अपने को लोकतन्त्रवादी भी कहते है। पहले प्रायः सब देश लोकतन्त्रवादी अथवा राजतन्त्रवादी थे, परन्तु बीसवी सदी में साम्यवाद ने एक के बाद एक देश पर प्रभाव जमाना शुरू किया। हम इन पंक्तियों में यह विचार करना चाहते हैं कि साम्यवाद क्या है और उसका जन्म कैसे हुआ। साम्यवाद के दृष्टिकोण पर भी हमें विचार करना है।

कार्ल मार्क्स की देन

साम्यवाद का जनक कार्ल मार्क्स यूरोप में उत्पन्न हुआ, जहाँ का दृष्टिकोण भौतिक है, आध्यात्मिक नही। वहाँ भौतिक जीवन ही प्रधान लक्ष्य है, और इसलिये वहाँ धन या सम्पत्ति का बहुत अधिक महत्त्व है। कार्ल मार्क्स ने मानव जाति के समस्त इतिहास का आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया। वह इस परिणाम पर पहुंचा कि मानव-समाज का अतीत और वर्तमान इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है। जिस वर्ग के हाथ में उत्पत्ति के साधन रहते है, उसी की प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गो के परिश्रम से अनुचित लाभ उठाता है। खून-पसीना एक करने वाला परिश्रमी किसान या मज़दूर अपने जीवन की साधारण आवश्यकता भी पूर्ण नहीं कर पाता, किन्तु दूसरी ओर पूंजीपति गुलछर्रे उड़ाता है। उत्पत्ति पर इस वर्ग का अधिकार होने से राज्य और कानून भी दरिद्र के शोषण में धनी की सहायता करते हैं।

कार्ल मार्क्स ने संसार के इतिहास का अध्ययन करते हुए यह भी देखा कि हज़ार कोशिश करने पर भी एक ही वर्ग सदा सब के सिर पर बैठा नहीं रहता। जब पैदावार या उत्पत्ति के नये तरीके निकल आते हैं, तब उन पर अधिकार भी नये वर्गों का हो जाता है। नया दल उन्नति करता है। आर्थिक सत्ता इसके हाथ में आ जाने से उसी की जीत होती है और पुराने वर्ग की समाप्ति हो जाती है। लेकिन यह नया वर्ग भी अपने से भिन्न वर्गों के लिए शोषक बन जाता है और फिर उन वर्गों में से किसी एक के हाथों हटा दिया जाता है। इस तरह जब तक एक वर्ग दूसरे का शोषण करने वाला रहेगा, तब तक यह कशमकश चलती रहेगी। यह झगड़ा उसी समय समाप्त होगा, जबकि समाज में अनेक वर्ग न रहकर केवल एक वर्ग रह जायगा, क्योंकि तब शोषण की गुंजायश ही न रहेगी। तब आज का सा लगातार संघर्ष न रहेगा और न रहेगी प्रतिस्पर्द्धा। किसी को किसी का दमन नहीं करना होगा। इसलिए राज्य की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। कार्ल मार्क्स का विचार था कि वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि समस्त सम्पत्ति को समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना चाहिए। सम्पत्ति पर नागरिकों का निजी अधिकार नहीं होना चाहिए। उत्पादन और श्रम के साधनों पर से व्यक्ति का अधिकार हटाकर समाज का सामूहिक अधिकार स्थापित करने का नाम ही साम्यवाद है।

कार्ल मार्क्स से बहुत पहले सर थामस मोर, फोरियर, राबर्ट ओवन, प्राउढन आदि ने भी ऐसे विचार पेश किए थे। लेकिन कार्ल मार्क्स ने इन विचारों को अधिक वैज्ञानिक रूप दिया और इसके प्रचार के लिए १८३४ ई० में एक निश्चित संगठन को स्थापित किया। यही साम्यवाद की दिशा में पहला व्यापक संगठन था। मार्क्स ने आवाज उठाई कि 'संसार के मजदूरो! एक हो जाओ और पूँजीवाद का जुआ उतार फेंको।'

साम्यवाद का व्याख्याकार लेनिन

साम्यवाद को व्यवहार में लाने वाला प्रथम व्याख्याकार लेनिन था। रूस में उसने बोल्शेविक क्राति कर वहाँ साम्यवाद को क्रियान्वित कर दिखाया। साम्यवाद का आदर्श बहुत ऊँचा है। रूस के नेता अभी इस आदर्श पर नहीं पहुंचे। यद्यपि बहुत से उत्पत्ति-साधनों पर व्यक्ति का एकाधिकार छीनकर वहाँ

उन्हें सरकारी सम्पत्ति बना दिया गया है, तथापि अभी तक भूमि पर कृषकों का स्वामित्व है और उन्हें सामूहिक कृषि के लिए प्रेरित किया जा रहा है। कुछ विदेशियों को भी वहाँ कारोबार करने की अनुमति दी गई है।

अभी आदर्श तक नहीं

साम्यवाद का ऊँचा आदर्श यह है कि समाज में असमानता या विषमता की समाप्ति कर दी जाए, हर एक आदमी काम करे और उसकी आवश्यकता के अनुसार उसे अन्न, वस्त्र आदि सब पदार्थ दिये जाएँ।

लेकिन रूस अभी इस स्थिति तक नही पहुँचा है। वहाँ आवश्यकता के अनुसार नहीं, कार्य और किस्म के अनुसार वेतन दिये जाते हैं। इस कारण वहाँ भी अपेक्षाकृत धनी और दरिद्र श्रेणियाँ हैं। श्री जयप्रकाश नारायण के कथनानुसार इस समय रूस में नागरिकों की आय में १ और ८० का अन्तर है। वहाँ बहुत से अधिकारियो को बहुत ऊँचे-ऊँचे वेतन मिलते हैं। उनका जीवन-स्तर भी बहुत अधिक ऊँचा है, जबकि साधारण नागरिक बहुत कष्ट में होता है। शनैः शनैः वहाँ व्यक्ति की निजी आय को बढ़ाने की दिशा में कदम उठाये जा रहे हैं। साम्यवाद के नाम से वहाँ स्टालिन ने जिस तरह देश के आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर एकच्छत्र निरंकुश अधिकार कर लिया था, उसका भंडाफोड़ पिछले दिनों में स्टालिन के उत्तराधिकारी रूसी नेताओं ने ही किया है। सामूहिक खेतों की सफलता के जो गीत कुछ दिनों पहले तक गाये जाते थे, उनको भी अब बन्द करके धीमी आवाज में स्वीकार किया जाने लगा है कि उन प्रयत्नों में अनेक कमियाँ रह गई हैं। रूस का किसान अपने छोटे से निजी खेत में जितनी फसल पैदा कर लेता है उतनी ही सामूहिक खेत में नहीं हो पाती। मजदूरों और किसानों के दमन की कहानियाँ भी अब प्रकाश में आने लगी हैं।

संसार साम्यवाद की ओर

भले ही रूस में साम्यवाद का ऊँचा आदर्श शिथिल हो रहा हो, किन्तु संसार में साम्यवाद की भावना तीव्रता से फैल रही है। पिछले महायुद्ध की परिस्थितियों ने भी साम्यवाद की भावना को बहुत बल दिया है। पदार्थों की

दुर्लभता के कारण जनता के कष्ट दूर करने के लिए सरकारों ने व्यापार और उद्योग का नियन्त्रण, वितरण का अधिकार तथा राशनिंग आदि अपने हाथ में ले लिये। प्रधान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की भावना सब देशों में बढ़ी है। स्वयं इंगलैंड जैसे पूँजीवादी देश में मजदूर सरकार ने लोहा और कोयला उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया (भले ही कुछ समय बाद ब्रिटिश सरकार ने यह कदम वापिस ले लिया)। ईरान ने ब्रिटिश आयल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर लिया है तथा मिस्र ने स्वेज नहर का। स्वयं भारत सरकार ने अनेक उद्योगों को हाथ में लेने का निश्चय किया है। सब जीवन-बीमा कम्पनियाँ सरकार की सम्पत्तियाँ बन गई हैं। इम्पीरियल बैंक पर भी सरकार का अधिकार हो गया है। राज्यों ने ज़मींदारी-प्रथा समाप्त कर दी है। मजदूरों के लिए नए से नए नियम सब देशों में बन रहे हैं। अप्रत्यक्ष कर कम किए जा रहे हैं और प्रत्यक्ष कर बढ़ाये जा रहे हैं। इन सब साधनों से विविध देशों की सरकारें अमीर और गरीब की चौड़ी खाई को कम करने की कोशिश कर रही है।

अभी परीक्षण की स्थिति में

साम्यवाद की दिशा में इतनी प्रगति होने पर भी आज यह नहीं कहा जा सकता कि साम्यवाद संसार की समस्याओं का समाधान करने में सफल होगा। अभी साम्यवाद परीक्षण की स्थिति में से गुजर रहा है। साम्यवाद जहाँ अमीर गरीब की विषमता को दूर करता है, वहाँ वह मानव की—व्यक्ति की—निजी स्वतन्त्रता का भी अपहरण करता है। वह उसे समाज का एक पुर्जा भर बना देता है। उसमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की गुंजाइश नहीं रहती, समाज के लिए उसे अपनी बलि दे देनी पड़ती है। साम्यवाद में एक बड़ा दोष यह है कि उसका मूल आधार आर्थिक है किन्तु जीवन में अर्थ ही तो सब कुछ नहीं है। प्रेम, धर्म, ईश्वर और देश-प्रेम या परोपकार आदि भी तो गुण हैं, जो मानव समाज का संचालन करते हैं। इनकी उपेक्षा करके मानव के केवल बाह्य अङ्ग अर्थ पर ही आधार रखने वाला साम्यवाद कभी सर्वांगीण नहीं हो सकता। वह एकांगी है, इसीलिए संसार के विचारक बहुत ध्यान से इस नये परीक्षण को देख रहे हैं। गांधीवाद में समाजवाद के गुण भी है और संसार की विषमता, प्रतिस्पर्द्धा, विद्वेष को दूर करने की क्षमता भी। इसीलिए बहुत से विचारक गाधीवाद में विश्व की समस्याओं का समाधान देखते है।

: २६ :

सर्वोदयवाद

संसार में दो विचारधाराएँ अर्थ-चक्र को संचालित कर रही हैं—एक लोक-तंत्री देशों की निजी उद्योग-पद्धति है, जिसे पूँजीवाद कहते है। दूसरी विचार-धारा समाजवाद या साम्यवाद की है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य देशों की भाँति भारत भी आज दो भागों में बँट गया है। साम्यवाद अपना प्रचार तीव्र गति से भारत में बढ़ा रहा है। इसका मुख्य आधार हिंसात्मक उपायों से जन-सामान्य के लिए सुख की प्राप्ति है।

साम्यवाद से अन्तर

महात्मा गांधी ने भारत को एक नई अर्थ-नीति का संदेश दिया है। इसका आधार अहिंसा और प्रेम है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय इसके मूल में है। यह अर्थ-नीति भारतीय दृष्टिकोण और भारतीय परम्पराओं के अनुकूल है। साम्यवाद की सब अच्छाइयाँ इसके मूल में हैं, परन्तु उनकी बुरा-इयों को छोड़ दिया गया है। साम्यवाद की मूल भावना जन-हित की है। महात्मा गांधी की नई अर्थ-नीति का नाम सर्वोदयवाद है अर्थात् सबका उदय, विनाश या मरण किसी का भी नहीं। साम्यवाद से सर्वोदय का दूसरा प्रधान अन्तर यह है कि साम्यवाद भौतिकवादी यूरोप की भूमि पर उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसकी दृष्टि भौतिक है। इहलोक तक ही उसकी दृष्टि जाती है। संसार के सभी भौतिक सुखों को साम्यवाद जनसामान्य तक पहुँचाना चाहता है। गांधीवाद भी इसे स्वीकार करता है, परन्तु इसके साथ भारतीय परम्परा व भारतीय दृष्टिकोण के कारण वह नैतिकता पर अधिक बल देता है। त्याग व सादगी अपनाने पर वह ज्यादा जोर देता है। गांधी सर्वोदयवाद के प्रतीक थे और स्टालिन साम्यवाद के। दोनों की निम्नलिखित तुलना से दोनों विचार-धाराओं का अन्तर बहुत स्पष्ट हो जाएगा—

गांधी और स्टालिन

समाज सुख का एक उद्देश्य होते हुए स्टालिन और गांधी के जीवन और विचारधारा में अन्तर है। स्टालिन मशीनरीवाद, बड़े-बड़े नगरों व निरंकुश एकाधिकार का समर्थक था। गांधी ग्रामोद्योगों, ग्रामों और जन-पंचायतों का समर्थक था। स्टालिन मजदूरों और किसानों को भी मोटरें देना चाहता था, गांधी अमीरों को भी त्यागमय जीवन का उपदेश देता था। स्टालिन संघर्ष और पशुबल का पुजारी था, गांधी शान्ति, प्रेम तथा आत्मबल का। स्टालिन शरीर पर शासन करता था, मतभेद को सहन नहीं करता था किन्तु गांधी हृदय में प्रवेश करना चाहता था और सब में अच्छाई देखने को उद्यत था। स्टालिन की परलोक में श्रद्धा नहीं थी, गांधी ईश्वर पर अगाध विश्वसा और परलोक का भी सुख चाहता था। स्टालिन और गांधी साम्यवादी दृष्टि और पूर्वी सभ्यता के उज्ज्वल उदाहरण हैं।

जमींदारी-उन्मूलन के दो तरीके

एक और उदाहरण से दोनों विचारधाराओं का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा, रूस व भारत दोनों ने जमींदारी-प्रथा समाप्त करनी थी। रूस ने जमींदारों से उन्हें बिना एक पैसा दिये, जमीन जबर्दस्ती छीन ली और अपना अधिकार स्थापित कर लिया, जिसने ज़रा भी चूँ-चरा की, उसे गोली का निशाना बना दिया गया। भारत में भी तैलंगाना में कम्यूनिस्टों ने हिंसात्मक उपायों द्वारा जमीन छीनने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर आचार्य विनोबा ने, जो आज सर्वोदय के नेता हैं, भूदान यज्ञ का प्रारम्भ किया। लोगों के हृदय-परिवर्तन के द्वारा वे किसानों को भूमि दिलाना चाहते हैं। साम्यवादियों की भाँति वे भी जमींदारों की भूमि का मूल्य नहीं चुकाते, साम्यवादी शरीर पर अधिकार करता है, विनोबा उसके हृदय पर, और बल या कानून का आश्रय नहीं लेते। भारत सरकार ने बीच का शस्त्र अपनाया। उसने कानून के द्वारा जमीन जरूर ली, परन्तु उसका मूल्य भी चुका दिया।

कानून नहीं, जनता

सर्वोदयवाद भी दण्डात्मक राज्य-संस्था की समाप्ति को चरम लक्ष्य मानता है, किन्तु इसके लिए पहले वह जनता को तैयार करना चाहता है। कानून में बल-

प्रयोग की भावना अन्तर्हित है, इसलिए वह कानून की उपेक्षा करके भी जनता को शान्ति के लिए प्रेरित करता है। कानून द्वारा सच्ची शान्ति नहीं हो सकती। सच्ची शान्ति जीवन के अन्तः में शान्ति है। जनता के जीवन के मूल्यों में परिवर्तन कर दो, कानून पर उसकी प्रतिच्छाया अवश्य पड़ेगी। कानून न हृदय में परिवर्तन ला सकता है, न दिमाग में। यही कारण है कि जहाँ साम्यवाद सफल भी हुआ है, वहाँ उसकी परिणति तानाशाही व राज्य-पूँजीवाद में हुई है और यह वस्तुतः साम्यवाद का प्रतिवाद है। यही कारण है कि गांधीवाद सत्ता के अधिकार पर केन्द्रीभूत नहीं है और न वह राज्य-सत्ता पर निर्भर करता है। वह तो जनता को जीवन में क्रान्ति के लिए प्रेरित करता है। एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग का विद्वेष साम्यवादी विचारधारा के मूल में है, किन्तु गांधीवाद वर्गों की चिन्ता न कर बढ़ता है। राज्य पर जनता को कम से कम निर्भर बनाकर गांधीवाद राज्य की आवश्यकता को कम करना चाहता है।

चर्खा व ग्रामोद्योग

गांधी जी यह अनुभव करते थे कि जब तक बहुमात्रा-उत्पादन और उसके लिए बड़े-बड़े लोहमय दानव (अर्थात् भारी मशीनरी) मौजूद रहेगी, तब तक मानव के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। मार्क्स ने वैयक्तिक स्वामित्व हटाकर सामाजिक स्वामित्व का विधान अवश्य किया, किन्तु उत्पादन की यन्त्र-मय प्रणाली को नहीं बदला। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि बड़े पैमाने के उद्योगों से होने वाली सामाजिक एवं राजनैतिक बुराइयों की ओर नहीं जा सकी। परिणाम यह हुआ कि केन्द्रित उत्पादन-प्रणाली पर केन्द्रित राजनीतिक शक्ति का भवन खड़ा हुआ। आज की बड़ी मशीनरी, जिसकी ओर आज भारत भी द्रुत गति से भाग रहा है, विशाल एवं भयंकर दैत्य का रूप धारण करके मानव के व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड कर रही है। मानव मशीन का महज पुर्जा बनकर रह गया है। इसका व्यक्तित्व दैत्याकार मशीनों की विषाक्त छाया में विकसित न होकर निरन्तर दबता जा रहा है। बड़े कारखानों में बड़े-बड़े विशेषज्ञों और इंजीनियरों की जरूरत है और सामान्य जन विशेषज्ञ बन नहीं सकते। नतीजा यह हुआ कि मजदूर अब पूँजीपति वर्ग का दास न होकर विशेषज्ञ तथा प्रबन्धक का दास हो गया। नागनाथ की जगह साँपनाथ आये। यही कारण है कि गांधी

जी ने शासन व अर्थ दोनों क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त हमारे सामने प्रस्तुत किया। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद में उत्पादक का उसके औजारों से सम्बन्ध टूट गया है, वह स्वयं उसका स्वामी नहीं। गांधी जी ने कहा कि उत्पादक अपने यंत्रों का स्वामी उसी समय हो सकता है, जब उसके यंत्र छोटे-छोटे हों। बड़े यंत्रों में वह स्वयं खो जाता है, अतएव उन्होंने बड़े उद्योग-धन्धों की जगह विकेन्द्रित छोटे-छोटे ग्रामीण उद्योग-धन्धों को प्रधानता दी, जिससे मनुष्य को अपने हस्त-कौशल के लिए अधिक अवसर मिल सके। इसी विकेन्द्रित ग्रामोद्योग-प्रधान अर्थ-प्रणाली का प्रतीक 'चर्खा' है।

ग्रामोद्योगों से लाभ

भौतिक दृष्टि से भी ग्रामोद्योग के विकास के अनेक अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास की इसमें पूरी गुंजायश है, परन्तु पूँजीवाद द्वारा शोषण इसमें संभव नहीं है। जब बड़ी मात्रा में उत्पत्ति ही नहीं होगी, तब अपना माल बेचने के लिए बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापन की इच्छा भी नहीं रहेगी और राजनैतिक व आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने के लिए किये जाने वाले युद्ध भी अनावश्यक हो जायेंगे। मशीनरी देश में बेकारी को फैलाती है। एक मशीन १०-२० या १०० आदमियों की रोजी छीन लेती है। आज भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत बढ़ रहा है, पर बेकारी की समस्या उससे भी तीव्र गति से बढ़ रही है। देश में करोड़ों मनुष्यों को काम नहीं मिल रहा, या बहुत कम मिल रहा है और दूसरी ओर एक आदमी मशीनरी के द्वारा बहुत से आदमियों की रोजी छीन रहा है। ग्रामोद्योगों से बेकारी-निवारण के साथ-साथ जनता का असंतोष भी बहुत कम हो जायगा और वह शान्ति से अपना जीवन व्यतीत कर सकेगी। आज देश में जो पंचवर्षीय योजनाएँ चालू हो रही हैं, उनमें ग्रामोद्योगों पर अधिक बल देने का यही कारण है।

भारत के नेता साम्यवाद और सर्वोदयवाद, बड़े उद्योग और ग्राम-उद्योग, केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण सभी का समन्वय करना चाहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि गांधीवाद या सर्वोदय ने उनके हृदय व आत्मा को उद्वेलित किया और अंग्रेजी शिक्षा के कारण साम्यवाद ने उनके मस्तिष्क को। इसलिए वे दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

विकेन्द्रित शासन

गांधी जी राज्य की समाप्ति अथवा अनावश्यकता को उन्नत समाज का अन्तिम लक्ष्य मानते थे। वे प्रारम्भ से अन्त तक मानव थे, इसलिए केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था हो, या केन्द्रीय राज्य-व्यवस्था, उन्हें प्रिय न थी। विकेन्द्रित अर्थ-प्रणाली ही विकेन्द्रित राज्य-प्रणाली को जन्म दे सकती है और मनुष्य का कदम सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर बढ़ सकता है। संसार के प्रसिद्ध दार्शनिक रसेल ने लिखा है कि अगर समाज को शोषण से मुक्त होना है, तो गांधी जी के सर्वोदयवाद को अपनाना पड़ेगा।

: ३० :

भारतीय संस्कृति

किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि, उसकी विचारधारा और दृष्टिकोण को प्रकट करती है। यह किसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं होता, अपितु असंख्य ज्ञात और अज्ञात व्यक्तियों के निरन्तर प्रयत्न का परिणाम होती है। संस्कृति को केवल भौतिक उन्नति मानना भूल है। भौतिक उन्नति से हम शारीरिक भूख को अवश्य शान्त कर सकते हैं, किन्तु मन और आत्मा को तृप्त करने के लिए मनुष्य को फिर भी प्रयत्न करना पड़ता है और यही प्रयत्न ही संस्कृति है। धर्म, दर्शन, संगीत, साहित्य, चित्रकला, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ सभी संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं।

दो संस्कृतियाँ

प्रत्येक देश की भौगोलिक, प्राकृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का उस देश की संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है। यूरोपियन जातियों को अपने जीवन-

रक्षण के लिए प्राकृतिक बाधाओं तथा अपने पड़ौसियों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा है। अन्न की प्राप्ति उनके लिए सदा दुःसाध्य रही है। इसके लिए उन्हें दूर-दूर तक संघर्ष करते हुए समुद्र के वक्षःस्थल को चीर कर जाना पड़ा है। अंग्रेजों को इन्हीं विवश होकर की हुई समुद्र-यात्राओं ने दुःसाहसी बना दिया। भौतिक और प्राकृतिक बाधाओं पर विजय पाने की अदम्य भावना ने उन्हें वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए प्रेरित किया। अन्न की बहुलता के साथ जीवन में जो निश्चिन्तता आती है, वह यूरोप के लिए दुर्लभ बनी रही। इसके विपरीत सुजला, सुफला, शस्यश्यामला पुण्यमयी भारत भूमि में प्रकृति की अपार उदारता के कारण जीवन-संघर्ष की आवश्यकता बहुत कम अनुभव की गई। भारतीय उदर-पूर्ति की चिन्ता से मुक्त होकर अपना ध्यान आध्यात्मिक चिन्तन में लगाने लगे। उनके यहाँ जो आया, तिरस्कार की अपेक्षा उन्होंने उसका स्वागत ही किया। उन्होंने विदेशियों और विजातीयों को भी अपना बनाने की चेष्टा की। उन्हें इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं थी कि वे उनका भोजन बाँट लेंगे। प्राकृतिक परिस्थितियों की इस भिन्नता के कारण ही यूरोप और भारत की संस्कृति में बहुत अन्तर हो गया है। पश्चिम ने वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा भौतिक उन्नति पर अधिक ध्यान दिया। अदम्य साहस, कठिनाइयों पर विजय, तीव्र महत्त्वाकांक्षा, जीवन को सुखमय बनाने की उत्कट अभिलाषा तथा कठोर संघर्ष व युद्ध योरुप की संस्कृति के प्रधान गुण हैं। दूसरी ओर भारत ने रोटी-पानी के संघर्ष से निश्चिन्त होकर जिस आध्यात्मिक संस्कृति को जन्म दिया, उसकी कुछ विशेषताएँ हम इस लेख में बताना चाहते हैं। ये वे विशेषताएँ हैं, जिसके कारण अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी भारत और भारतीय संस्कृति आज तक भी जीवित है। अमरीका के एक प्रसिद्ध लेखक ने भारतीय संस्कृति की इस नष्ट न होने वाली परम्पराओं को भी इसकी एक विशेषता माना है। वे लिखते हैं—

"यहाँ ईसा से २६०० वर्ष पहले या इससे भी पहिले मोहेन्जोदड़ो से महात्मा गांधी, रमण और टैगोर तक उन्नति और सभ्यता का शानदार सिल-सिला जारी रहा है। ईसा के आठ शताब्दी पहिले उपनिषदों से लगाकर ईसा के आठ सौ वर्ष बाद शंकर तक ईश्वरवाद के हजारों सत्य प्रतिपादन करने वाले दर्शनशास्त्री यहाँ हुए हैं। यहाँ के वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष

पहिले ज्योतिष का आविष्कार किया और इस जमाने में भी नोबेल पुरस्कार जीते हैं। कोई भी लेखक मिस्र, बेबीलोनिया और असीरिया के इतिहास की भाँति भारत के इतिहास को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भारत में इतिहास का अब भी निर्माण हो रहा है। उसकी सभ्यता अब भी क्रियाशील है।"

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

अनुकूलता—कहते हैं कि हिन्दू नारी अपने को सभी परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने की बहुत क्षमता रखती है। यही बात भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अत्यन्त दीर्घकाल से भारतीय संस्कृति विविध युगों व परिस्थितियों के अनुकूल बनती चली गई है। कभी कर्म-प्रधान, कभी ज्ञान-प्रधान और कभी भक्ति-प्रधान रूप इसने धारण किया। विविध विदेशी जातियों की संस्कृतियों की अनेक विशेषताओं को लेकर उन्हें आत्मसात् कर लिया गया। इस्लाम और ईसाइयत शासक का धर्म होने के बावजूद सदियों तक बहुत कम भाग को अपने साथ ले सके।

सहिष्णुता—भारतीय संस्कृति की दूसरी बड़ी विशेषता है सहिष्णुता। जब यूरोप में प्रोटैस्टैण्ट व रोमन कैथोलिक शासक अपने हज़ारों विरोधियों का गला काटने से नहीं चूकते थे, तब भारत इस्लाम का स्वागत कर रहा था। अनेक भारतीय राजाओं ने ११वीं-१२वीं सदी में मुसलमानों को मस्जिदें बनाने के लिए भूमि तथा रुपया दिया था। बहुत प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न समुदाय यहाँ एक साथ रहते थे। आस्तिक, नास्तिक, वैरागी, शैव और वैष्णव सभी एक दूसरे का सम्मान करते थे। महात्मा बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे, फिर भी हिन्दुओं ने उन्हें पूज्य माना। पारसियों को भारत ने ही शरण दी थी। यहूदियों व सीरियनों ने भी यहाँ शरण पाई है।

ग्रहणशीलता—विदेशी जातियों ने बड़े वेग के साथ भारत पर आक्रमण किया, परन्तु कुछ समय बाद वे अपने को भूलकर बौद्ध व शैव बन गईं। भारत ने यूनानी कला व ज्ञान का भी लाभ उठाया और मुस्लिम वास्तु कला को भी ग्रहण कर लिया। उसके यहाँ जो कुछ आया, सब यहाँ का होकर रह गया।

आज भारत में सैकड़ों प्रकार के रहन-सहन, वेश-भूषा और खान-पान तथा रीति-रिवाज चल रहे हैं और वे सभी मान्य हैं। विवाह तक की पचासों रीतियाँ चल रही हैं और सभी वैध मानी जाती हैं।

सर्वांगीणता—भारतीय संस्कृति की एक और बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वांगीण है। ऐहिक और पारलौकिक उन्नति व शस्त्र और शास्त्र का समन्वय भारतीय संस्कृति में था। ज्योतिष, वास्तु-कला, सुन्दर से सुन्दर वस्त्र, उत्कृष्ट कलापूर्ण नगर-निर्माण आदि में जहाँ भारत ने चरम उन्नति की थी, वहाँ यज्ञ, धार्मिक अनुष्ठान, उपनिषदों का दार्शनिक ज्ञान, भागवत धर्म की भक्ति तथा पुण्यात्मा सन्तों की परम्परा आदि की दृष्टि से भी भारत बहुत आगे था। शास्त्रकारों के मत से मानव को चार पुरुषार्थ करने चाहियें,—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्ष ही नहीं, अर्थ और काम भी हमारे यहाँ आवश्यक हैं।

सप्राण और सक्षम संस्कृति

भारतीय संस्कृति इन सब विशेषताओं के कारण सबल, सक्षम और सप्राण रही है। भारतीय संस्कृति के अनुसार समाज की व्यवस्था इतनी ऊँची और आदर्श थी कि उसमें संघर्ष की सम्भावना बहुत कम रह गई थी। वर्ण और आश्रम-व्यवस्था से समाज की सब आवश्यकताएँ पूर्ण होती थी। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा प्राचीन भारत के विचारकों ने सम्मान, धन और शक्ति को विकेन्द्रित कर दिया था। ब्राह्मण के पास सम्मान था, क्षत्रिय के पास शक्ति थी, वैश्य के पास धन था और शूद्रों के पास सेवा-बल था। ब्राह्मण के लिये तपस्वी और त्यागी होना आवश्यक था। सम्राट चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य फूँस की झोंपड़ी में रहता था। सत्ता, धन और सम्मान के इस विकेन्द्रीकरण के कारण ही प्राचीन भारत में, जब तक वर्ण-व्यवस्था विकृत नहीं हुई थी, यूरोपियन किस्म के शोषण के दर्शन नहीं हुए थे। आश्रम-व्यवस्था भी मनुष्य को त्याग का संदेश देती थी। गृहस्थ आश्रम में सांसारिक सुख भोगकर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में मानव-कल्याण करते हुए अपनी शेष आयु व्यतीत करनी होती थी। राज्य करना जीवन का उद्देश्य नहीं होता था, वह केवल कर्त्तव्य-भाव से किया जाता था। इसलिए राजा को अपनी वृद्धावस्था में ही युवराज को राज्य देकर

वन में जाना होता था। मानवता भारत की संस्कृति में रमी हुई थी। अतिथि-यज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ इसके प्रमाण हैं।

पश्चिमी संस्कृति का पाप

कुछ विचारक, जिनमें हमारे बहुत से भारतीय भी सम्मिलित हैं, पश्चिम की वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति को बहुत अभिमान से देखते हैं। एक प्रसिद्ध विचारक रस्किन इस भ्रम का निवारण करते हुए, पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता को "पुराने दासों से भी हजार गुना अधिक कड़वी और पतनकारी" समझते हैं। श्री हैवल की सम्मति में भारत में भयंकर से भयंकर अकाल के समय में भी किसी भी प्रान्त में इतना दुराचार, इतना निराशाजनक शारीरिक, नैतिक और आत्मिक पतन नहीं पाया जाता, जितना यूरोप के उद्योग-प्रधान नगरों में पाया जाता है।

आज वस्तुतः विज्ञान की दैत्य-शक्ति पाकर, पश्चिम की भोगवादी प्रवृत्तियाँ विश्व को भयंकर विनाश और विध्वंस की ओर ले जा रही हैं। भारत की त्यागमय संस्कृति और महात्मा बुद्ध या महात्मा गांधी की अहिंसा और प्रेम की शिक्षा ही विश्व की विनाश से रक्षा कर सकती है।

: ३१ :

लोकतन्त्र

आज के युग में लोकतन्त्र सर्वोत्तम शासन-पद्धति स्वीकार की जाती है, पर आज से कुछ समय पहले ऐसा न था। प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में भले ही लोकतन्त्र के उदाहरण पाये जाते होंगे, लेकिन उसके बाद लोकतन्त्र का सिद्धान्त प्रचलित न रहा। साधारणतः सब देशों में राजतन्त्र या एकतन्त्र की शासन-पद्धति ही प्रचलित रही। राजतन्त्र के मूल में यह भावना काम करती

है कि यह राजा की सम्पत्ति है, वही देश की समस्त सम्पत्ति व प्रजा का स्वामी है। उसे कानून बनाने व प्रजा पर शासन करने का अधिकार है। मध्यकाल में तो यहाँ तक कहा जाने लगा था कि उसका यह अधिकार परमात्मा द्वारा प्रदत्त है—"महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति"। इंग्लैण्ड के राजा जेम्स ने सिंहासन पर बैठने से पूर्व यह लिखा था कि राजा ईश्वरीय अधिकार से राज्य करते हैं, प्रजा को उसके विरुद्ध चूँ करने का भी अधिकार नहीं। राजा ईश्वर का प्रतिबिम्ब और प्रतिनिधि है। इसलिए उसके विरुद्ध विद्रोह करना पाप है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भी राजा की दिव्यता का यह सिद्धान्त जोरों पर था। सन् १८१५ में रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया के सम्राटों ने अपने एक सन्धि-पत्र में ईश्वरीय अधिकार की घोषणा करते हुए लिखा कि हमें ईश्वर ने लोगों पर शासन करने के लिए भेजा है। भारतवर्ष तथा अन्य एशियायी देशों में भी यही परम्परा काम कर रही थी। इस पद्धति में राजा ही कोई कानून बना सकता है, किसी दूसरे देश के साथ सन्धि या युद्ध कर सकता है अथवा अपने देश का कोई भाग दूसरे के हवाले कर सकता है।

विचार-क्रान्ति

लेकिन समय बदला। राजा को ईश्वर या देवता मानने की भावना भी बदली। फ्रांस की महान् क्रान्ति ने राजा को समाप्त कर दिया। रूसो प्रभृति क्रान्ति के नेताओं ने जनता को यह बताया कि राजा और प्रजा का समझौता ही राज्य का जनक होता है। देश की जनता ही देश की स्वामिनी होती है। वह सरकार या राजा के हाथ में देश का शासन-प्रबन्ध तब तक के लिए छोड़ती है, जब तक राजा न्यायानुकूल जनता की सुख-सुविधाओं को देखते हुए शासन-प्रबन्ध करता है और इसके बदले में जनता उसकी आज्ञा का पालन करती है और खर्च चलाने के लिए टैक्स देती है। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का पालन न करे, तो जनता का यह अधिकार है कि वह उसे हटाकर दूसरा प्रबन्ध कर लेवे।

राजतन्त्र की समाप्ति शुरू

इंग्लैण्ड में १७वीं सदी में राजतन्त्र के विरुद्ध आन्दोलन चला था और चार्ल्स का वध करके प्रजातन्त्र की स्थापना कर दी गई थी। यद्यपि यह

प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र शासन स्थायी नहीं रहा, तथापि इसने अंग्रेज जनता में यह भावना उत्पन्न कर दी कि राजा प्रजा की अनुमति के बिना न टैक्स लगा सकता है न कोई कानून बना सकता है। फ्रांस की क्रान्ति से कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका भी राज्य में बिना प्रतिनिधित्व के टैक्स न देने का नारा लगाकर ब्रिटेन से स्वाधीन हो चुका था। समय की गति के साथ-साथ अन्य अनेक राष्ट्रों ने राजतन्त्र को समाप्त कर लोकतन्त्र की स्थापना कर दी थी।

१९१२ में नव चीन के निर्माता डा० सन्यात सेन ने राजवंश की समाप्ति कर लोकतन्त्र की समाप्ति कर दी थी। १९१७ में रूस के जार निकोलस की हत्या कर दी गई और वहाँ प्रजातन्त्र स्थापित हो गया। जर्मन सम्राट् कैसर द्वितीय जब अपने देश से भाग गये तब वहाँ भी लोकतन्त्र की स्थापना हुई। १९२२ में कमाल अतातुर्क ने सुलतान को गद्दी से हटाकर दम लिया। १९३१ में स्पेन के राजा अल्फैंसों को गद्दी छोड़कर भागना पड़ा। यूगोस्लेविया और ग्रीस में भी राजतन्त्र समाप्त हुआ और कुछ समय बाद इटली के राजा की हटने की बारी आई। अन्य भी अनेक छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी गद्दियों से हटाए गए।

दूर क्यों जाएँ, भारत ने स्वतन्त्र होते ही नये संविधान के द्वारा ब्रिटिश सम्राट् से सम्बन्ध विच्छेद करके लोकतन्त्र की घोषणा कर दी और सदियों से चलते आने वाले अनेक रियासती राजवंशों को गद्दी छोड़ने के लिए विवश किया। १९५४ में कर्नल नासिर ने मिश्र में से उसके राजा को गद्दी से उतारकर लोकतन्त्र की स्थापना की है। अब जापान, हालैण्ड, इंगलैण्ड आदि बहुत कम देश बचे हैं, जहाँ राजतन्त्र पद्धति किसी न किसी रूप में विद्यमान है, यद्यपि इन देशों में भी राजा के अधिकार नाममात्र के रह गये है।

अधिनायकवाद

वस्तुतः आज राजतन्त्र का युग नहीं रहा। प्रथम महायुद्ध के बाद कुछ राष्ट्रों में लोकतन्त्र के विरोध में एकतन्त्रवाद की लहर चली थी। इटली, जर्मनी और रूस में क्रमशः मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन ने व्यावहारिक रूप में सम्पूर्ण शासन-सत्ता अपने हाथ में ले ली थी। इन नेताओं ने देश की जनता को, कुछ सेवा करके और कुछ बल व भय का प्रदर्शन करके इस बात पर

उद्यत कर लिया कि वह उन पर विश्वास करे और उनकी आज्ञा का बिना ननु नच किये पालन करे। एक बार जब जनता ने उन पर विश्वास कर लिया, तब क्रमशः उनका अहंकार बढ़ता गया और उन्होंने अपनी इच्छाओं को राष्ट्र की इच्छा और राष्ट्र-हित के रूप में प्रकट करना शुरू किया। उनसे मतभेद प्रकट करना राष्ट्र-द्रोह माना जाने लगा। उनके दल या पार्टी के सिवा बाकी सब दल गैरकानूनी करार दिये गये। और उनके दल में भी नेता के प्रति अगाध अन्ध श्रद्धा अनिवार्य हो गई। प्रारम्भ में तो उन तीनों देशों के नेताओं ने—जो तब तानाशाह, अधिनायक या डिक्टेटर का रूप धारण कर चुके थे, देश-हित की योजनाओं पर तेजी से चलना शुरू किया, किन्तु कुछ समय बाद अधिनायक की अहंकारपूर्ण भावना ने किसी दूसरे के मतभेद को सहन न कर सकने और बल व आतंक के द्वारा स्थापित अपने नेतृत्व को अखण्ड रखने की अदम्य भावना ने—उनको इतना मदोन्मत्त कर दिया कि देश में विचार-स्वातन्त्र्य भी अपराध माना जाने लगा। हिटलर ने जर्मन रीशस्टिग के भवन में आग लगाकर और उसका अपराध जर्मन नेताओं पर लगाकर हत्याकाण्ड शुरू कर दिया। अपने ही १५०-२०० साथियों को एक साथ एक दावतघर में सैनिकों की गोलियों द्वारा भून डाला, क्योंकि उसे यह संदेह हो गया था कि कहीं वे उसकी डिक्टेटरशिप का विरोध करेंगे। स्टालिन ने जिस नृशंसता से हजारों आदमियों को मरवा डाला, उसके रहस्य अब रूसी नेताओं ने खोले हैं। डिक्टेटर किसी की सुनता नहीं, किसी की सलाह लेना नहीं चाहता और आतंक का, भय का राज्य सारे देश में स्थापित कर लेता है। इस शासन में नागरिक अपना व्यक्तित्व खोकर मशीन का एक पुर्जा भर बन जाता है। लोकतन्त्र की यह भावना कि जनता देश की स्वामिनी है, डिक्टेटरशिप या अधिनायकवाद में कायम नहीं रहती। डिक्टेटर की एक भूल का परिणाम सारे देश को भुगतना पड़ता है। मुसोलिनी व हिटलर ने अपने देशों का सर्वनाश अपने हाथों करा दिया।

लोकतन्त्र के विशेष तत्व

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र का यह अर्थ किया था—**जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता पर शासन**। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध

राजनीतिज्ञ मिल के शब्दों में सब लोग या अधिकांश लोग अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा जिस देश में शासन करते हैं, उसे लोकतन्त्र शासन कहते हैं। डिक्टेटरशिप में सर्वथा इसका अभाव होता है।

लोकतन्त्र की स्थिरता के लिए दो-तीन आधारभूत सिद्धान्त आवश्यक हैं, जिनके बिना कोई शासन लोकतन्त्री नहीं हो सकता। इनमें से पहला सिद्धान्त यह है कि कानून बनाने, नीति निर्धारित करने तथा बजट पास करने और कर लगाने का अधिकार जन-प्रतिनिधियों को ही है। मन्त्रिमण्डल इनके सामने अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। जब तक मन्त्रिमण्डल को इनका विश्वास प्राप्त रहे, वह अपने पद पर रह सकता है। विश्वास खो देने की स्थिति में वह एक दिन भी नहीं रह सकता। इन मर्यादाओं का पालन करने से कभी मन्त्रिमण्डल जनता के प्रतिनिधियों—अर्थात् जनता के विरुद्ध जाने का साहस नहीं करेगा।

लोकतन्त्र की स्थिरता के लिए दूसरा आवश्यक सिद्धान्त यह है कि जनता को दो या अधिक पार्टियों में से अपना प्रतिनिधि चुनने की स्वतन्त्रता हो, परन्तु यह अधिकार तभी अक्षुण्ण रह सकता है, जब कि विभिन्न विचारों व नीतियों के समर्थकों को अपना संगठन करने, भाषण देने और लिखने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। उन पर किसी प्रकार का बन्धन न हो। चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करने की स्वाधीनता भी होनी आवश्यक है।

सच्चे लोकतन्त्र के लिए प्रत्येक वयस्क नागरिक को—बिना लिंग, जाति, धर्म, आदि के—चुनाव में निर्भय होकर स्वतन्त्रता से वोट देने का अधिकार हो, परन्तु इसके लिए आवश्यक यह है कि मत लेने का तरीका गुप्त होना चाहिए। यदि मतदान गुप्त रूप से न हुआ तो सम्पन्न या शक्तिशाली लोग अपने मातहत या गरीब व निर्बल नागरिकों पर दबाव डालकर किसी एक विशिष्ट व्यक्ति को ही मत देने के लिए विवश कर सकेंगे। इन तीनों सिद्धान्तों का पालन करने से लोकतन्त्र की रक्षा होती है।

लोकतन्त्र की त्रुटियाँ

अनेक विचारकों का विचार है कि लोकतन्त्र की वर्तमान पद्धति में अनेक दोष हैं। स्वयं म० गांधी आज के लोकतन्त्र के पूर्ण समर्थक नहीं थे। आखिर एक अशिक्षित, निपट मूर्ख या दुराचारी व्यक्ति को एक विद्वान, सदाचारी के

बराबर वोट देने का अधिकार देना कहाँ तक तर्कसंगत है ? बहुमत भी कभी किसी हलके-भड़कीले नारों द्वारा वश में किया जा सकता है ? १०-११ वर्ष पूर्व भारत में ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उन्माद में बहकर मुसलमान जनता देश को खण्ड-खण्ड करने पर तैयार हो गई। प्रान्तीय भाषा का उन्माद नासमझ जनता के एक बड़े भाग को गुमराह किये रहा और आज भी कर रहा है फिर आज के चुनावों में एक बड़ा दोष यह भी है कि संगठन व प्रचार के लिए जिस दल के पास अधिक साधन होते हैं, वह चुनाव जीत जाता है। इन दोषों के होते हुए भी अब तक लोकतन्त्र-पद्धति से अधिक उत्तम दूसरी व्यवस्था आविष्कृत नहीं हो सकी है; इसलिए प्रायः सभी देश इसी व्यवस्था को अपनाते हैं।

: ३२ :

नारी-जागरण व उसकी दिशा

आज की भारतीय नारी एक ओर सती सीता, सावित्री और दमयन्ती के आदर्श चरित्र पढ़ती है, दूसरी ओर वह नये समाज और नई दुनिया को देखती है, जिसमें समाज और युग उससे कुछ ऐसी चीज माँगता प्रतीत होता है, जिसकी शायद सीता, सावित्री या दमयन्ती से कभी अपेक्षा नहीं की गई थी। एक ओर नारी पुरानी पुस्तकों के यह आदर्श सुनती है—पति ही परमेश्वर है, वह निर्धन हो, बधिर हो, कुष्ठ रोगी हो, उसकी सेवा से ही सब देवता सन्तुष्ट होते हैं पर दूसरी ओर वह यूरोप में हुए नारी-जागरण के आन्दोलन व संघर्ष का इतिहास पढ़ती है। एक ओर वह रामायण व महाभारत की कथाओं द्वारा आदर्श गृहिणी, आदर्श माता आदि के नैतिक उपदेश सुनती है, दूसरी ओर वह राष्ट्र-निर्माण में भाग लेने वाली आधुनिक नारियों के, विविध क्षेत्रों में पुरुष के साथ प्रतियोगिता करके आगे आने वाली साहसिक नारियों के, देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम में नेतृत्व करने वाली वीर महिलाओं के वृत्तान्त पढ़ती है, शासन के सम्मानपूर्ण पदों

पर स्थित अपनी बहनों को देखती है, सार्वजनिक सेवा के द्वारा विविध सभाओं, संस्थाओं में बहनों को सम्मान प्राप्त करते देखती है। यह सब देखकर वह दुविधा में पड़ जाती है। पहले नारी केवल अपने परिवार तक और उसमें भी एक संकुचित क्षेत्र तक सीमित थी। उसका बाहर की दुनिया से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।

लेकिन आज दुनिया बदल गई है। पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी संस्कृति भारतीय जीवन में प्रवेश कर चुकी है। समय की परिस्थितियाँ भी बदल गई हैं। पुरुष नये पश्चिमी आदर्शों व नये वातावरण को अपना रहा है। वह अपनी जीवन-संगिनी से भी यही आशा करता है। नारी जानती है कि उसे पुराने संस्कारों को तिलाजलि देनी होगी। पुरुष समाज की इच्छा के अतिरिक्त उसे नये जीवन की चमक और चकाचौंध का आकर्षण भी लुभाने लगा है। नारी, जो अब तक घर की चाहारदीवारी में बन्द थी, बाहर के विस्मयपूर्ण और प्रसन्न वातावरण को पाकर यदि उसकी ओर आकृष्ट हो, तो यह अस्वाभाविक नही कहा जा सकता।

मानसिक विद्रोह

आज की प्रगतिशील नारी जब पुरुष को संसार के बड़े से बड़े साहसिक कार्य करते देखती है, तो उसका हृदय भी समुद्र के विशाल वक्षःस्थल को चीरने, उन्मुक्त नील आकाश में वायुयानों द्वारा विचरने और भीषण विध्वंस में पुरुष को भी मात करने को उत्सुक हो उठता है। यह पुरुष को राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-संग्राम में कूदकर आहुति देते हुए देखती है, तो वह भी राष्ट्र-सेवा के पुनीत सौभाग्य से अपने को वंचित नहीं रखना चाहती। जब वह देखती है कि उसके पिता, पति या भाई पैसा कमा रहे हैं, तो वह भी नौकरी करके उनकी समकक्ष बनने का गौरव नहीं छोड़ना चाहती। इसके साथ-साथ पुरुष के समकक्ष होने पर वह उनके समान अधिकार भी माँगती है। केवल अधिकार ही नहीं माँगती, बल्कि अपनी योग्यता, शक्ति और इनसे बढ़कर अपनी लगन के द्वारा वह उससे भी आगे बढ़ कर उसे नीचा दिखाने को आतुर है।

पुरुष नारी पर सदियों से अत्याचार करता आया है। स्वयं किसी भी नैतिक कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को अपने सिर पर लेना नहीं चाहता, किन्तु नारी

को सदा संयम, पतिव्रत-धर्म और तपस्या का उपदेश देता रहा है। एक शिक्षित नारी यह सब देखकर सोचती है कि क्या संसार के समस्त वैभव और विलास के सम्पूर्ण सुख केवल पुरुष के लिए है ? क्या सूर्य, चाँद और तारों के रमणीक दृश्य तथा प्रकृति के सुन्दर नजारे केवल पुरुष के लिए ही हैं और इसके विपरीत क्या समस्त जप-तप, नियम एवं सब शास्त्र केवल स्त्रियों के लिए ही हैं ? क्या पुरुषों पर न शास्त्र लागू होते हैं और न समाज के बन्धन ? क्या स्त्री का संसार केवल घर की चहारदीवारी ही है ? यह सब सोचकर नारी विद्रोह करने लगी है। घर में, समाज में, और राजनीति में सर्वत्र वह पुरुष के समान अधिकार माँगने लगी है। वह वेद, शास्त्र, स्मृति और प्राचीन उपदेश सभी को अग्नि देवता के अर्पण करके पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलना चाहती है और घर-गृहस्थी, चूल्हा, चक्की, बच्चों के पालन-पोषण की एकमात्र जिम्मेवारी छोड़कर हर एक क्षेत्र में पुरुष से मुकाबला करने को उत्सुक है। यूरोपियन नारी की भाँति भारत में भी आज वह अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगी है, राजनीति के मंच पर गरजने लगी है, दफ्तरों में काम करने लगी है। घर के क्षेत्र से उसे सन्तोष नहीं रहा। उसे वह अब अस्वाभाविक और बहुत क्षुद्र मानने लगी है। सैनिक बनकर बन्दूक चलाने में वह रस लेने लगी है। वह वकील और डाक्टर बनना चाहती है। टिकट कलैक्टर, टाइपिस्ट या 'टैलिफोन गर्ल' बनने और दफ्तर की क्लर्की करने में वह अभिमान अनुभव करती है।

समाज में सहचारिणी

किसी समय यह स्वीकार किया जाता था कि नारी के बिना पुरुष अपूर्ण है। कोई यज्ञ या महान् कर्तव्य उसके बिना पूर्ण नहीं होता था। राम की पत्नी सीता वनवास भोग रही थी तो राम को उसकी प्रतिमा यज्ञ में साथ रखनी पड़ी। आज भी नारी केवल रमणी—केवल पुरुष के आश्रित नहीं रहना चाहती। वह राष्ट्र के निर्माण में, समाज के विकास में और गृहस्थी के संचालन सब में पुरुष की सहचारिणी बनने को उत्सुक है। आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व तीर्थ-यात्राओं और विवाह-शादियों के अतिरिक्त रेलों में, ट्रामों में, ताँगों में, बसों में, नारी के बहुत कम दर्शन होते थे। पर आज बड़े शहरों में लड़कियाँ कालेजों, दफ्तरों व अन्य स्थानों पर जाती हुई प्रायः मिलती हैं। वह सचमुच समाज मे

अपना स्थान पुरुष के समान स्तर पर बनाने को उत्सुक ही नहीं, प्रयत्नशील भी है। कालेजों में वह अपनी योग्यता से पुरुषों को पीछे छोड़ती जा रही है। सार्वजनिक जीवन में वह बहुत आगे बढ़ रही है। म्यूनिसिपल कमेटियों, असेम्बलियों और संसद् के लिए वह बेधड़क होकर चुनाव लड़ती है और वहाँ जाकर महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विवाद में पूर्ण भाग लेती है। उसी का परिणाम है कि आज नारी-शिक्षा बढ़ रही है, तलाक व पुत्रियों को समान उत्तराधिकार मिल गया है।

एक प्रश्न

नारी की इस असाधारण जागृति और प्रगति में एक बड़ा भारी प्रश्न-वाचक चिन्ह भी है, जो आज के अनेक विचारकों को चिन्तित कर रहा है। प्रश्न यह है कि जिस नई विचारधारा के प्रवाह में हम बहे जा रहे हैं, उससे मानव-समाज की शाश्वत समस्याएँ कहाँ तक हल होंगी। पश्चिमी सभ्यता के अनेक गुणों को ग्रहण करते हुए भी यह तो आवश्यक नहीं है कि उसके समस्त दोषों को भी उसी आदर के साथ स्वीकार किया जाए। यदि आज की नई परिस्थिति में नवीनता का त्याग असम्भव ही हो तो उसे उसी सीमा तक क्यों न लिया जाए, जहाँ तक वह उपादेय है। नवीन के साथ प्राचीन आदर्शों का समन्वय ही क्यों न किया जाए ?

एक भूल

आज एक बड़ी भारी भूल हो रही है और उसका कारण नारी-जाति पर होने वाले अत्याचारों व अन्याय की प्रतिक्रिया है। पुरुष ने नारी को दलित करके उसके हृदय में यह भावना पैदा कर दी कि वह हीन है। उसके गृहस्थ-कार्य, उसका मातृत्व और उसका सन्तान पालन सब हीन हैं। आज वह यह भूल गई है कि मंगलमय भगवान् की सृष्टि में उसका क्या स्थान है, क्या कर्तव्य है। स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक रचना-भेद—शरीर व मन दोनों के भेद—के द्वारा यह स्पष्ट है कि दोनों का कार्य एक नहीं है। नारी का सफल जीवन उसके नारीत्व और मातृत्व में है, पुरुष की सफलता उसके पौरुष में है। जिस प्रकार स्त्रियों की तरह से आचरण करने वाला पुरुष स्त्रैण या जनाना कहलाता है, उसी तरह

पुरुष का अनुकरण करती हुई नारी भी अपने धर्म को छोड़ने का अपराध करती है। मंगलमय भगवान् ने उसके शरीर की रचना व्यर्थ ही नहीं की; उसके हृदय में स्नेह और छाती में दूध बिना किसी विवेक के नहीं दिया। संतान-पालन की शक्ति और स्नेहमयी भावना उसका सहज गुण है, अनिवार्य कर्त्तव्य है। उससे मुक्त होकर वह समाज और देश तथा विश्वनियन्ता के प्रति घोर अपराध करेगी। यह मातृत्व या सन्तान-निर्माण किसी भी तरह पुरुष के शासन, साम्राज्य-विजय, व्यापार और व्यवसाय से हीन नहीं है।

आज भी स्वतन्त्र नहीं

पुरुष की ओर आकर्षण भी नारी का एक स्वाभाविक धर्म है, ठीक उसी तरह, जिस तरह पुरुष नारी के प्रति आकृष्ट होता है। आज की नारी एक ओर पुरुष से घृणा करती है, नारी-सुलभ गुणों का बलिदान करके पौरुष को जगाना चाहती है। दूसरी ओर अपने शृंगार द्वारा अपने रमणीत्व के प्रदर्शन में और भी अधिक लिप्त और अधिक सतर्क रहने लगी है। शृंगार-सामग्री पर राष्ट्रीय सम्पत्ति का खर्च होने वाला बढ़ता हुआ अंश सचमुच चिन्ता का विषय हो रहा है। श्रीमती महादेवी वर्मा, जो कवयित्री होने के साथ-साथ अच्छी विचारक भी हैं, लिखती है—"आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नारी को पुरुष के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नहीं है। अतः वह परम्परा-गत रमणीत्व को तिलांजलि देकर सुखी हो सकती है। परन्तु वह आदिम नारी की दुर्बलता (वस्तुतः वह स्वाभाविकता ही है) को नहीं छोड़ सकी है। शृङ्गार के इतने संख्यातीत उपकरण, रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्षित करने के उपहास-योग्य प्रयास, इस विषय में कोई सन्देह का स्थान बने नहीं रहने देते। नारी को गरिमा देने वाले गुणों का भले ही विनाश हो गया हो, उसका रमणीत्व नष्ट नहीं हो सका।......बाहर के संघर्षमय जीवन में जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रों में कठिन से कठिन परि-श्रम करेगी, उसी पुरुष में अपने प्रति जिज्ञासा या उत्सुकता जागृत करने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अंग-सौष्ठव की रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने को उद्यत है।" क्या तब भी नारी को स्वतन्त्र कहा जा सकता है?

नारी का जीवन नारीत्व के विकास में है और नारीत्व का विकास मातृत्व में। राम, कृष्ण, शिवाजी, प्रताप या गांधी जैसी विभूतियों का निर्माण करने वाली माताओं ने किस राष्ट्र-निर्माता से कम सेवा की है? राष्ट्र-निर्माता का यह महान् उत्तरदायित्व छोड़कर यदि वह पुरुष की लीक पर ही चलना चाहती है, तो वह केवल अपने पवित्र कर्त्तव्य से ही च्युत नहीं होती है, किन्तु राष्ट्र की बड़ी भारी अप-सेवा भी करती है। मातृत्व के महान् गौरव के कारण ही हमारे आचार्यों ने उसे बहुत बड़ा पद दिया था—

> उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
> सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।—मनु०

पुरुष का कार्य-क्षेत्र नारी के लिए आपद्धर्म हो सकता है, स्वाभाविक धर्म नहीं। महात्मा गांधी स्त्रियों की स्वतन्त्रता के बहुत बड़े समर्थक थे। उन पर स्त्री-विरोधी होने का आरोप किसी भी स्थिति में नहीं लगाया जा सकता। उनका उद्धरण देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं—"मेरे मत से स्त्री को, घर छोड़कर, घर की रक्षा के निमित्त कंधे पर बन्दूक धरने का आह्वान करने पर अथवा इसके लिए प्रोत्साहित करने पर, स्त्री और पुरुष दोनों का ही पतन होगा। यह तो फिर से जंगली बनना और विनाश का प्रारम्भ हुआ। ···अपने घर को सुव्यवस्थित करने में उतनी ही वीरता है, जितनी बाहर से रक्षा करने में।"

: ३३ :

नये कानून व हिन्दूनारी

कुटुम्ब व विवाह की प्रथा मानव को शान्ति, उन्नति और आनन्द देने तथा समाज के भली-भाँति विकास के लिए बनाई गई थी। वैदिक शास्त्रों में विवाह को आध्यात्मिक स्वरूप दिया गया है और विवाह एक पवित्र धार्मिक बन्धन

माना गया है। समाज के दो महान् अंगों—नर और नारी का सम्बन्ध समाज के पालन-पोषण और व्यवस्था में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। स्त्री और पुरुष एक रथ के दो पहिये हैं। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। इनमें परस्पर संघर्ष को रोकने के लिए विवाह को धार्मिक कर्त्तव्य का रूप देते हुए समाज के महान् नेताओं ने नर और नारी दोनों को आजीवन एक दूसरे का साथ देते हुए प्रेमपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का आदेश दिया था। न पुरुष ऊँचा था और न स्त्री नीची। रथ के दो पहियों की भाँति दोनों समान थे। जहाँ नारी को पतिव्रत-धर्म का उपदेश दिया गया, वहाँ पुरुष के लिए भी पर-स्त्रीगामिता भयंकर अपराध माना गया। दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न था, परन्तु दोनों की स्थिति समान थी। वेदों में पत्नी को गृह की साम्राज्ञी बताया गया है। वैदिक काल में अनेक विदुषी और तेजस्विनी नारियों के नाम मिलते हैं।

समय बदला और पुरुष ने नारी-सुलभ कोमल गुणों का अनुचित लाभ उठाना शुरू किया। वह निरंकुश होकर नारी पर अत्याचार करने लगा। धर्म-शास्त्रों के उपदेशों पर स्वयं न चलकर उसने पत्नी को अधिकाधिक जकड़ना शुरू किया। उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई, उसकी शिक्षा समाप्त हो गई। वह घर की चहरदीवारी में बन्द कर दी गई। एक साथ अनेक विवाह, वृद्ध होते हुए भी कुमारियों से विवाह तथा पत्नी पर अत्याचार आदि समाज की सनातन कुप्रथाएँ बन गईं। नारी की स्थिति यहाँ तक हीन हो गई कि देश के अनेक भागों में कन्या का जन्म होते ही उसका वध किया जाने लगा।

दुर्दशा के दो कारण

पर समय तो बदलता रहता है। नारी ने भी करवट ली, अनेक समाज-सुधारकों ने भी नारियों की दशा सुधारने के महान् प्रयत्न किये। पश्चिमी शिक्षा के प्रचार ने भी नारी को अपनी दयनीय दशा से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया। स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ नारी-जागरण का आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया। शिक्षित नारी ने अपनी दुर्दशा के कारणों पर विचार किया। वह इस परिणाम पर पहुंची कि नारी की दुर्दशा के दो प्रमुख कारण हैं—एक तो यह कि विवाह सम्बन्धी कानून पुरुष ने अपने हित के लिए बनाये हैं, जिनमें

नारी की कोई स्थिति ही नहीं है। नारी की दुर्दशा का दूसरा कारण यह अनुभव किया गया कि आर्थिक दृष्टि से वह परतन्त्र है। पैसा पुरुष कमाता है और नारी को रोटी देता है। उत्तराधिकार में भी नारी का कोई स्थान नहीं है। शिक्षित नारी ने इन कारणों को दूर करने का निश्चय कर लिया।

पिछले वर्षों में भारत में जो नारी-जागृति आन्दोलन हुआ, उसके परिणाम स्वरूप देश में दो महत्त्वपूर्ण कानून स्वीकृत किए गये हैं। एक है विवाह सम्बन्धी कानून और दूसरा है उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून। इन दोनों कानूनों की ही हम संक्षेप में यहाँ चर्चा करना चाहते हैं।

नये विवाह कानून

१८ मई १९५५ से हिन्दू, सिख, बौद्ध और जैनों के विवाह कानून बिल्कुल बदल गये हैं। पहले एक पुरुष एक साथ अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, किन्तु नए कानून की पाँचवीं धारा के अनुसार प्रथम पत्नी के जीवित होते हुए विवाह नहीं हो सकता। यदि कोई एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करेगा तो उसे कठोर दंड देने का विधान कानून में रखा गया है। पहली जीवित पत्नी की बात छिपा लेने पर १० वर्ष तक की कैद देने का उल्लेख भी कानून में किया गया है। इस व्यवस्था से बहु-विवाह की दूषित प्रथा हिन्दुओं में सदा के लिए समाप्त हो गई। अब कोई पुरुष किसी दूसरी सुन्दर या सम्पन्न युवती के फेर में पड़कर पहली पत्नी को तिरस्कृत नहीं कर सकता।

नये कानून में अनमेल विवाह की उस प्रथा को भी सदा के लिए समाप्त कर देना चाहिए था, जिसके अनुसार एक पैर कबर में लटकाने वाला बूढ़ा १४-१५ वर्ष की अबोध कन्या से विवाह कर उसका जीवन सदा के लिए बर्बाद कर देता है। परन्तु इसकी कोई व्यवस्था नहीं की गई। नये प्रगतिशील कानून में अनमेल विवाह पर कोई बन्धन न लगाना बहुत बड़ी कमी रह गई है। किसी मनचले ने इस पर मजाक किया था कि यदि ऐसा प्रतिबन्ध लगा दिया जाता तो विधानसभाओं या संसद् के बूढ़े सदस्य कोमलांगियों से विवाह कैसे कर पाते !

दुधमुँही या बहुत छोटी लड़कियों तथा छोटे बच्चों के विवाह को रोकने के लिए कन्या की न्यूनतम उमर १५ वर्ष तथा वर की आयु १८ वर्ष नियत कर दी गई है। १८ वर्ष से कम वर्ष की लड़की माता-पिता की अनुमति के बिना विवाह नहीं कर सकेगी। नये कानून में विवाह की सब धार्मिक पद्धतियों को स्वीकार किया गया है, तथापि विवाह के प्रमाण के लिए रजिस्ट्री कराने की सुविधा भी दी गई है।

नारी को सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि चरित्रहीन तथा असाध्य गन्दे रोगों का शिकार और अत्याचारी पुरुष भी पत्नी के निरन्तर साथ रहने के लिए विवाह कर सकता था और इस कारण पत्नी का समस्त जीवन ही नष्ट हो जाता था। इसे रोकने के लिए नये कानून में दो प्रकार की व्यवस्थायें की गई हैं। साधारण कारण होने पर कानूनी तौर पर पत्नी पति से अलग रहने का अधिकार प्राप्त कर लेती है। इस स्थिति में पुरुष स्त्री को साथ रहने के लिए बाधित नही कर सकता।

तलाक का अधिकार

स्थिति के गम्भीर होने की अवस्था में पति व पत्नी को परस्पर तलाक देने का भी अधिकार दे दिया गया है। निम्न कारणों से अदालत जुडिशियल पृथक् वास की इजाज़त दे सकती है—

(क) एक ने दूसरे को दो वर्ष या इससे अधिक समय से छोड़ रखा है।

(ख) एक ने दूसरे पर जुल्म किये हैं।

(ग) कोढ़ या और कोई गुप्त बीमारी हो गई है।

(घ) विवाह के बाद किसी पक्ष ने दूसरे व्यक्ति के साथ व्यभिचार किया है।

निम्नलिखित कारणों से तलाक भी स्वीकृत किया जा सकता है—

(क) व्यभिचार का जीवन व्यतीत हो रहा है।

(ख) हिन्दू धर्म छोड़ दिया है।

(ग) कोढ़ या गुप्त रोग से पीड़ित है।

(घ) संन्यास ले लिया है।

(ङ) सात वर्ष से लापता है।

(घ) कानूनी पृथक् वास को दो वर्ष हो गए हैं, और सह-शयन नहीं हुआ है।

पत्नी नीचे लिखे कारण होने पर तलाक की अर्जी दे सकती है—

(क) नये कानून से पहले किसी पति ने दो विवाह किये हैं और दूसरी पत्नी अर्जी के समय जीवित है।

(ख) विवाह के बाद पति ने पशुओं के साथ या दूसरे पुरुषों के साथ व्यभिचार किया है या जबरदस्ती किसी स्त्री के साथ बलात्कार अथवा शारीरिक सम्बन्ध किया है।

तलाक से हानि अधिक

तलाक की इस व्यवस्था पर देश में बहुत विचार हुआ है। भारत के प्राचीन शास्त्रों में विवाह को आध्यात्मिक व धार्मिक कर्त्तव्य और आजीवन का बन्धन माना है। तलाक की प्रथा जारी कर देने से विवाहित जीवन सुखी नहीं रहेगा। गृहस्थ-जीवन में थोड़े-बहुत मतभेद होते ही रहते हैं, पर सम्बन्ध-विच्छेद के द्वार बन्द हैं। इसलिए फिर वे दोनों राजी-खुशी मिल जाते हैं। कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। अब मार्ग मिल जाने से स्वभावतः एक-दूसरे से अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ जाएगी। इस कानून के पास हो जाने के बाद से सम्बन्ध-विच्छेद ज्यादा होने लगे हैं। यह ठीक है कि अभी इस कानून में सम्बन्ध-विच्छेद को असाधारण परिस्थितियों में ही स्वीकार किया गया है, किन्तु इस बात की क्या गारन्टी है कि कल इन कारणों को शिथिल नहीं कर दिया जायगा? एक बार छिद्र हो जाय, फिर जहाज के छोटे से छिद्र को बड़ा होने में देर नहीं लगती।

आज जो नारी कुष्ट-रोगी, नपुंसक, व्यभिचारी पति से मुक्ति पाने को उत्सुक है, क्या वह जानती है कि तलाक की कानूनी तलवार उसके सिर पर भी पड़ सकती है। पुरुष ही रोगी नहीं होता, स्त्री भी रोगी हो सकती है। स्त्री पुरुष को तलाक देगी, पुरुष को दूसरा विवाह करने में कठिनता न होगी, किन्तु पुरुष जब किसी स्त्री को दुराचारिणी या असाध्य रोग से ग्रस्त कहकर तलाक दे देगा, तो सिवाय अनाथालय या गंगा में डूब मरने के और कोई गति

न होगी। फिर पुरुष के लिए पत्नी को अदालतों में दुराचारिणी सिद्ध करना बहुत कठिन नहीं है। इस तरह हमारी नम्र सम्मति में तलाक के अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद भी कुछ शिक्षित व समर्थ नारियों के अतिरिक्त साधारण स्त्री को इससे लाभ न होकर हानि ही अधिक होगी।

नारी को उत्तराधिकार

हम ऊपर कह आये हैं कि नारी ने पुरुष-समाज के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए दो उपाय किये—तलाक-अधिकार प्राप्ति तथा आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति। आर्थिक स्वावलम्बन के लिए एक ओर उसने संसार के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करके स्वयं रोजी कमानी शुरू की, दफ्तरों में नौकरी शुरू कर दी, दूसरी ओर उसने उत्तराधिकार कानून में परिवर्तन कराके माता, पुत्री व पत्नी के लिए अधिकार प्राप्त कर लिये। इस लेख में हम इसी उत्तराधिकार कानून का परिचय देना चाहते हैं।

अब तक हिन्दू कानून के अनुसार पिता की सम्पत्ति केवल पुत्रों में बाँटी जाती है, पुत्रियों का पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। नये कानून के अनुसार पुत्रियों को भी अपने भाइयों के साथ स्वार्जित तथा पैत्रिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति में अधिकार मिलेगा, यदि पिता स्वयं इसके विरुद्ध कोई वसीयत न कर गया हो। पति की मृत्यु पर पत्नी भी देवर, जेठ या पुत्रों पर आश्रित न रहेगी, उसे भी पति की सम्पत्ति में से अधिकार मिलेगा। पहले स्त्रियों को उत्तराधिकार मिलता भी था, पर वह बहुत सीमित होता था। वे उस सम्पत्ति को कुछ असाधारण परिस्थितियों के सिवाय बेच नहीं सकती थीं और अपने जीवन-काल में ही उसका उपभोग कर सकती थीं। नये कानून के द्वारा ऐसी सब अयोग्यताएँ दूर कर दी गई हैं। कृषि, भूमि, मकान आदि के लिए भी कानून में व्यवस्था है, ताकि वह इस नये कानून में छिन्न-भिन्न न हो जाए। इस कानून के द्वारा यह मान लिया गया है कि संविधान के अनुसार लिंग-भेद के कारण स्त्री पुरुष में, पुत्र पुत्री में, कोई भेद नहीं है। इसलिए उत्तराधिकार से उन्हें वंचित नहीं किया जा सकता। जहाँ तक विधवा पत्नी का सम्बन्ध है, यह कानून हमारी नम्र सम्मति में आवश्यक था। आज विधवा

को पुत्रों पर और अपनी बहुओं पर आश्रित हो जाना पड़ता है और जो दयनीय जीवन बिताना पड़ता है, उससे मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक भी था।

किन्तु पुत्री को उत्तराधिकार मिलने से अनेक विषम समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी। आज भाई, बहन के लिए कर्त्तव्य के रूप में या स्नेहवश सदा कुछ न कुछ देते रहते हैं। इसमें वे अपना गौरव समझते हैं कि बहन को अधिक-से-अधिक दें, किन्तु इस कानून के अनुसार बहन का सम्पत्ति में कानूनी अधिकार हो जाने के बाद जायदाद के लिए भाई-बहन में संघर्ष प्रारम्भ हो जाएँगे। फिर वह भाई-बहन का स्नेह, जो शायद भारत की अपनी अपूर्व प्रथा है और रक्षा-बन्धन के त्योहार पर जिसके दर्शन होते हैं, समाप्त हो जाएगा। फिर दहेज यथाशक्ति देने की बजाय बहन का कानूनी अधिकार भर उसे मिलेगा। इस प्रथा से कन्याओं की असुविधाएँ भी बहुत बढ़ जाएँगी। आज तो विवाह के समय कन्या का घर भरा-पूरा पसन्द किया जाता है, फिर सम्पत्ति के लोभ से कम-से-कम भाई-बहनों वाली लड़की पसन्द की जाने लगेगी। पिता के घर से सम्पत्ति लाकर भी तो घर को आर्थिक दृष्टि से मजबूत नहीं बनाया जा सकेगा, क्योंकि पति की बहनें भी तो अपना-अपना भाग ले जावेंगी। वस्तुतः समानाधिकार की सामाजिक दृष्टि से विचार करने वाली आज की शिक्षित नारी यह सब दुष्परिणाम नहीं देख पा रही है। इस दृष्टि को बदलने की आवश्यकता है, परन्तु साथ ही यह भी देखना होगा कि पुरुष नारी को हीन समझकर उस पर अत्याचार न कर सके। पुरुष की उच्छृङ्खलता पर नियन्त्रण करने की बजाय आज पुरुष और नारी को सदा संघर्षशील भागों में विभक्त करना समाज के लिए सुखद नहीं होगा।

: ३४ :

सह-शिक्षा

सह-शिक्षा का अर्थ है एक कक्षा में, एक कमरे में छात्रों और छात्राओं की एक साथ पढ़ाई। भारत में इसका सदा विरोध किया जाता था और यह व्यवस्था थी कि बालक और बालिकाओं के गुरुकुल अलग-अलग और एक-दूसरे से दूर हों। यूरोप में भी सह-शिक्षा का रिवाज १८वीं-१९वीं सदी में बहुत नहीं था। आज वहाँ सह-शिक्षा आम बात हो गई है और उसकी देखा-देखी भारत में भी प्रचलित हो चुकी है और निरन्तर इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। सह-शिक्षा का विरोध क्रमशः शिथिल होता जा रहा है।

समर्थन में युक्तियाँ

सह-शिक्षा के समर्थक बहुत प्रकाण्ड विद्वान्, उन्नत और प्रगतिशील हैं। वे कहते हैं कि सह-शिक्षा से देश को अनेक लाभ हैं, जिनकी उपेक्षा करना आज हानिकर होगा। उनकी मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सह-शिक्षा से राष्ट्र के धन का अपव्यय नहीं होगा। एक साथ लड़कों व लड़कियों के पढ़ने से अध्यापक वर्ग, भवन, फर्नीचर, पुस्तकालय तथा व्यवस्था आदि पर दोहरा व्यय नहीं करना होगा। आज जब कि योग्य, शिक्षित अध्यापकों का अभाव है, यह और भी अधिक आवश्यक है कि दोनों एक योग्य अध्यापक से पढ़ लिया करें। इसी तरह विद्यालयों की इमारतें भी अलग-अलग नहीं बनानी पड़ेंगी।

(२) लड़कों व लड़कियों के एक साथ पढ़ने और अधिक परिचय से उनमें एक दूसरे के प्रति मिथ्या आकर्षण कम हो जाएगा। अपरिचित व अज्ञात रहस्य के प्रति आकर्षण अधिक होता है। एक दूसरे के साथ अधिक सहवास से नवीनता, कुतूहलता और रहस्यमयता कम हो जाएगी और फलतः वाता-वरण सहज नैतिक हो जाएगा।

(३) दोनों के एक साथ रहने से लड़कों की उच्छृङ्खलता कम हो जाएगी। वे लड़कियों से शालीनता, नम्रता आदि गुण सीखेंगे। दूसरी ओर लड़कियाँ लडकों से पौरुष व साहस आदि गुण सीखेंगी।

(४) आज नारी भी राष्ट्र की समान नागरिक है। नागरिकता के सब गुणों का विकास सह-शिक्षा से ही नारी में हो सकेगा।

विरोधी क्या कहते हैं ?

परन्तु ये युक्तियाँ सह-शिक्षा के विरोधियों को प्रभावित नहीं करतीं। उनका कहना है कि सह-शिक्षा से मितव्यय सिर्फ वहीं हो सकता है, जहाँ विद्यार्थिनियों की संख्या कम हो। स्त्री-शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अब उनकी संख्या इतनी अधिक हो गई है और होती जा रही है कि उनके लिए अलग शिक्षालय खोलने में अपव्यय नहीं होगा। यों भी १०० छात्रों को एक कमरे में नहीं पढ़ाया जा सकता। जब लड़कियों की कमी नहीं है, उनके लिए अलग अध्यापक व पृथक् भवनों की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। लड़के व लड़की का एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। एक साथ अध्ययन से उसमें कमी आती तो यूरोप और अमरीका के शिक्षालयों में चरित्रहीनता के प्रतिदिन उदाहरण न सुने जाते। स्वाभाविक प्रवृत्ति को थोड़ा-सा भी अवसर मिलेगा, तो वह उग्र रूप धारण करेगी। पूर्वजों ने युवक युवती को अग्नि व घी की जो उपमा दी है, वह निराधार नहीं है। एक दूसरे के गुणों को सीखने का तर्क भी बहुत भ्रान्त है। मानव अच्छे गुण देर में सीखता है, दुर्गुण जल्दी सीखता है। इसलिए एक दूसरे के गुण सीखने की बजाय यह संभव है कि लड़के नाजुक बनने लगें, शृंगारप्रिय हो जावें और लड़कियाँ उच्छृङ्खल हो जावें। आज भारतीय शिक्षालयों में यह दुष्प्रवृत्ति देखी जा सकती है। नागरिकता के गुणों का विकास पृथक्-पृथक् विद्यालयों में भी हो सकता है।

मूल प्रश्न

सह-शिक्षा के प्रश्न पर वस्तुतः विचार करने के लिए हमें अधिक गम्भीर स्तर पर सोचना होगा। शिक्षा का सम्बन्ध मानव-जीवन से है। यदि शिक्षा जीवन के उपयोग में नहीं आई तो वह व्यर्थ है। शिक्षण-काल में विद्यार्थी या

विद्यार्थिनी को उन गुणों का विकास करना चाहिए, जो उसके भावी जीवन में उपयोगी हों। सह-शिक्षा के प्रश्न पर विचार करते ही हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि पुरुष और नारी को अपने भावी जीवन के लिए किन गुणों की आवश्यकता है। यदि उनका कार्य-क्षेत्र एक है, उन दोनों को एक समान सार्वजनिक कार्य करने हैं, एक समान सरकारी या व्यापारिक दफ्तरों में नौकरी करनी है, एक समान अदालतों में वकालत करनी है और एक समान धन उपार्जन करना है, तब तो सह-शिक्षा का विरोध नहीं किया जा सकता। साधारणतः सह-शिक्षा के सभी समर्थक नारी के समान अधिकार और वस्तुतः समान कर्त्तव्यों के समर्थक हैं, इसलिए वे दोनों में एक समान गुणों का विकास आवश्यक समझते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षालयों में, जहाँ चरित्र और स्वभाव का विकास होता है, एक समान वातावरण हो और एक-सी शिक्षा दोनों को दी जाए। किन्तु यदि नर और नारी ने पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में काम करना है, पुरुष ने बाह्य क्षेत्र में काम करना है और नारी ने घर में रह कर सन्तान का पालन-पोषण करना है, तो यह निश्चित है कि दोनों के जीवन के लिए भिन्न गुणों के विकास की आवश्यकता है। जब यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए तो यह भी आवश्यक है कि दोनों के शिक्षालय पृथक्-पृथक् हों, जिनमें वातावरण भिन्न हो, शिक्षण भिन्न हो ताकि दोनों अपने-अपने जीवन के लिए विभिन्न गुणों का विकास कर सकें। हमारी अपनी नम्र सम्मति में नारी का कार्य-क्षेत्र घर है, बाहरी दुनिया नहीं। नारी का सफल जीवन उसके मातृत्व में है। मंगलमय भगवान् की यही व्यवस्था है। पुरुष में पौरुष, दृढ़ता, कठोर परिश्रम, वीरता, साहस आदि गुणों के विकास की आवश्यकता है और नारी में स्नेह, धैर्य, ममता, सहानुभूति आदि गुणों के विकास की आवश्यकता है। इन भिन्न-भिन्न गुणों के विकास के लिए भिन्न वातावरण और भिन्न-भिन्न शिक्षण-क्रम की आवश्यकता है। यों भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास अथवा साधारण विज्ञान आदि विषय दोनों प्रकार के शिक्षालयों में एक प्रकार से पढ़ाये जायेंगे। परन्तु नर और नारी के कला-कौशल भिन्न-भिन्न होंगे। नारी को गृह-धर्म सिखाना होगा और पुरुष को शासन, सैनिक-शिक्षा, व्यापार तथा उद्योग आदि। मूल प्रश्न यह है कि नारी का कार्य-क्षेत्र क्या है। यदि उसे बाह्य क्षेत्र में काम करना है तो सह-शिक्षा में कोई आपत्ति नहीं होनी

चाहिए। यदि इसके विपरीत नारी का आदर्श सच्ची गृहिणी और आदर्श माँ बनना है तो उनके शिक्षालय पृथक् ही होने चाहिएँ। आज का युग नारी के समानाधिकार का है और समानाधिकार का अर्थ शिक्षित नारी समझती है एक समान कर्त्तव्य और एक कार्य-क्षेत्र। और इसलिए आज इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि सह-शिक्षा की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोका जा सकेगा।

: ३५ :

विद्यार्थी और राजनीति

प्राचीन शास्त्रकारों ने हमारे जीवन को चार भागों में बाँटा है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम विद्याध्ययन के लिए है। गृहस्थ आश्रम सांसारिक जीवन-यात्रा के लिए है और वानप्रस्थ या संन्यास समाज के कल्याण के लिए हैं। आज के युग में जब कि प्राचीन आश्रम-व्यवस्था का वह रूप नष्ट हो गया है, मानव-जीवन तीन भागों में अवश्य बँटा हुआ है। विद्यार्थी जीवन, सांसारिक जीवन और वृद्ध अवस्था का अवकाश-प्राप्त (रिटायर्ड) जीवन। प्राचीन काल का ब्रह्मचर्य आश्रम ही आजकल का विद्यार्थी जीवन है। ब्रह्मचारी के लिए प्राचीन शास्त्रों में जो कर्त्तव्य बताये गए हैं, वह आज विद्यार्थी के लिए उतने ही लागू हैं, जितने उस समय में थे। समय और परिस्थिति के अनुसार थोड़े-बहुत अन्तर हो सकते हैं, किन्तु सामान्य कर्त्तव्य वही है, जो प्राचीन शास्त्रों में हैं। इसका कारण यह है कि विद्यार्थी को तो अपने जीवन में विद्या का अर्जन करना है। उसे कोई ऐसा कार्य नहीं करना, जिससे उसके इस मुख्य उद्देश्य में बाधा आती हो।

विद्यार्थी के कर्त्तव्य

प्राचीन शास्त्रों में विद्याध्ययन के समय जो उपदेश दिए हैं, उनका आशय निम्नलिखित है—

तुम आचार्य के पास रहकर विद्याध्ययन करो, तपोमय जीवन व्यतीत करो, शरीर के शृङ्गार की चिन्ता मत करो, नित्य कृत्यों के पश्चात् सन्ध्या-उपासना करो, संयम से जीवन व्यतीत करते हुए विद्योपार्जन में यत्नवान् हो। वस्तुतः विद्यार्थी को अपनी समस्त शक्ति अपने शरीर के निर्माण में, चरित्र के निर्माण में और विद्या के अध्ययन में लगा देनी है। यही कारण है कि प्राचीन काल में गुरुकुलों को, जहाँ विद्यार्थी पढ़ते थे, ग्रामों व नगरों से बहुत दूर रखा जाता था। वे संसार, राज्य अथवा समाज की सभी हलचलों से दूर रहते थे। आज से ३५-४० वर्ष पूर्व भी भारत में विद्यार्थियों को सभी प्रकार के राजनैतिक व सामजिक आन्दोलन से दूर रखा जाता था और यह कल्पना भी नहीं की जाती थी कि विद्यार्थी राजनैतिक या सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग लेंगे।

असहयोग और विद्यार्थी

जब महात्मा गांधी ने १९२० में असहयोग का बिगुल बजाया था, तब इस संग्राम में सम्मिलित होने के लिए उन्होंने सब विद्यार्थियों का आवाहन किया था और इसमें सन्देह नहीं कि हजारों विद्यार्थियों ने अपने विद्यालय छोड़कर राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय देश के अनेक विचारकों ने गांधीजी के द्वारा विद्यार्थियों के आवाहन के विरुद्ध विचार प्रकट किये थे। उसी समय से यह प्रश्न देश के विचारकों के सामने आया है कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं। इसके पश्चात् भी देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम में अथवा दूसरे आन्दोलनों में सार्वजनिक नेता विद्यार्थियों को भाग लेने के लिए उत्साहित करते रहते हैं। साम्प्रदायिक नेता अपने-अपने साम्प्रदायिक प्रदर्शनों में विद्यार्थियों को सम्मिलित करते हैं, कम्यूनिस्ट अपने उग्र व हिंसात्मक आन्दोलनों के लिए विद्यार्थियों को प्रयुक्त करते हैं और भाषा के आधार पर देश को खंड-खंड करने के लिए भी सुकुमार विद्यार्थियों की कोमल भावनाओं को भड़काया जाता है। राजनैतिक चुनावों में भी प्रत्येक दल अपनी-अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिए विद्यार्थियों को निमन्त्रित करते हैं।

विद्या अध्ययन में हानि

इन सब बातों को देखते हुए यह प्रश्न और भी बहुत गम्भीर हो जाता है कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं। हम ऊपर कह चुके हैं कि विद्यार्थी का मुख्य कार्य विद्या-उपार्जन है। इसलिए यह आवश्यक है कि उसे ऐसे किसी काम में न डाला जाए, जिससे उसके विद्या-अध्ययन में बाधा पड़े। यदि वह एक बार अपने मुख्य उद्देश्य से अलग होकर दूसरे कार्यों में लग गया तो यह स्वाभाविक है कि उसे अपने मुख्य कार्य में हानि उठानी पड़े। विद्या-अध्ययन के महान् उद्देश्य के लिए अपनी महान् शक्तियों को केन्द्रित करना पड़ेगा। साधारणतः राजनैतिक आन्दोलन उथली और हल्की नारेबाजी से चलते हैं। इनमें विवेक कम और जोश अधिक होता है।

विवेकहीन उत्साह

विद्यार्थी का हृदय स्वभावतः भावुक और मस्तिष्क अपरिपक्व होता है। वह नहीं समझ सकता कि कोई आन्दोलन यथार्थ है। वह केवल बाहरी तड़क-भड़क और जोशीली वार्ता से आकृष्ट होता है। यह सम्भव है कि कोई नेता किसी महान् उद्देश्य से कोई आन्दोलन संचालित करें और उसमें विद्यार्थियों का सहयोग भी सद्भावनापूर्वक प्राप्त करना चाहें। ऐसी अवस्था में भी हमारी नम्र सम्मति में विद्यार्थियों के सहयोग का प्रलोभन नहीं करना चाहिए। इन सार्वजनिक आन्दोलनों में एक बहुत बड़ा दोप यह है कि यह आन्दोलन अनुशासन, शान्ति और नियंत्रण का वातावरण उपस्थित नहीं करते। इसलिए स्वभावतः इन आन्दोलनों में भाग लेने वाले अनुशासन के महत्त्व को नहीं समझ पाते। विद्यार्थी-जीवन में अनुशासन और नियन्त्रण से दूर रहने का परिणाम यह होगा कि वह नागरिक होकर भी इन गुणों के महत्त्व को नहीं समझेगा, और अनुशासनहीन नागरिक किसी देश के गौरव की वस्तु नहीं होते।

अपवाद

प्रश्न यह है कि क्या विद्यार्थियों को किसी भी राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेना चाहिए? प्रत्येक नियम का कोई-न-कोई अपवाद होता है। जब

देश की स्वतन्त्रता खतरे में हो और कुछ भी विलम्ब करने से यह भय उत्पन्न हो कि देश पर शत्रुओं का अधिकार हो जाएगा, तब आबाल-वृद्ध प्रत्येक नर-नारी को देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़ना चाहिए। प्राचीन शास्त्रों में क्षत्रिय का काम युद्ध करना बताया है। किन्तु देश पर शत्रु के आक्रमण के समय ब्राह्मण और वैश्य का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह स्वातन्त्र्य-संग्राम में सहयोग दे। राजपूत काल में नारियों तथा अनेक बालकों ने भी स्वातन्त्र्य-संग्राम में अपनी आहुति दी है। जापान के बालकों के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं कि वे देश के लिए हँसते-हँसते युद्ध में बलि हो गए। गुरु गोविन्दसिंह के दो बालकों ने धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। नेता जी श्री सुभाष की सेना में वानर सेना का कम महत्त्व नहीं था। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यार्थी जीवन में बालकों को देश की राजनैतिक विचारधाराओं का अध्ययन करना चाहिए, उन पर चिन्तन करना चाहिए, किन्तु सार्वजनिक आन्दोलनों में तब तक स्वयं कूदना नहीं चाहिए, जब तक देश पर शत्रुओं का आक्रमण ही न हो और देश की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ गई हो।

: ३६ :

सिनेमा और समाज

किसी समय बहुत थोड़े से बड़े-बड़े शहरों में सिनेमा की अंग्रेजी तस्वीरें दिखाई जाती थीं और सिर्फ अंग्रेजी पढ़े-लिखे सम्पन्न व्यक्ति या कालेज के विद्यार्थी उन्हें देखा करते थे, परन्तु आज सिनेमा समस्त भारतीय जीवन में इतना अधिक प्रवेश कर गया है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कोई नगर ऐसा नहीं होगा जिसमें दो-चार या ज्यादा सिनेमाघर न खुले हों। भ्रमणशील सिनेमा कम्पनियाँ मेलों में प्रदर्शन करके गाँव वालों को भी सिनेमा

का शौकीन बना चुकी हैं। युद्ध-काल में सेना में भरती के लिए ब्रिटिश सरकार ने सिनेमा-चित्रों का बहुत आश्रय लिया था। आजकल भारत व राज्यों की सरकारें प्रौढ़ शिक्षा के लिए सिनेमा-फिल्मों का आश्रय ले रही हैं। लोगों को अच्छा भोजन न मिले, पर प्रत्येक सिनेमाघर पर टिकट लेने के लिए घण्टों प्रतीक्षा करती हुई लम्बी-लम्बी कतारें रोज दिन में तीन-चार दफा देख लीजिये। शहरों के गली-कूचे में, बाजार में, कहीं गुजर जाइये, छोटे-बड़े सिनेमा गीतों की दो एक पंक्तियाँ गुनगुनाते हुए बच्चे, जवान और प्रौढ़ मिल जायेंगे। रेडियो ने सिनेमा की रही-सही कमी को पूरा कर दिया। सिनेमा के लोकप्रिय कर्णमधुर गीत लोगों की फरमाइश पाकर बार-बार सुनाये जाते हैं। छोटे-बड़े सभी अखबारों में सिनेमा-स्तम्भ अवश्य रखा जाता है। सिनेमाओं की तारिकाएँ हमारी दिल-चस्पी का विषय बनी हुई हैं। उनके जीवन-चरित्र छापे जाते हैं, उनकी मनो-मोहक स्थिति में रंग-बिरंगी तस्वीरें छापी जाती हैं और उनकी रुचि किस खेल में है, किस वेश में है, किस फूल में है, वे विवाह कब करती हैं, किससे करती हैं; यह सब पर्याप्त स्थान देकर पत्रों में प्रकाशित किया जाता है। राजनीतिक नेताओं से अधिक उनसे किये हुए 'इन्टरव्यू' अखबारों में छपते हैं। बीसियों पत्र तो केवल सिनेमापरक होते हैं। सैकड़ों पत्रिकाओं के आवरण पृष्ठों पर केवल सिनेमा-तारिकाओं के रंगीन चित्र ही रहते हैं। सारांश यह है कि आज समाज में सिनेमा का इतना अधिक प्रचार है कि वह हमारे जीवन का अनिवार्य अंग बन गया है।

चिन्ता व विरोध

सिनेमा ज्यों-ज्यों हमारे जीवन में प्रवेश करता जा रहा है, त्यों-त्यों कुछ वयोवृद्ध विचारक इसका विरोध भी बढ़ाते जाते हैं। सिनेमा चरित्र-पतन का प्रधान कारण है; सिनेमा जनसामान्य को भावुकता और वासना की ओर ले जाता है; सिनेमा से समाज उच्छृङ्खल बनता जा रहा है और सिनेमा युवकों में पापपूर्ण दुःसाहस की प्रवृत्ति पैदा करता है। शराब, चोरी, धोखा, डाका और व्यभिचार आदि अपराधों की संख्या सिनेमा देखने वाले युवकों में बहुत बढ़ गई है। भले घरों की लड़कियाँ भी संयम छोड़कर वासनामय जीवन की ओर आकृष्ट होने लगी हैं। सिनेमा के प्रचार के कारण ही समस्त राष्ट्र का चरित्र

नीचे गिरता जा रहा है । इस प्रकार की आलोचना हम प्राय: प्रत्येक सभा समाज आदि के उत्सवों पर सुनते रहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि यह आलोचना अधिकांशत: सच है । सिनेमा ने हमारे जीवन की दृष्टि ही बदल दी है । गीता व अन्य धार्मिक शास्त्रों को भूलकर सिनेमा अभिनेत्रियों के नये-नये वासनापूर्ण गीत हमारे जीवन में प्रविष्ट हो गये हैं ।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सिनेमा बन्द कर दिये जावें, अथवा लोगों में सिनेमा न देखने का आन्दोलन किया जाय । यदि आप ऐसा प्रयत्न करना भी चाहेंगे तो इसका कोई लाभ नहीं होगा । आल इण्डिया रेडियो ने सिनेमा गीतों का सुनाना बन्द किया था, लोगों ने लंका व पाकिस्तान के रेडियो सुनने शुरू कर दिये, क्योंकि वे सिनेमा-गीत सुनना नहीं छोड़ सकते थे । सिनेमा आज एक बहुत बड़ी शक्ति बन गई है । आज इसका विरोध करना असम्भव है । तब क्या सिनेमा द्वारा फैलने वाला अनाचार यों ही फैलने दिया जाय ? क्या देश के होनहार नवयुवकों का नैतिक पतन इसी गति से होते रहने दिया जाए ? क्या इस पर कोई नियंत्रण लगाने की आवश्यकता नहीं है ?

महान् शक्ति की दिशा मोड़ दो

आज हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ब्रह्मपुत्र, सोन, कोसी या अन्य अनेक नदियों के अतुल प्रवाह की तरह सिनेमा के बढ़ते हुए प्रवाह को रोकना सम्भव नहीं है, परन्तु यदि बाँध बनाकर नदियों के प्रवाह को खेत सींचने के लिए नहरों के रूप में मोड़ा जा सकता है, तो सिनेमा के प्रवाह की दिशा भी बदली जा सकती है, मोड़ी जा सकती है । सिनेमा कम्पनियों पर इस तरह का नियंत्रण तो किया जा सकता है कि वे वासनापूर्ण चित्र न बनावें, नग्नता और कामुकता का प्रचार न करें । भारत सरकार ने एक सैंसर बोर्ड की नियुक्ति इसी उद्देश्य से की भी हुई है । वह बोर्ड अनेक चित्रों में अश्लील दृश्यों के अंग काट-छाँट देता है । परन्तु सचाई यह है कि इस बोर्ड की दृष्टि बहुत अधिक उदार हो चुकी है, संभवत: सिनेमा कम्पनियों के मालिक किसी-किसी सदस्य को किसी न किसी तरह सन्तुष्ट करके अवांछनीय दृश्य निकालने नही देते हैं । यदि हम बोर्ड के सदस्यों को पतित न भी मानें,

तो यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उनका स्टैंडर्ड बहुत अधिक ऊँचा नहीं है। यूरोपीय फिल्म देखते-देखते वे नारी के उभरते हुए वक्ष के प्रदर्शनों में या दो-तीन इंची कपड़े की पट्टी के सिवा समस्त शरीर के नग्न प्रदर्शन में कोई हानि नहीं देखते। काम-वासना का प्रदर्शन भी उनकी 'विकारहीन' आँखों को उत्तेजित नहीं करता। नैतिकता व अनैतिकता का उनका स्टैण्डर्ड कुछ ऐसा अवश्य है, जो साधारण, चिन्तनशील नागरिक की समझ से बाहर है। इस सम्बन्ध में हमारी नम्र सम्मति है कि प्रकाण्ड पण्डितों व शिक्षाशास्त्रियों की एक समिति को यह काम सौंपना चाहिए कि वह यह निश्चित करे कि किस प्रकार के चित्र बनने चाहिएँ। वही विस्तार से यह निश्चय करे—

(१) शरीर के विभिन्न अंगों का नग्न प्रदर्शन किस सीमा तक किया जाय ;

(२) नृत्य का नैतिक स्तर क्या हो ;

(३) गीतों में प्रेम या वासना का निम्नतम स्तर क्या हो ;

(४) सिगरेट और मद्य-पान का प्रदर्शन भी सीमित किया जाय ; और

(५) वेश्यागामिता, चोरी, धोखा, डाका आदि के अपराधों के प्रदर्शन, जो विद्यार्थियों के कोमल चित्त पर बुरा प्रभाव डालते हैं, किस सीमा तक दिखाये जावें ?

इस समिति के द्वारा नियत आधारभूत सिद्धान्तों का कठोरता से पालन किया जाय। सिनेमा मनोरंजन की वस्तु अवश्य है, उसमें से मनोरंजन निकाल देना सिनेमा की ही हत्या होगी, किन्तु मनोरंजन के साथ-साथ नैतिकता तथा चरित्र का ध्यान भी रखना होगा। विशुद्ध मनोरंजन भी बुरा नहीं है, पर वह नैतिक पतन की ओर ले जाने वाला न हो। जहाँ भारतीय सिनेमा कम्पनियों पर प्रतिबन्ध हो, वहाँ विदेशी 'रोमाण्टिक' चित्रों के प्रदर्शन पर भी कठोर प्रतिबन्ध होना चाहिए।

बड़ी शक्ति

सिनेमा आज के युग की एक बड़ी शक्ति है। राष्ट्र-निर्माण और शिक्षा के लिए इसका जितना उपयोग किया जाय, कम है। इस दिशा में कुछ प्रयत्न अवश्य किये गये हैं। भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, विज्ञान, नागरिक जीवन,

राष्ट्र-निर्माण की नई प्रवृत्तियाँ और स्वास्थ्य, देश-भक्ति की प्रभावकारिणी शिक्षा, जितनी सिनेमा-चित्रों द्वारा सामान्य जनता को दी जा सकती है, वैसा कोई दूसरा साधन आज संसार के पास नहीं है। अनेक यूरोपियन फिल्म-निर्माताओं ने ज्योतिष व विज्ञान की शिक्षा देने वाले चित्र बनाये हैं। भारत सरकार का शिक्षा-विभाग भी प्रौढ़-शिक्षा के लिए ग्रामों में कुछ चित्रों का प्रदर्शन करता है। भारत सरकार का सूचना विभाग देश में चलने वाली विकास प्रवृत्तियों के चित्र-प्रदर्शन द्वारा जनता को यह बताता है कि हमारा देश किस तरह तेजी से बढ़ रहा है। समाचार चित्रों ने भारतीय जनता को बताया कि रूस में पं० जवाहरलाल नेहरू का कितना शानदार स्वागत हुआ। आज लाखों आदमी प्रतिदिन देश भर में सिनेमा देखते है, उन्हें कोई सूचना देनी हो, तो सिनेमा-घर इसके बहुत अच्छे साधन हैं। प्राचीन और विशेषकर अर्वाचीन इतिहास को सिनेमा चित्रों द्वारा ही हम सुरक्षित रख सकते हैं। जाति-पाँति, छूत-छात, दहेज, मद्य-पान, बाल-विवाह, बलात् वैधव्य आदि सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जितने सुन्दर चित्र दिखाये जावें, उतना कम है।

सिनेमा के रूप में विज्ञान ने मानव को एक बड़ी प्रचण्ड शक्ति दे दी है। उसका दुरुपयोग भी हम कर सकते हैं और सदुपयोग भी। भारतीय संस्कृति, भारतीय परम्परा और भारतीय आदर्शों तथा आज राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकताओं को सामने रखकर जितने चित्र बनाये जावें, सिनेमा उतना ही स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ देश के निर्माण में भी सहायक होगा।

: ३७ :

भारत में नये कर

किसी देश की विकास-योजनाओं को पूर्ण करने के लिए जहाँ अनुभव, परिश्रम, उत्साह और उमंग की आवश्यकता होती है, वहाँ उससे कम आवश्यकता धन की नहीं होती। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में दो पंचवर्षीय योजनायें

बनी हैं। इन दोनों के व्यय-लक्ष्य क्रमशः करीब २२ अरब और ६५ अरब रुपये हैं। इन योजनाओं के अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षों से राज्य या सरकारों का उत्तरदायित्व जिस तरह निरन्तर बढ़ता जा रहा है, उसके कारण भी सरकारों के खर्च ज्यादा-से-ज्यादा होते जा रहे हैं। अब शिक्षा, स्वास्थ्य, संस्कृति आदि किसी क्षेत्र में सरकार उदासीन नहीं रह सकती। उसकी जिम्मेवारी निरन्तर बढ़ रही है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी लगातार विषम होती जा रही है। इसलिए सरकारों का सैनिक व्यय बहुत बढ़ गया है। लगातार बढ़ती हुई मँहगाई का भी असर सरकारों के बजट पर कम नहीं पड़ा है। इन सब कारणों से सरकार को विवश होना पड़ा है कि वह अपनी आय के नये साधन खोजे। यही कारण है कि भारत-सरकार पिछले कुछ वर्षों से लगातार नये-से-नये कर लगाती जा रही है। इन करों में से कुछ नये कर एक दूसरे भी विशेष उद्देश्य से लगाये गये हैं। यह उद्देश्य है देश में बढ़ती हुई असमानता—अमीर और गरीब की खाई को कम करना। हम इन पंक्तियों में इन दोनों उद्देश्यों से लगाये गये कुछ नये करों का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

बिक्री-कर

पिछले वर्षों में जो विविध कर लगाये गये हैं, उनमें से एक मुख्य कर 'बिक्री-कर' है। बिक्री-कर ग्राहक को उस समय देना पड़ता है, जब वह कोई चीज़ दुकानदार से खरीदता है। आजकल प्रायः प्रत्येक राज्य सरकार इस कर से अपनी-आय का बहुत बड़ा भाग पूरा करती है। अनेक राज्यों में भूमि-राजस्व के बाद इसी का नम्बर आता है। प्रत्येक राज्य-सरकार यह नियत करती है कि किस वस्तु की बिक्री पर कितना टैक्स दिया जायेगा। जीवन के लिए अत्यन्त अनिवार्य वस्तुओं पर यह कर नहीं लगता। परन्तु कपड़ा, स्टेशनरी, बर्तन, ईंट, सीमेंट, साबुन, फर्नीचर, साइकल, तथा विलास-सामग्री आदि वस्तुओं पर यह बिक्री-कर लगता है। एक पैसा रुपया से लेकर छः पैसा (नये पैसे) तक यह कर लगता है।

इस बिक्री-कर का प्रारम्भ पहले पहल सन् १९३८ में मध्यप्रदेश में पेट्रोल के बिक्री-कर द्वारा किया गया था। इसके बाद मद्रास और बंगाल की सरकारों ने इसे लागू किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो अन्य सभी राज्यों ने क्रमशः न

केवल इसे अपनाया वरन् उसका क्षेत्र भी विस्तृत करते गये। आज यह अवस्था है कि राज्य सरकारों की आमदनी का बड़ा भाग बिक्री-कर से वसूल होता है और कृषि-राजस्व के बाद इसी का स्थान है।

यद्यपि भारतीय संविधान में जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं पर कर न लगाने का उल्लेख है, तथापि सरकारों का लोभ बढ़ता जा रहा है और जीवन के लिए अनेक आवश्यक पदार्थों पर भी बिक्री-कर लिया जाने लगा है। अनेक राज्यों में इस कर के विरुद्ध आन्दोलन भी किया गया है और सरकार को झुकना भी पड़ा है। बिक्री-कर का बोझ जनसामान्य पर भी पड़ता है और उसके कारण पदार्थ अधिक मँहगे होते जा रहे हैं। इसके साथ बिक्री-कर की दो-तीन अन्य समस्यायें भी हैं। एक तो यह कि बिक्री-कर की चोरी बहुत होती है। दुकानदार और ग्राहक मिलकर बिल के बिना ही सामान की खरीद-फरोख्त करते हैं, जिससे सरकार बिक्री-कर के बारे में ठीक जाँच-पड़ताल नहीं कर सकती। दूसरी समस्या यह है कि बिक्री का हिसाब रखने में छोटे दुकान-दारों को बेहद परेशानी होती है। अनेक प्रकार के रजिस्टर रखने पड़ते हैं और सरकारी कर्मचारी उन्हें बहुत परेशान करते हैं। इन दोनों समस्याओं का हल यह बताया गया है कि सरकार उत्पादन-कर के साथ ही बिक्री-कर भी वसूल कर लिया करे। इससे न बिक्री-कर की चोरी हो सकेगी और न दुकान-दारों को परेशान होना पड़ेगा। बिक्री-कर की तीसरी समस्या यह है कि विभिन्न राज्य एक ही वस्तु पर अलग-अलग कर लगाते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक राज्य में एक चीज़ सस्ती मिलती है और दूसरे राज्य में वही चीज़ मँहगी। चौथी समस्या यह थी कि एक राज्य का व्यापारी यदि दूसरे राज्य से वस्तु खरीदता है, तो उसका बिक्री-कर किस राज्य को मिले। विभिन्न राज्यों में इस प्रश्न को लेकर बहुत समय तक झगड़ा रहा। अब केन्द्रीय सरकार ने इस सम्बन्ध में एक कानून बनाकर स्थिति को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

उत्तराधिकार-कर

गत वर्षों में सरकार ने अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए तथा अमीर-गरीब की विषमता को कम करने के लिए जिस एक महान् अस्त्र का प्रयोग किया है, वह है—मृत्यु या उत्तराधिकार कर। इसके अनुसार किसी एक सम्पन्न व्यक्ति

की मृत्यु पर जब उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों के नाम की जाती है, तब उस सम्पत्ति पर सरकार एक कर लगा देती है। एक नियत मात्रा से अधिक की सम्पत्ति पर ही यह कर लगाया जाता है। सरकार अपना यह अधिकार समझती है कि उत्तराधिकारी को पैतृक सम्पत्ति सरकारी कानून के अनुसार अनायास मिल जाती है, इसलिए सरकार को उस पर कर लगाने का अधिकार है। परन्तु इस कर से अनेक नुकसान भी हैं। जनता में, विशेषकर सम्पन्न वर्ग में बचत करके धन जोड़ने का उत्साह कम हो जायगा। फिर यह कर लोगों में परोपकार की भावना पर भी प्रहार करता है, क्योंकि इस कर से उस सम्पत्ति को भी मुक्त नहीं किया गया, जो मृत्यु के समय विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं को दान में दी जाती है। किन्तु सरकार ने इन आक्षेपों की उपेक्षा करके भी उत्तराधिकार कर लगा दिया है। सरकारी आमदनी के अतिरिक्त उसकी बड़ी भारी दलील यह है कि इससे सम्पन्न व्यक्ति की सम्पत्ति का जो कुछ भाग सरकार के हाथ में आयगा, उससे अमीर और गरीब की खाई कुछ कम होगी। इस कर का लगाना और वसूल करना आसान काम नहीं है। किसी की सम्पत्ति का ठीक अन्दाजा करना बहुत कठिन काम है। मकान, जायदाद, कल-कारखाने आदि की कीमत लगाने वाले जो सरकारी अधिकारी होंगे, वे रिश्वत लेकर १० लाख रुपये की सम्पत्ति की कीमत ४-५ लाख रुपये लगा देंगे। इस तरह भ्रष्टाचार का एक नया क्षेत्र खुल गया है। इसका एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि लोग अपनी सम्पत्ति को जेवर और जवाहरात में बदलने की कोशिश करेंगे, जिसे आसानी से छिपाया जा सकता है।

सम्पत्ति-कर

१९५७ के बजट में दो नये कर लगाने का प्रस्ताव किया गया है, उनमें से एक है सम्पत्ति-कर। इसके भी वही दो उद्देश्य हैं, जो उत्तराधिकार-कर के हैं अर्थात् सरकारी आमदनी बढ़ाना तथा आर्थिक असमानता को कम करना। इसके अनुसार ३ लाख से ज्यादा सम्पत्ति होने पर प्रति वर्ष यह कर लिया जायेगा पहले १० लाख पर ½ प्रतिशत, अगले १० लाख पर १ प्रतिशत और इससे अधिक पर १½ प्रतिशत कर लिया जायेगा। कम्पनियों की सम्पत्ति पर भी आधा प्रतिशत कर लगेगा। जहाजी कम्पनियों, दातव्य कार्यों के लिए

संगठित कम्पनियों, बैंकों और बीमा कम्पनियों पर यह कर नहीं लगाया गया। देश के नव-विकास के लिए आवश्यक अनेक उद्योगों को पाँच वर्ष तक के लिए छूट दी गई है। हिन्दू-संयुक्त परिवार की कर-मुक्ति की सीमा चार लाख रुपया रखी गई है। ३५ हज़ार रुपये के जवाहरात, कृषि के औज़ार, घरेलू कार्य के पशु और ग्रामों में निर्मित मकानों को भी कर-मुक्त रखा गया है। राजाओं के प्रिवी पर्स पर भी यह कर नहीं लगेगा। विदेशी विनियोजक देश के उद्योगों में रुपया लगा सकें, इसलिए उनसे कर ५० प्रतिशत लिया जायेगा।

देश के औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्रों में इस कर का भी तीव्र विरोध किया गया है। उनकी सम्मति में इसका पूँजी निर्माण पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। सम्पत्ति के मूल्यांकन में भ्रष्टाचार की वृद्धि निश्चित रूप से बढ़ेगी। हिन्दू संयुक्त परिवार की प्रथा को इससे भारी चोट पहुँचेगी। उद्योगों पर जो कर लगाया जायगा, उसका परिणाम निश्चित रूप से यह होगा कि उद्योगपति को उत्पादन के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। आज हमारे देश में निरन्तर नये लगने वाले करों से पूँजी की सम्भावना पहले ही कम होती जा रही है। सम्पत्ति-कर इसको और भी कठिन बना देगा।

व्यय-कर

उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो चौथा कर लगाया गया, वह व्यय-कर है। इसका आशय यह है कि आयकर आमदनी पर लगता है, किन्तु यह कर उस पर लगेगा जो एक नियत मात्रा से अधिक खर्च करता है। चुनाव, विवाह, शिक्षा, चिकित्सा और तीर्थ यात्रा के व्ययों पर यह कर नहीं लगेगा। बच्चों के लिए भी व्यय की एक मात्रा (५,०००) पर कर नहीं लगेगा। दम्पति के लिए वार्षिक २४,००० रु० से अधिक व्यय पर लगेगा। यह कर उन रकमों से अधिक रकम पर, जो परिवार के आकार के अनुसार अलग-अलग होंगे, किये गये सारे खर्च पर लगाया जायेगा। कर की दर एक खण्ड-प्रणाली पर आधारित होगी और प्रत्येक खण्ड की दर व्यय के स्तर में वृद्धि के साथ क्रमशः बढ़ती जायगी। इस प्रकार १०,००० रुपये के अतिरिक्त खर्च पर यह दर १० प्रतिशत होगी। सरकार का युक्तिक्रम यह है कि जब एक व्यक्ति अपने रहन-सहन पर अधिक व्यय कर सकता है, तो उसे कुछ रुपया सरकार को देने में

ऐतराज नहीं करना चाहिए। फिर यह कर बहुत कम लोगों पर लगेगा। देश की साधारण जनता पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अभी पिछले तीन करों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई सम्मति नहीं दी जा सकती। इन करों के लागू होने के दो-तीन वर्ष के बाद निश्चित रूप से यह कहा जा सकेगा कि इन करों में क्या दोष हैं और क्या सुधार होने चाहिएँ। किन्तु, यह तो मानना ही चाहिए कि एक ओर यह अमीर और गरीब के भारी अन्तर को कम करेंगे, दूसरी ओर इससे पूँजी-निर्माण में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य पैदा होंगी। इससे भी बड़ी बात यह है कि इन करों के वसूल करने में जनता को बहुत असुविधाएँ होंगी। देखना यह है कि देश की अर्थ-व्यवस्थापर इन करों का क्या प्रभाव पड़ता है।

: ३८ :

राष्ट्र-निर्माण या ग्रामोत्थान

जब तक देश परतन्त्र था, तब तक अंग्रेज सरकार का ध्यान केवल शासन और देश के शोषण की ओर रहा। वह भारतीय समाज की वास्तविक सेवा से सहानुभूति रख ही नहीं सकती थी। यद्यपि जनता की माँग और कुछ प्रदर्शन की भावना से कुछ न कुछ काम इधर-उधर अवश्य होता रहा, तथापि राष्ट्र-निर्माण की ओर सरकार का बहुत कम ध्यान रहा। इसलिए जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तो नये शासकों और देश के नेताओं के सामने सबसे बड़ी समस्या जहाँ आर्थिक संकट के दूर करने की थी, वहाँ राष्ट्र-निर्माण की व्यापक योजनायें, उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकती थीं। ब्रिटिश सरकार की प्रवृत्तियाँ अधिकांशतः नगरों तक सीमित रहीं; परन्तु भारतवर्ष तो वस्तुतः गाँवों में बसता है। ७० लाख गाँवों की उपेक्षा करके देश उन्नत हो ही नहीं सकता था, इसलिए लोकप्रिय शासन ने पंचवर्षीय योजनाओं में नवभारत के निर्माण

पर ध्यान देते हुए ऐसी बीसियों योजनाएँ तैयार की हैं, जिनके पूर्ण होने पर देश का कायाकल्प हो जायगा।

राष्ट्र-निर्माण की समस्याएँ संक्षेप से निम्नलिखित हैं—

१. आर्थिक स्थिति का सुधार

२. सामाजिक और सामूहिक जीवन उत्पन्न करना

३. शिक्षा का प्रचार।

एक भ्रम

बहुत से विदेशी विचारों से दीक्षित अधिकारी, कार्यकर्त्ता तथा विद्वान अर्थशास्त्री प्रायः भारतीय ग्रामों की समस्या का विवेचन करते हुए, ग्रामों में अशिक्षा, जहालत, कुरीति-प्रसार और मुकदमेबाजी आदि दोष गिनाकर ग्राम-वासियों की कठोर आलोचना करते हैं। परन्तु हमारी नम्र सम्मति में ग्राम-समस्याओं पर विचार का यह तरीका ग़लत है। विदेशी शासन की नीति के कारण गाँवों की पंचायत-व्यवस्था नष्ट हो गयी और उसके साथ-साथ ग्रामों की सुख-समृद्धि भी। विदेशी शासन ने भारतीय ग्रामोद्योगों को नष्ट कर दिया था। देशी या विदेशी कारखानों ने भारतीय ग्रामोद्योगों को जीने लायक नहीं रखा। ग्रामोद्योगों के विनाश तथा जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण भूमि पर बोझ निरन्तर बढ़ता गया। एक बार गरीबी से सताए जाने पर सरकारी कर्मचारियों, अदालतों, जमींदारों, महाजनों के चक्कर में आकर वे ज्यादा से ज्यादा दुर्बल और दरिद्र होते गये। इस दरिद्रता ने उनके जीवन का आनन्द और रस ले लिया और इसी के परिणाम हैं, अज्ञान, अशिक्षा, जहालत, आलस्य इत्यादि। इसलिए यदि ग्रामों का पुनर्निर्माण करना है तो सबसे पहली प्रधान आवश्यकता ग्रामों की आर्थिक स्थिति सुधारकर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की है।

आर्थिक स्थिति में सुधार

ग्राम-समस्या के इस स्वरूप को राष्ट्रीय नेताओं ने भली भाँति समझ लिया है और यही कारण है कि पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामों के आर्थिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित किया जा

रहा है। उन्हें मिलों की प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के लिए अनेक कदम उठाये जा रहे हैं। अम्बर चर्खे के विकास और प्रचार के लिए लाखों रुपया व्यय हो रहा है। खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड तरह-तरह के उद्योगों को पुनर्जीवित करने और कारीगरों को नये औज़ार व प्रशिक्षण देने में पूर्ण सहयोग दे रहा है। चर्खा संघ भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। खेती की पैदावार प्रति एकड़ जब तक नहीं बढ़ेगी, तब तक किसान समृद्ध नहीं हो सकता। इसलिए कृषि-सुधार के नये-नये तरीके अपनाये जा रहे हैं। जमींदारी-प्रथा का अन्त करके किसानों को अपनी भूमि का मालिक बनाया जा रहा है और इस तरह उनका खोया हुआ आत्मगौरव उन्हें पुनः वापिस दिलाया जा रहा है। इस एक व्यवस्था से ही किसानों में एक नव-चेतना और जागृति उत्पन्न हो जायगी। अच्छे बीज, खाद, सिंचाई की छोटी-बड़ी व्यवस्थाएँ, खेतों की नये सिरे से चकबन्दी आदि के कारण ही उपज अच्छी होगी और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा।

आर्थिक स्थिति में सुधार के साथ ही ग्राम-निवासियों में अपने बच्चों को शिक्षा देने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है। वे अच्छे कपड़े पहनने लगे हैं, पहले से अच्छा खाना खाने लगे हैं। उनका जीवन-स्तर ऊँचा होने लगा है।

सामाजिक चेतना

ग्रामों की दूसरी समस्या ग्रामवासियों में सामाजिक और सामूहिक चेतना उत्पन्न करने की है। दीर्घकाल तक शोषण, अत्याचार व पीड़न के शिकार होते रहने से ग्रामवासियों में आत्म-विश्वास की भावना सर्वथा लुप्त हो गयी। उनमें परस्पर प्रेम और सौहार्द भी समाप्त हो गया। इस कारण गाँवों में आपसी लड़ाई-झगड़े और मुकदमेबाज़ी बहुत बढ़ गयी। गरीबी भी इसका एक मुख्य कारण रहा। पंचायतों की समाप्ति ने उनमें परस्पर सहयोग, अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने और स्वावलम्बन के भाव नष्ट कर दिये। इसलिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि उनमें आत्म-विश्वास पैदा किया जाय। इस दिशा में पिछले स्वातन्त्र्य-युद्ध और किसान आन्दोलन काफ़ी सहायक सिद्ध हुए हैं। जमींदारी-उन्मूलन ने भी उनकी सामाजिक चेतना को जागृत किया है। पंचायतों के पुनः प्रसार से ग्रामवासी अब अपनी समस्याओं को स्वयं

सुलझाने का प्रयत्न करने लगे हैं। गाँवों की रोशनी, सफाई, शिक्षा और आपसी झगड़ों के निर्णय आदि में उनकी स्वाभाविक कुशलता पुनः प्रकट होने लगी है। सामुदायिक योजनाओं में सरकार के सहयोग से उन्हें और भी अधिक लाभ मिलने लगा है। वे एक साथ अपनी चतुर्मुखी उन्नति करने के लिए उठ रहे हैं। यातायात, कुएँ, चौपाल, विद्यालय आदि के निर्माण में स्वयं श्रमदान करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। पशु-संवर्द्धन तथा खाद के बनाने तथा कृत्रिम खाद के प्रयोग के लाभों को वे अधिक समझने लगे हैं। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए नाटकों, मेलों और सामाजिक कार्यक्रमों का जाल सारे देश में फैल रहा है। ग्रामवासियों में यह भावना पैदा हो रही है कि अब उन्हें स्वतंत्र देश का स्वस्थ और सभ्य नागरिक बनकर रहना है। गलियों में कूड़ा-कचरा फेंकने, कुएँ या तालाब को गंदा करने और गोबर को जलाने आदि के दुष्परिणामों को वे अनुभव करने लगे हैं।

जगह-जगह बनने वाली सहकारी समितियाँ भी जहाँ ग्रामवासी की आर्थिक दशा सुधारने में सहयोग दे रही हैं, वहाँ उनमें परस्पर सहयोग और संगठित होकर कार्य करने की भावना भी उत्पन्न कर रही हैं। कृषि में सहकारिता की नयी प्रवृत्तियाँ बढ़ाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। सरकार जिस तरह सहकारी समितियों को उत्साहित कर रही है, यदि उन्हें ठीक ढंग से चलाया जाये तो इसमें संदेह नहीं कि ग्रामवासी जनता में सामूहिक चेतना विकसित हो जायगी। देश के स्वतंत्र होने के बाद दो आम चुनावों और समय-समय पर होने वाले पंचायतों के चुनावों ने उनमें राजनैतिक जागृति पैदा कर दी है। वे अपने बल, महत्त्व और मूल्य को समझने लगे हैं। उन्हें यह मालूम हो गया है कि देश के निर्माण में वे भी महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर सकते हैं। यह ज्ञान उनमें जहाँ आत्माभिमान, जागरूकता और चेतना को उत्पन्न करेगा, वहाँ ग्रामों का पुनर्निर्माण भी कर देगा।

शिक्षा-प्रसार

तीसरी समस्या शिक्षा-प्रसार की है। राज्यों की सरकारें गाँव-गाँव में शिक्षा-प्रसार के लिए तरह-तरह के प्रयत्न कर रही है। प्राइमरी स्कूल, मिडिल स्कूलों के अतिरिक्त दोपहर और रात्रि की पाठशालायें वयस्कों के लिए खोली

जा रही हैं। सिनेमा फिल्मों और रेडियो से नागरिक-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है। शराब, जूआ, मुकदमेबाज़ी, बाल-विवाह तथा अन्य कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार किया जाता है। खेती में सुधार के लिए आवश्यक निर्देश दिये जा रहे हैं। सामुदायिक योजना में शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। महिलाओं में शिक्षा और साक्षरता-प्रसार के लिए विशेष रूप से महिला कार्यकर्त्रियाँ नियुक्त की गयी हैं। मद्य-निषेध का आन्दोलन भी आदि जातियों में किया जा रहा है। कस्तूरबा निधि, गांधी स्मारक निधि आदि जन-संस्थाओं का सहयोग भी उल्लेखनीय है। यों भी ग्रामोद्योगों के प्रसार के साथ-साथ ग्रामों में शिक्षा की आवश्यकता और रुचि बढ़ती जा रही है। ग्रामवासी अपने महत्त्व को समझ रहे हैं और देश के निर्माण में अधिकतम भाग लेने को कटिबद्ध हो रहे हैं।

नयी सूचना

जहाँ ग्रामोत्थान और राष्ट्र-निर्माण की दिशा में यह सब प्रयत्न प्रशंसनीय हैं, वहाँ एक नयी समस्या भयंकर रूप से खड़ी हो रही है। वह यह है कि उठता हुआ स्वाभिमान, जात-पाँत और वर्ग की क्षुद्र सीमाओं से बाहर नहीं जा रहा। वर्ग और जाति की चेतना राष्ट्रीय चेतना पर हावी हो रही है। पंचायतों के चुनावों में दलित जातियों में उच्च वर्गों के प्रति प्रतिशोध की भावना प्रकट हो रही है। महान् दलित नेता डा० अम्बेडकर की शिक्षाओं का दुष्परिणाम सामने आ रहा है। दलित अपने को पृथक् वर्ग समझकर उच्च वर्णों के विरोध में अपने को संगठित कर रहे हैं। दक्षिण भारत में तो एक बहुत व्यापक संगठन आर्य संस्कृति के विरुद्ध बल पकड़ रहा है। उच्च वर्ण के हिन्दुओं में भी जात-पाँत की क्षुद्र भावना ज़ोर पकड़ रही है। सच्ची नागरिकता, जन-सेवा या सिद्धान्तों के नाम पर चुनावों में वोट न माँगकर, अग्रवाल, बनिया, ब्राह्मण, जाट और अहीर आदि के नाम पर वोट माँगे जाते हैं। प्रान्तीय और भाषागत भावनाएँ भी राष्ट्रीयता का विकास नहीं होने दे रहीं। इसलिए राष्ट्र-सेवकों का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वे जात-पाँत, छुआछूत आदि सामाजिक कुरीतियों को नष्ट करके अखण्ड राष्ट्रीयता का रूप देश के सामने रखें।

राष्ट्र-निर्माण की दिशा में भारत-सेवक समाज और भारत साधु-समाज आदि का संगठन किया गया है। यदि इनके कार्यकर्त्ता सरकारी मशीनरी और पैसे एवं मोटरों, प्रदर्शनों और आत्म-विज्ञापन का मोह छोड़ दें तो निःसंदेह ये

संस्थाएँ राष्ट्र-निर्माण और ग्रामोत्थान में सहायक हो सकती हैं। सरकारी कर्मचारियों को भी अपनी टीपटाप, आडम्बर, समृद्धि और पद के प्रदर्शन छोड़कर गाँवों के उत्थान में लग जाना चाहिये।

: ३९ :

परमाणु युग

यदि बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध विद्युत्-युग था तो उसका उत्तरार्द्ध अणु युग है, मानव-समाज दीर्घ काल से शक्ति का आविष्कार कर रहा है। छोटे-छोटे यंत्र मानव-शक्ति को बढ़ाने के लिए आविष्कृत किये गये। अग्नि का प्रयोग अनादि काल से मनुष्य को मालूम है। इसके द्वारा उसने भोजन पकाने से लेकर शत्रु के विनाश तक की लीलाएँ की है। बड़े-बड़े कल-कारखानों के साथ शक्ति की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती गई है। लकड़ी और पत्थर के कोयले ने अग्नि के ईंधन का काम दिया है, परन्तु रेलगाड़ियों और हजारों कारखानों के नित नये निर्माण ने यह भय पैदा कर दिया कि इस वसुन्धरा के गर्भ में जो करोड़ों अरबों टन कोयला छिपा हुआ है, जिस गति से उसका व्यय हो रहा है उसे देखते हुए वह किसी दिन भी समाप्त हो सकता है। मिट्टी के तेल ने शक्ति का एक अनन्त स्रोत मानव को दिया, पर नित बढ़ते हुए शक्ति के व्यय को देखते हुए वह भंडार अक्षय नहीं रहेगा। इसलिए जब बिजली का आविष्कार हुआ तो लोगों ने ठण्डी साँस ली कि कोयले व तेल की जगह मानव विद्युत् से काम चला लेगा, किन्तु मानव को इस शक्ति से भी सन्तोष नहीं हुआ। वह एक ऐसी शक्ति के आविष्कार में लग गया, जो विद्युत् से भी अधिक तीव्र और अनन्त शक्ति प्रकट करे।

शक्ति का बढ़ता हुआ प्रयोग

संसार में मानव सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ शक्ति का प्रयोग कल्पनातीत मात्रा में बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिए यदि हम ३३ अरब

टन कोयले से उत्पन्न होने वाली शक्ति को 'क्ष' कहें तो ईसा के बाद साढ़े अट्ठारह शताब्दी तक प्रतिशतक औसतन आधा 'क्ष' शक्ति खर्च हुई, किन्तु १८५० के बाद प्रतिशत खर्च 'क्ष' हो गया और आजकल तो यह १० 'क्ष' प्रति शताब्दी हो गया है। शक्ति के इतने अधिक खर्च के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि संसार की जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। १९०० ई० में जनसंख्या डेढ़ अरब थी। सन् १९५० में २ अरब ३० करोड़ हो गयी और २००० ई० तक साढ़े तीन अरब से भी अधिक हो जाने की सम्भावना है। दूसरा मुख्य कारण यह है कि औद्योगिक विकास के साथ-साथ मानव का जीवन-स्तर बढ़ रहा है और प्रति व्यक्ति शक्ति का प्रयोग कई गुना बढ़ गया है।

अणु शक्ति का आविष्कार

शक्ति के नये स्रोतों का आविष्कार करने के लिए बीसियों वर्षों से जो प्रयत्न हो रहे थे, उन्हीं के परिणामस्वरूप अणुशक्ति का आविष्कार हुआ है। सांख्य दर्शन के आचार्य महर्षि कणाद ने इस सिद्धान्त की घोषणा की थी कि यह सृष्टि कणों से बनी है। ग्रीस और रोम में भी यह विचार अंकुरित हो चुका था, किन्तु वर्तमान अणुवाद का आरम्भ डा० डाल्टन की 'अटामिक-थ्यूरी' से होता है। उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया था कि सभी पदार्थ परमाणु से बने हैं और यह परमाणु टूटता नहीं। किन्तु समय पाकर वैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुँचे कि परमाणु टूट सकता है और परमाणु में भी एक संसार छिपा रहता है। जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर ग्रह घूमते हैं, परमाणुओं के मध्य में भी एक केन्द्र होता है, जिसके चारों ओर ऐलेक्ट्रोन घूमते रहते हैं। इस अणु को यदि किसी तरह खण्डित कर दिया जाय तो एक भयंकर विस्फोट हो सकता है जो अनन्त शक्ति उत्पन्न कर सकता है। यूरेनियम नामक धातु के परमाणुओं को तोड़ने से बहुत अधिक शक्ति का आविर्भाव होता है। एक पौण्ड यूरेनियम से १० हजार पौण्ड कोयले की शक्ति प्राप्त की जा सकती है, यों उसमें १० लाख पौण्ड कोयले तक की शक्ति है।

अणु शक्ति के आविष्कार में शायद अभी और समय लगता, यदि विश्वव्यापी युद्ध प्रारम्भ न हो गया होता। शत्रु के संहार के लिए, जर्मनी के

वैज्ञानिकों ने अणुबम बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता मिलने से पूर्व ही अमेरिका ने प्रमुख जर्मन वैज्ञानिक ओटोहान को गिरफ्तार कर लिया और उसे अमेरिका भेज दिया गया। उससे अणुशक्ति का रहस्य प्राप्त करके अमेरिका ने पहला अणुबम बनाया। संसार के इतिहास में प्रथम बार भीषण प्रलय शक्ति रखने वाले अणुबमों का प्रयोग जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर किया गया। एक बम ने ४०-५० हज़ार नगरनिवासियों को एक क्षण में भस्मसात् कर दिया। जापान की बहादुर जाति को घुटने टेक देने पड़े। युद्ध तो समाप्त हो गया, परन्तु विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों में अणु शक्ति के आविष्कार की तीव्र प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। बड़े-बड़े विशाल समुद्र-खण्डों पर अणुबमों के परीक्षण किए जाने लगे। अमेरिका के बाद रूस ने भी अणुबम का आविष्कार कर लिया। ब्रिटेन भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहा।

उद्जन बम

इसलिए अणुबम से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र का आविष्कार किया जाने लगा और उद्जन बम के रूप में उसका आविष्कार हो गया। यह अणुबम से भी कई गुना शक्तिशाली होता है। मार्च १६५४ में प्रशान्त महासागर के बिकनी द्वीप पर इसका प्रयोग किया गया। इसके भीषण परिणामों से समस्त संसार के वैज्ञानिक चकित हो गये। सैकड़ों मील के क्षेत्र का समस्त वातावरण रेडियो-सक्रिय हो गया। समुद्र के असंख्य जीव-जन्तु मर गए। परीक्षण-केन्द्र से बहुत दूर रहने वाले जापानी मछियारे अवर्णनीय यातना सहकर के मर गये। इस कारण एक ओर विभिन्न सरकारें, परमाणु और अणुबमों की होड़ में एक-दूसरे से आगे बढ़ रही हैं, दूसरी ओर संसार के वैज्ञानिक भारी भय के साथ इन आविष्कारों के कारण मानव-जाति के विनाश को देख रहे हैं। इसलिए सभी वैज्ञानिकों और देश-नेताओं की ओर से यह आवाज उठने लगी है कि इन बमों का न केवल युद्ध में प्रयोग न किया जाय, अपितु इनके परीक्षण भी बन्द कर दिये जाएँ। पंडित जवाहरलाल नेहरू अणु और उद्जन बमों के परीक्षणों को बंद कराने के लिए तीव्र आन्दोलन कर रहे है। इन परीक्षणों मे जो रेडियो-सक्रियता उत्पन्न होती है, वह

अत्यन्त विशाल प्रदेश के प्राणियों और मानवों पर असर डालती है। यह मानव की सन्तानोत्पादन की शक्ति को नष्ट कर देती है, गर्भस्थ की आकृति को विकृत कर देती है और मस्तिष्क रोग तथा पक्षाघात के रोगों को बढ़ा देगी। वह हमारे भोजन की फसलों पर भी अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव डालेगी। इसलिए अणुबमों के परीक्षण सर्वथा बन्द करने का आन्दोलन बढ़ता जा रहा है।

अणु शक्ति के लाभ

किन्तु, हर एक चीज़ के दो पहलू होते हैं। बहुत से वैज्ञानिकों का यह ख्याल है कि अणु शक्ति का आविष्कार मानव-जाति का विनाश नहीं करेगा, परन्तु उससे हम चिकित्सा और कृषि-क्षेत्र में असाधारण उन्नति कर सकेंगे। उनका ख्याल यह है कि रेडियो-सक्रियता आदि के दुष्परिणामों को रोका जा सकता है। त्वचा के अनेक रोगों को इसकी शक्ति से ठीक किया जा सकता है, खेती की फसलों को बढ़ाया जा सकता है और रेलों, जहाज़ों, वायुयानों तथा कारखानों के लिए अनन्त शक्ति प्राप्त की जा सकती है। अनेक लोक-कल्याणकारी कार्यों में इसका प्रयोग प्रारम्भ भी कर दिया गया है। संसार के समुद्रों में बहुत प्रचुर मात्रा में उद्जन का भण्डार विद्यमान है और उससे अपार शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। जिन देशों में कोयले या तेल का अभाव है, वहाँ समुद्रों से प्रचुर मात्रा में ईंधन प्राप्त किया जा सकता है। यदि किसी तरह समुद्री पानी को उद्जन शक्ति में परिणत करने के लिए ऐसे किसी यन्त्र का आविष्कार हो गया, जो इस क्रिया के लिए आवश्यक प्रचण्ड ताप को सहन कर सके, तो मानव-जाति के लिए शक्ति का ऐसा स्रोत हाथ लगेगा, जो कभी समाप्त नहीं हो सकेगा। वस्तुतः प्रकृति का एक नया रहस्य हमारे सामने खुल गया है। यह मानव-जाति के लिए अनन्त कल्याण का साधन हो सकता है और इससे प्राणी मात्र के अस्तित्व का लोप भी सम्भव है। संसार के विचारक इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि अणुशक्ति का यह आविष्कार मानवता के इतिहास के नये युग का सूचक है अथवा मानव-जाति के अनन्त का सूत्रपात।[1]

---

१. 'विश्व विनाश के कगार पर' भी लेख देखिये।

: ४० :

अन्तरिक्ष लोक में मानव की विजय

४ अक्तूबर १९५७ का दिन संसार के वैज्ञानिक इतिहास में बहुत क्रान्तिकारी और महत्त्वपूर्ण गिना जायगा। इस दिन संसार ने अचानक सुना कि रूस के वैज्ञनिकों ने एक उपग्रह छोड़ा है, जो पृथ्वी से ५६० मील ऊपर आकाश में पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। यह उपग्रह वज़न में १८५ पौंड का है। इसका व्यास २५ इंच का है। यह अण्डाकार मार्ग पर १७,००० मील प्रति घण्टे की चाल से पृथ्वी की परिक्रमा करने लगा। इन पंक्तियों के लिखने तक (२१ अक्तूबर प्रात: ८ बजकर ३२ मिनट) यह उपग्रह निरन्तर पृथ्वी की २४३ बार परिक्रमा कर चुका है और आगे भी करता जा रहा है। ९५ मिनट में यह एक बार पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है और इस तरह यह एक दिन में १५ बार पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। उपग्रह के साथ उसे ऊपर ले जाने वाला राकेट भी पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है और २१ अक्तूबर तक वह उपग्रह से ११,२५० मील आगे निकल गया था, और उसकी गति ३९ मिनट तेज़ हो गई थी।

चन्द्रलोक की यात्रा का स्वप्न अनेक वर्षो से वैज्ञानिक ले रहे थे। अन्तरिक्ष लोक में परमात्मा की प्रतिस्पर्द्धा करके ग्रहों की नई सृष्टि का निर्माण करने के प्रयत्न में अब वह सफल भी होने लगे हैं। हमारी पौराणिक कथाओं के अनुसार हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषि विश्वामित्र ने एक नई सृष्टि के निर्माण का प्रयत्न किया था और त्रिशंकु को सदेह द्यु-लोक में भेजने की कोशिश की थी। यह पौराणिक कथाएँ अब सत्य बन रही हैं। गत विश्व-व्यापी युद्ध में शत्रु के संहार के लिये राकेट नामक अस्त्र बनाये गये थे, जो बहुत दूर और बहुत ऊँचाई तक अत्यन्त तीव्र गति से चलते थे।

भू-भौतिक वर्ष

युद्ध समाप्ति के बाद वैज्ञानिक इस आविष्कार का लाभ उठाने के लिए तत्पर हो उठे और अन्तरिक्ष की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए संसार के वज्ञानिकों ने १८ महीनों का एक भू-भौतिक विज्ञान वर्ष मनाने का निश्चय किया। यह वर्ष जुलाई १९५७ से शुरू हो गया। एक योजना बनाई गई, जिसमें पृथ्वी तल से कृत्रिम चाँदों को आकाश में भेजने का भी निश्चय किया गया। रूस और अमेरिका दोनों इस दिशा में प्रयत्न कर रहे थे; किन्तु रूस ने अचानक ही ४ अक्तूबर को राकेट के द्वारा एक उपग्रह आकाश में छोड़कर अन्तरिक्ष यात्रा के प्रारम्भ का श्रेय प्राप्त कर लिया। इस उपग्रह या बालचन्द्र को एक बहुत तीव्रगामी राकेट के द्वारा छोड़ा गया है। इस राकेट ने पृथ्वी से ५६० मील ऊपर जाकर उपग्रह को छोड़ दिया।

उपग्रह या बालचन्द्र

इस उपग्रह या अन्तरिक्ष यात्रा के अग्रदूत बालचन्द्र को अलूमीनीयम धातु के मिश्रण से बनाया गया है। यह आकार में गोल है। इसके बीचो-बीच ऊपर से नीचे की ओर एक नली गई है, जिसके ऊपरी भाग में गामा किरण मापक यन्त्र रखा है। उसके नीचे ही इलेक्ट्रोनों का हिसाब करने वाला यन्त्र है। बायीं तरफ ट्रांसमीटर तथा रैडार-संकेतक-यन्त्र एक आयताकार बक्से में पड़े है। निचले हिस्से में बैटरी है। मध्य में बाहर वाले खोल के अन्दर रेकर्ड करने के साधन जुटाए गये हैं। घूमता हुआ रेकर्ड करने वाला ढोल भी वहीं है। मोटर और गियरवाला बक्स भी केन्द्र में ही है। बीच वाली नली के निचले हिस्से में कास्मिक (ब्रह्माण्ड) किरणों तथा अरोरा (ध्रुवीय प्रकाश) को नापने के उपकरण है। यह बालचन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता हुआ अन्तरिक्ष लोक के वातावरण, वायु और सूर्य किरणों के सम्बन्ध में काफी जानकारी प्राप्त कर रहा है। इस उपग्रह या बालचन्द्र से जो रेडियो-तसवीरें प्राप्त हुई, उन्हें चार सौ गुना बड़ा करके काफी सूचना प्राप्त की जा सकेगी। इन पंक्तियों के लिखने तक भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों ने इस बात पर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं कि इसकी आयु कितनी है। कोई कुछ सप्ताह इसका जीवन-काल

मानता है, तो कोई १५-२० वर्ष तक। इस उपग्रह के ऊपर दो रेडियो ट्रांसमीटर हैं, जिनकी आवाज दुनिया भर में रेडियो पर सुनी जा रही है।

चन्द्रलोक की यात्रा

रूसी वैज्ञानिकों ने यह प्रथम परीक्षण किया है। वास्तविक उपग्रह इससे बड़े रहेंगे और एक के बाद एक करके १२० कृत्रिम चाँद आकाश में छोड़े जायेंगे। रूस का वास्तविक ध्येय चन्द्र तक पहुँचना है। रूस के वैज्ञानिकों का ख्याल है कि १९६० और ६५ के बीच में चाँद पर और १९६५-६६ तक मंगल और शुक्र पर चढ़ाई की जा सकेगी। एक वैज्ञानिक ने बताया है कि चाँद तक पहुँचने की सारी टैक्नीकल समस्याएँ हल हो गयी हैं। समय आ गया है, जब हम सब लोग चाँद को अपने टैलीविज़न के परदे पर देख सकेंगे। वैज्ञानिक ऐसे विशेष खोल बना रहे हैं, जिनके अन्दर मनुष्य, जीवित रहकर चाँद तक पहुँच सकेगा। हम चाँद के ऊपर शहर के शहर बसते हुए देख सकेंगे, जिसमें मनुष्य जीवित रह सकेगा और संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या का शायद समाधान किया जा सके। चाँद पर पहले ऐसे राकेट गिराये जायेंगे, जो रेडियो, टैलीविज़न और भू-नियंत्रण राकेटों से चाँद की ज़मीन और वायुमण्डल का परिचय देंगे। इसके बाद अन्तरिक्षी जहाज़ छोड़ा जायगा जो अभी छोड़े गये उपग्रह की तरह आसमान में लटक जायगा और पृथ्वी का चक्कर काटेगा। इसके बाद रेडियो से चालित राकेट उस पर फेंका जायगा जो उस जहाज़ को नया ईंधन देकर उसे आगे बढ़ायगा और चाँद तक ले जायगा। चाँद पर पहुँचकर यह जहाज़ खुल जायगा और उसके अन्दर से एक प्रयोगशाला निकल आयगी। यह प्रयोगशाला चाँद पर दौड़ेगी और चाँद का सारा विवरण पृथ्वी को भेजेगी। इस प्रकार भविष्य में मनुष्य की यात्रा का मार्ग साफ हो जायगा।

तीव्रगामी राकेट

वैज्ञानिकों के यह साहस और प्रतिभापूर्ण परीक्षण संसार की सभ्यता में क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात कर रहे हैं। अभी रूस ने इस दिशा में पहल की है, किन्तु अमेरिका भी इस दिशा में असाधारण प्रगति कर रहा है। अमेरिका की ओर से १२ या अधिक उपग्रह छोड़ने की योजना है। उच्च आकाश

मण्डल के दबाव, तापमान तथा घनता के मापने के लिए अलग अलग किस्म के सैकड़ों राकेट सूर्य के सम्पू ँ रंग-बिरंगे प्रकाश के चित्र लेंगे और अल्ट्रा वायलेट किरणों के बारे में काफी जानकारी देंगे। राकेटों की सहायता से भूमि के ऊपर ५० से २५० मील की दूरी तक फैले हुए अयनमण्डलों की भी जानकारी प्राप्त की जायगी। अयनमण्डल एक विद्युतयुक्त परत है और समुद्र पार तथा दूर-वर्ती स्थानों को रेडियो समाचार भेजने की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। पृथ्वी से भेजी गयी तरंगें अयन मण्डल द्वारा पुनः पृथ्वी पर भेज दी जाती हैं। इसके बाद वे फिर अयनमण्डल में जाती हैं और फिर भूमि की ओर लौटती हैं। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने तक यह क्रम जारी रहता है। राकेटों की सहायता के बिना प्रकाश-धाराओं, अयनमण्डल, भूमि की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के क्षेत्र में घटा-बढ़ी, बहुत अधिक ऊँचाई पर वायु की सामान्य गति तथा सब प्रकार की शक्तियों के स्रोत और केन्द्र, सूर्य का भूमि से क्या सम्बन्ध है, इस दिशा में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। अमेरिका के वैज्ञानिक यह अनुभव करते हैं कि कृत्रिम उपग्रह १०-१२ सेर से भारी यंत्र नहीं ले जा सकता, जबकि राकेट सवा-डेढ़ मन तक यंत्र ले जा सकता है। इसलिए वे उपग्रहों की अपेक्षा ज्ञान-वर्द्धन के लिए राकेटों पर अधिक निर्भर करते हैं।

वैज्ञानिकों की यह दौड़ विश्व को कहाँ ले जायगी, यह कहना अति कठिन है। ब्रह्माण्ड के विशाल क्षेत्र में जहाँ अभी तक विश्व-स्रष्टा भगवान् का एक मात्र अधिकार है, मानव का यह हस्तक्षेप और नयी सृष्टि निर्माण करने की यह प्रतिस्पर्द्धा अन्त में विश्व के लिए मंगलकारी होगी या अमंगलकारी इस विवादास्पद प्रश्न में न जाते हुए भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि मानव भगवान् के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में खड़ा हो गया है।[1]

---

१. पुस्तक के छपते-छपते तक रूस ने करीब आधे टन का एक दूसरा बड़ा उपग्रह भी छोड़ दिया है। उसमें जीवित कुत्ता भी है, जिसे कुछ समय बाद जीवित दशा में नीचे लाने की भी व्यवस्था की गई है। वह पृथ्वी-तल से ९३० मील ऊँचा उड़ रहा है। इसमें लगे अनेक नये यंत्र नई से नई सूचनाएँ संकेतों द्वारा दे रहे हैं।—लेखक

: ४१ :

राज भाषा आयोग

भारतीय संविधान में यह निश्चित किया गया है कि देश की राजभाषा हिन्दी होगी। संविधान के बनाते समय यह भी तय किया गया था कि राष्ट्रपति समय-समय पर हिन्दी की प्रयोग सम्बन्धी प्रगति की जाँच के लिए आयोग नियत किया करेंगे, जो यह बतायेगा कि देश के शासन में हिन्दी के प्रयोग को किस तरह बढ़ाया जाय। इसलिए राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने श्री बाल-गंगाधर खेर के नेतृत्व में एक राज भाषा आयोग नियत किया था। इसने गत ३१ जुलाई सन् १९५६ को अपनी महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित करदी।

हिन्दी के भविष्य और देश में हिन्दी के प्रचार और सार्वजनिक तथा प्रशासनिक जीवन में हिन्दी के बढ़ते हुए प्रयोग के सम्बन्ध में इस आयोग की सिफारिशें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अभी सरकार ने इस आयोग की सिफारिशों पर अपना अभिमत प्रकट नहीं किया है। सम्भव है, कुछ परिवर्तन इनमें कर दिया जाय, किन्तु इन सिफारिशों का हिन्दी के प्रसार में असाधारण महत्त्व रहेगा। इसलिए इनमें से कुछ मुख्य सिफारिशें नीचे दी जा रही है—

यह कहना आवश्यक नहीं है और न सम्भव है कि १९६५ तक हिन्दी सामान्यतया अंग्रेजी का स्थान ले लेगी। यह उन प्रयत्नों पर निर्भर होगा, जो इस बीच में इसके लिये किये जाएँगे। परन्तु यह स्पष्ट है कि संविधान में जिस प्रकार के लोकतन्त्रीय विधान की कल्पना की गयी है, उसको देखते हुए अंग्रेजी भारतीय जनता की आम भाषा नही हो सकती। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की योजनाएँ भारतीय भाषाओं में ही बनाई जा सकती है।

स्पष्ट रूप से अखिल भारतीय कार्यों के लिए भाषा-माध्यम हिन्दी ही है।

संविधान में यह संघ की भाषा और अन्तर्राज्यीय संचार की भाषा इसलिए मानी गयी है कि इसे अधिक आदमी बोलते और समझते हैं।

आयोग ने इस बात का समर्थन किया है कि संघ की भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाएँ भी देवनागरी लिपि में स्वेच्छा से लिखी जाएँ। इनसे सब भाषाएँ एक दूसरे के सम्पर्क में आ सकेंगी। आयोग ने यह सिफ़ारिश की है कि इस समय संघ के किसी प्रयोजन के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध न लगाया जाए। प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी का प्रयोग आरम्भ करने के लिए संघ सरकार ऐसे विभागों को, जिनका कार्य सारे देश में फैला होता है जैसे—रेलें, डाक-तार, उत्पादन-शुल्क, सीमा-शुल्क, आयकर विभाग आदि, स्थायी रूप से दो भाषाओं का सहारा लेना पड़ेगा। ये विभाग अपने आन्तरिक कार्यों के लिए हिन्दी का प्रयोग करेंगे और विभिन्न क्षेत्रों में सार्वजनिक कार्यों के लिए वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग करेंगे।

संक्रान्तिकाल में विभिन्न क्षेत्रों में नौकरी के अवसर कम न हो जाएँ, इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि आरम्भ में हिन्दी के ज्ञान पर अधिक जोर न दिया जाए और इस कमी को भरती के बाद नौकरी करते समय प्रशिक्षण देकर पूरा किया जाए।

आयोग का कहना है कि संघ सरकार सेवाओं में नये उम्मीदवारों की भरती के लिए हिन्दी के ज्ञान की एक उचित सीमा निर्धारित कर सकती है, बशर्ते कि वह एक काफी लम्बी सूचना दे और भाषा सम्बन्धी योग्यता का स्तर नीचा ही रखे।

आयोग ने सिफारिश की है कि यदि कोई हिन्दी-भाषी राज्य यह प्रार्थना करे कि अंग्रेजी के मूल के साथ हिन्दी अनुवाद भी हो, तो संघ सरकार को चाहिए कि वह यह व्यवस्था करे कि वह उस राज्य के साथ जो भी पत्र-व्यवहार करे, उसके साथ हिन्दी अनुवाद भी भेजे।

अदालत की भाषा

जब भाषा-परिवर्तन होगा, तब उच्चतम न्यायालय को अपनी कार्रवाई सिर्फ हिन्दी भाषा में करनी होगी। उच्चतम न्यायालय के फ़ैसलों का अधिकृत पाठ भी हिन्दी में ही प्रकाशित होगा।

नीचे की अदालतों यानी पंचायतों की अदालतों तथा तहसीलों की दीवानी और फौजदारी अदालतों की कार्रवाई निश्चय ही राज्यों की प्रादेशिक भाषाओं में होनी चाहिए।

जब उच्चतम न्यायालय का क्रम हिन्दी में और नीचे की अदालतों का काम प्रादेशिक भाषाओं में होगा, तो कोई ऐसा स्थल अवश्य होना चाहिए, जहाँ विभिन्न भाषाओं के कार्य को समन्वित किया जाय। यह कार्य उच्च न्यायालय के स्तर पर होना चाहिए और वहाँ, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं, दोनों का काम सँभालने की व्यवस्था होनी चाहिए। फिर भी, जब भाषा परिवर्तन होगा, तब उच्च न्यायालयों के फैसले, डिग्रियाँ और आदेश देश भर के लिए एक ही भाषा में होने चाहिएँ।

आयोग यह जरूरी समझता है कि परिवर्तन के समय देश के सभी कानून हिन्दी में होने चाहिएँ। इसलिए, राज्यों और संसदों द्वारा बनाये जाने वाले कानूनों की भाषा तथा किसी कानून के अन्तर्गत निकाले गए आदेशों, नियमों आदि की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। आयोग का मत है कि, जनता की सुविधा के लिए, इन कानूनों का विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में भी अनुवाद होना चाहिए।

भविष्य में माध्यमिक स्कूलों में अंग्रेजी को मुख्यतः 'बोलचाल की भाषा' के रूप में पढ़ना चाहिए, न कि 'साहित्यिक भाषा' के रूप में, बशर्ते कि विद्यार्थी ने स्वेच्छा से अंग्रेजी को 'साहित्यिक भाषा' के रूप में पढ़ने की इच्छा व्यक्त न की हो।

प्रतिवेदन में यह सुझाव दिया गया है कि हिन्दी पढ़ाना प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होने पर शुरू करके दसवीं कक्षा तक चालू रखना चाहिए। देश भर के अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य रूप से हिन्दी में होनी चाहिए। हाँ, यह निर्णय राज्य सरकारों पर छोड़ देना चाहिए कि हिन्दी को कब से अनिवार्य बनाया जाय।

आयोग ने यह सुझाव स्वीकार नहीं किया है कि हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के माध्यमिक स्कूलों के छात्रों को हिन्दी के अलावा और कोई भारतीय भाषा या

: ४५ :

काश्मीर की उलझन

काश्मीर का प्रश्न अब तक उसी तरह उलझा हुआ है। सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्र संघ में इस प्रश्न पर गुणावगुण की दृष्टि से विचार नहीं किया जा रहा। अमेरिका व ब्रिटेन पाकिस्तान का समर्थन कर रहे हैं। काश्मीर पर किसने आक्रमण किया, इस सीधे-सादे प्रश्न का उत्तर न देकर वे भारत व पाकिस्तान को एक समान भूमि पर ला रहे हैं। सं० रा० संघ द्वारा भेजे गये प्रतिनिधि श्री जारिंग ने यह स्वीकार कर लिया था कि अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सहायता देने से परिस्थिति कुछ बदल अवश्य गई है। अक्टूबर-नवम्बर १९५७ में सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के प्रश्न पर विचार हुआ है। भारत की स्पष्ट सम्मति है कि अब वहाँ जनमत लेने की स्थिति व आवश्यकता नहीं रही। जब तक पाकिस्तान अधिकृत काश्मीर से अपनी सेनायें नहीं हटा लेता, तब तक तो जनमत का प्रश्न ही नहीं उठता, फिर काश्मीर की जनता ने आम चुनाव में भारत में विलय का समर्थन कर दिया है। पाकिस्तान की इच्छा यह है कि काश्मीर में विसैन्यीकरण के नाम पर भारत भी अपनी सेनायें हटा ले और सं० रा० संघ अपनी सेनायें भेज दे। भारत इसे अपनी प्रभुत्त्व शक्ति पर आघात समझता है। अब एक सुझाव यह है कि सं० रा० संघ की ओर से श्री ग्राहम फिर भेजे जावें, जो दोनों देशों से समझौते व सेनायें कम करने की बात करें। अभी (७ नवम्बर ५७) तक इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निश्चय नहीं हो सका।